शील की नव बाड़

[श्रीमद्आचार्य भीखणजी प्रणीत]

अनुवादक और विवेचक

श्रीचन्द रामपुरिया, एडवोकेट

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में प्रकाशित

विषय-सूची

दो शब्द

पाठकों के समक्ष भिक्षु-ग्रन्थमाला का तीसरा ग्रन्थ 'शील की नव बाड़' के रूप में उपस्थित है। स्वामीजी की इस कृति के कई संस्करण निकल चुके हैं। पर उसका सानुवाद और सटिप्पण हिन्दी अनुवादयुक्त संस्करण यह प्रथम ही है। साधु और गृहस्थ दोनों के लिए ही ब्रह्मचर्य अत्यन्त महत्व का विषय है। भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य में स्थिरता और समाधि प्राप्त करने के लिए जिन नियमों की प्ररूपणा की उन्हीं की विशद चर्चा प्रस्तुत कृति में है। मूल कृति मारवाड़ी भाषा में है। यह संस्करण उसका हिन्दी अनुवाद सामने रखता है।

ब्रह्मचर्य जैसे महत्वपूर्ण विषय पर गंभीर और विशद विवेचन करनेवाले दो महापुरुष सन्त टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी के विचारों को भूमिका में विस्तार से दिया गया है और जैन दृष्टि के साथ उनकी यथास्थान तुलना की गई है।

यहाँ प्रसंगवश महासभा के इस विषयक दो अन्य प्रकाशनों की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पाठक उन पुस्तकों को भी प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ पढ़ेंगे तो विषय की गंभीर जानकारी हो सकेगी। इन प्रकाशनों के नाम हैं—(१) ब्रह्मचर्य (महात्मा गांधी के ब्रह्मचर्य विषयक विचारों का दोहन) और (२) ब्रह्मचर्य (आगमों पर से ब्रह्मचर्य विषयक विचारों का संकलन)।

आशा है महासभा का यह प्रकाशन पाठकों के लिए अत्यन्त लाभप्रद होगा।

जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा
३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता १
२८ दिसम्बर, १९६१

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक,
साहित्य-विभाग

भूमिका

भूमिका की विषय सूची

भूमिका

१-ब्रह्मचर्य की परिभाषा

'शील की नव बाड़' में प्रयुक्त 'शील' का अर्थ ब्रह्मचर्य है और 'बाड़' का अर्थ है ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय अथवा ब्रह्मचारी के रहन-सहन की मर्यादाएं और शिष्टाचार।

श्री मङ्गलदेव शास्त्री के अनुसार सृष्टि के समस्त पदार्थों का जो अव्यय, कूटस्थ, शाश्वत, दिव्य मूलकारण है वह 'ब्रह्म' है अथवा ज्ञानरूप वेद 'ब्रह्म' है। ऐसे 'ब्रह्म' की प्राप्ति के उद्देश्य से व्रत-ग्रहण करना ब्रह्मचर्य है[1]।

श्री विनोबा कहते हैं: "ब्रह्मचर्य शब्द का मतलब है, ब्रह्म की खोजमें अपना जीवन-क्रम रखना, सबसे विशाल ध्येय परमेश्वर का साक्षात्कार करना। उससे नीचे की बात नहीं कही है[2]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं: "ब्रह्मचर्य के मूल अर्थ को सब याद रखें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की—सत्य की शोध में चर्या, अर्थात् तत्-सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थ में से सर्वेन्द्रियसंयमरूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेन्द्रियसंयम रूपी अधूरे अर्थ को तो हमें भूल ही जाना चाहिए[3]। उन्होंने अन्यत्र कहा है: 'ब्रह्मचर्य क्या है? यह जीवन की ऐसी चर्या है जो हमें ब्रह्म—ईश्वर तक पहुँचाती है। इसमें जनन क्रिया पर सम्पूर्ण संयम का समावेश हो जाता है। यह संयम मन, वचन और कर्म से होना चाहिए[4]।"

उपर्युक्त तीनों ही विचारकों ने 'ब्रह्मचर्य' शब्द के अर्थ में सुन्दरता लाने की चेष्टा की है और उसे बड़ा व्यापक विशाल रूप दिया है। पर ऐसा अर्थ वेदों में उपलब्ध ब्रह्मचारी अथवा ब्रह्मचर्य शब्द का नहीं मिलता। सायण ने ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—'ब्रह्मचारी ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुं शीलम् यस्य सः[5]' —वेदात्मक ब्रह्म का अध्ययन करना जिसका आचरण—शील है उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। ब्रह्मचर्य की परिभाषा इस रूप में मिलती है—'वेद को ब्रह्म कहते हैं। वेदाध्ययन के लिए आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है[6]।' यहाँ कर्म का अर्थ है समिधादान, भिक्षाचर्या और ऊर्ध्वरेतस्त्व आदि। इस शब्द में उपस्थ-संयम, इन्द्रिय-संयम का समावेश भले ही किया जा सके पर वेद प्रयुक्त ब्रह्मचर्य शब्द की जो प्राचीन परिभाषा है वह ऐसा अर्थ नहीं देती, यह स्पष्ट है। महर्षि पतञ्जलि ने ब्रह्मचर्य का अर्थ 'वस्ति निरोध' किया है।

अब हम जैन आगमों में वर्णित 'ब्रह्मचर्य' शब्द की व्याख्या पर आवें।

सूत्रकृताङ्ग में कहा है: 'ब्रह्मचर्य को ग्रहण कर मुमुक्षु पदार्थ शाश्वत ही है, अशाश्वत ही है, लोक नहीं है, अलोक नहीं है, जीव नहीं है, अजीव नहीं है आदि-आदि दृष्टियाँ न रखे[7]।' यहाँ 'ब्रह्मचर्य' शब्द की व्याख्या करते हुए श्री शीलाङ्क लिखते हैं—"जिसमें सत्य, तप, भूत-दया

१—भारतीय संस्कृति का विकास (प्र० ख०) पृ० २२८ :

सर्वेषामपि भूतानां परकारणमव्ययम्।
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं ब्रह्मो वा ज्ञानमेव वा ॥
तत्प्राप्त्यर्थं ब्रह्म महागम्यन्त कथ्यते।
तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते ॥

२—कार्यकर्ता-वर्ग : ब्रह्मचर्य पृ० ११-१२

३—मंगल प्रभात पृ० ११-१०

४—Self Restraint V. Self-Indulgence p. 165 से अनूदित

५—अथर्ववेद ११.५.१ सायण

६—अथर्ववेद ११.५.१० सायण

७—सूत्रकृताङ्ग २.५:१-११

और कृत-कारित-अनुमति रूप से विरति ब्रह्मचर्य है[1] ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महात्मा गांधी संत विनोबा आदि आधुनिक विचारकों का चिन्तन प्राचीन जैन चिन्तन से भिन्न नहीं है। वैदिक धारा के अनुसार ईश्वर ब्रह्म है और जैन विचारधारा के अनुसार मोक्ष ब्रह्म है। इतना ही अन्तर है। तुलना से स्पष्ट होगा कि आगमों में उपलब्ध ब्रह्मचर्य शब्द की व्याख्या अधिक स्पष्ट, सूक्ष्म और व्यापक है।

बौद्ध पिटकों में ब्रह्मचर्य शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यह नीचे के विवेचन से स्पष्ट होगा—

१—पापी मार बुद्ध से बोला—"भन्ते! भगवान् अब परिनिर्वाण को प्राप्त हों। यह परिनिर्वाण का काल है।" तब बुद्ध ने उत्तर दिया—"पापी! मैं तब तक परिनिर्वाण को नहीं प्राप्त होऊँगा जब तक कि यह ब्रह्मचर्य ऋद्ध विस्तारित बहुजनगृहीत विशाल देवताओं और मनुष्यों तक सुप्रकाशित न हो जावेगा। यहाँ स्पष्टतः 'ब्रह्मचर्य' शब्द का अर्थ बुद्ध प्रतिपादित धर्म-मार्ग है[2]। इस अर्थ में 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग बौद्ध त्रिपिटकों में अनेक स्थलों पर मिलता है। वहाँ ब्रह्मचर्य-वास का अर्थ है बौद्धधर्म में वास[3]।

२—भगवान का धर्म स्वाख्यात है। वह स्वाख्यात क्यों है? अर्थ व्यञ्जन सहित सर्वांश में परिपूर्ण ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करने से स्वाख्यात है। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ है वह चर्या जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो।

३—ब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन-विरमण।

ब्रह्मचर्य शब्द के ये अर्थ जैनागम में प्राप्त अर्थों जैसे ही हैं।

२-जीवन में ब्रह्मचर्य के दोनों अर्थों की व्याप्ति

ब्रह्मचर्य के उपर्युक्त दोनों अर्थों की व्याप्ति जीवन में इस प्रकार होती है। जब मनुष्य जीव अजीव पुण्य पाप आस्रव संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—इन पदार्थों के स्वरूप को जान लेता है तब देव और मनुष्यों के कामभोगों को नश्वर जानने लगता है। वह सोचने लगता है—"काम भोग दुःखावह हैं। उनका फल बड़ा कटु होता है। वे विष के समान हैं। शरीर फेन के बुदबुद की तरह क्षणभंगुर है। इसे पहले या पीछे अवश्य छोड़ना पड़ता है। जरा और मरणरूपी अग्नि से जलते हुए संसार में मैं अपनी आत्मा का उद्धार करूँगा।" इस तरह वह विरक्त हो जाता है। जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से इस प्रकार विरक्त होता है तब वह अन्दर और बाहर के अनेकविध ममत्व को उसी प्रकार छोड़ देता है जिस तरह महा नाग केंचुली को। जैसे कपड़े में लगी हुई रेणु—रज को झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार वह द्रव्य, वित्त मित्र पुत्र स्त्री और सम्बन्धीजनों के मोह को छिटका कर निस्पृह हो जाता है। जब मनुष्य निस्पृह होता है, तब मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है। जब मनुष्य मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है, तब वह उत्कृष्ट संयम और अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है[5]।

इस श्रामण्य का ग्रहण ही उपर्युक्त प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के प्रथम व्यापक अर्थ को ध्यान में रख कर ही कहा गया है—जो ऐसे श्रामण्य (ब्रह्मचर्यवास) को ग्रहण करता है उसे सहस्रों गुण धारण करने पड़ते हैं, इसमें जीवन-पर्यन्त विश्राम नहीं। यह लोह-भार की

१—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० २८ की टीका :

विषयात्कामसङ्गत्याग् त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम्।
औदारिकादपि तथा तद् ब्रह्माष्टादशविकल्पम्॥

२—दीघ-निकाय : महापरिनिब्बाण सुत्त पृ० १३१

३—वही : पोट्ठपाद पृ० ७५

४—विशुद्धि मार्ग (पहला भाग) पृ० १६५

५—(क) दशवैकालिक ४ : १४-१९

(ख) उत्तराध्ययन १९ : ११ १२ १४ १५ ८७-८९

मैथुन शब्द की व्याख्या इस प्रकार है स्त्री और पुरुष का युगल मिथुन कहलाता है। मिथुन के भाव विशेष अथवा कर्म-विशेष को मैथुन कहते हैं। मैथुन ही अब्रह्म है[१]।

आचार्य पूज्यपाद ने विस्तार करते हुए लिखा है—मोह के उदय होने पर राग-परिणाम से स्त्री और पुरुष में जो परस्पर संस्पर्श की इच्छा होती है वह मिथुन है। और उसका कार्य अर्थात् संभोग-क्रिया मैथुन है। दोनों के पारस्परिक सर्व भाव अथवा सर्व कर्म मैथुन नहीं राग-परिणाम के निमित्त से होनेवाली चेष्टा मैथुन है[२]।

श्री अकलङ्कदेव एक विशेष बात कहते हैं—हस्त पाद, पुद्गल संघट्टनादि से एक व्यक्ति का अब्रह्म सेवन भी मैथुन है। क्योंकि यहाँ एक व्यक्ति ही मोहोदय से प्रकट हुए कामरूपी पिशाच के संपर्क से दो हो जाता है और दो के कर्म को मैथुन कहने में कोई बाधा नहीं[३]। उन्होंने यह भी कहा—इसी तरह पुरुष-पुरुष या स्त्री-स्त्री के बीच राग भाव से अनिष्ट चेष्टा भी अब्रह्म है[४]।

उपर्युक्त विवेचन के साथ पाक्षिक सूत्र के विवेचन[५] को जोड़ने से उपस्थ-संयम रूप ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है मन-वचन-काय से तथा कृत-कारित-अनुमति रूप से दैविक मानुषिक तिर्यञ्च सम्बन्धी सर्व प्रकार के वैषयिक भाव और कर्मों से विरति। द्रव्य की अपेक्षा सजीव अथवा निर्जीव किसी भी वस्तु से मैथुन-सेवन नहीं करना क्षेत्र की दृष्टि से ऊर्ध्व अधो अथवा तिर्यग् लोक में कहीं भी मैथुन-सेवन नहीं करना काल की अपेक्षा दिन या रात में किसी भी समय मैथुन-सेवन नहीं करना और भाव की अपेक्षा राग या द्वेष किसी भी भावना से मैथुन का सेवन नहीं करना ब्रह्मचर्य है[५]।

महात्मा गांधी ने लिखा है—"मन वाणी और काया से सम्पूर्ण इन्द्रियों का सदा सब विषयों में संयम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ शारीरिक संयम मात्र नहीं है बल्कि उसका अर्थ है—सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार और मन-वचन कर्म से काम-वासना का त्याग। इस रूप में वह आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-प्राप्ति का सीधा और सच्चा मार्ग है[१]।"

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सर्वेन्द्रिय संयम की आवश्यकता को जैनधर्म में भी सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। वहाँ मन वचन और काय से ही नहीं पर कृत-कारित-अनुमोदन से भी काम-वासना के त्याग को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए परमावश्यक बतलाया है। स्वामीजी सर्वेन्द्रियजय—विषय-जय को एक परकोट की उपमा देते हुए कहते हैं—

शब्द रूप गन्ध रस फरस भला भूंडा हलका भारी सरस।
यां सूं राग धेष करणो नांही सीस एहवा कोट मांही॥

१—तत्त्वार्थसूत्र ७ ११ और भाष्य
मैथुनमब्रह्म
स्त्रीपुंसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुनं तदब्रह्म

२—तत्त्वार्थसूत्र ७ १६ सर्वार्थसिद्धि
स्त्रीपुंसयोश्च चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा मिथुनम्। मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते। न सर्वं कर्म। स्त्रीपुंसयो रागपरिणामनिमित्तं चेष्टितं मैथुनमिति

३—तत्त्वार्थवार्तिक ७ १६ ८ :
एकस्य द्वितीयोपपत्तौ मैथुनत्वसिद्धेः—एकस्यापि पिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वं तथैकस्य चारित्रमोहोदयाविष्कृतकामपिशाच वशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वसिद्धेः मैथुनव्यवहारसिद्धिः

४—तत्त्वार्थवार्तिक ७ १६.९

५—पाक्षिकसूत्र
से मेहुणे चउव्विहे पन्नत्ते तंजहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं मेहुणे रूवेसु वा रूवसहगएसु वा। खित्तओ णं मेहुणे उड्ढलोए वा अहोलोए वा तिरियलोए वा। कालओ णं मेहुणे दिया वा राओ वा। भावओ णं मेहुणे रागेण वा दोसेण वा

६—ब्रह्मचर्य (गां) पृ १

इस चर्चा के बाद केशी श्रमण ने भावभक्ति सहित पाँचयाम रूप धर्म को ग्रहण किया[1]।

उपर्युक्त वार्तालाप के फलित इस प्रकार हैं

१—भगवान महावीर ने जो पाँचयाम का उपदेश दिया यह कोई नई बात नहीं थी। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव भी पाँचयाम का उपदेश करते थे।

२—पार्श्वनाथ के मुनि ऋजुप्राज्ञ थे अतः मैथुन विरमण याम को बहिर्द्धादान (परिग्रह) के अन्तर्गत मानने में उनको कठिनाई नहीं होती और चारयाम के धारक होने पर भी मैथुन विरमण को बहिर्द्धादान विरमण के अन्तर्गत मान व्यवहारतः पाँचों का पालन करते थे।

३—प्रथम तीर्थङ्कर के मुनि कठिनता से समझते अतः उनके सुखावबोध के लिए सर्व मैथुन विरमण का एक अलग याम के रूप में उपदेश किया गया। चरम तीर्थङ्कर के मुनियों के लिए पालन करना कठिन था। अतः ब्रह्मचर्य के पालन पर सम्यक् जोर देने के लिए महावीर ने सर्व मैथुन विरमण महाव्रत को पुनः पृथक् कर पाँचयाम का उपदेश दिया।

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि 'सर्व मैथुन विरमण महाव्रत' अर्थात् 'ब्रह्मचर्य महाव्रत' जैन परम्परा में एक सनातन धर्म के रूपमें स्वीकृत रहा—कभी पृथक् महाव्रत के रूप में और कभी बहिर्द्धादान विरमण महाव्रत के अन्तर्गत व्यवहार धर्म के रूप में।

इस बात को ध्यान में रख कर ही कहा गया है—"ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है। यह जिन-देशित है। पूर्व में इस धर्म के पालन से अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, अभी होते हैं और आगे भी होंगे[2]।"

४-आश्रम व्यवस्था और ब्रह्मचर्य का स्थान

मनुस्मृति के अनुसार सारे धर्म का मूल वेद है—"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (२ ६)। उसमें ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास—इन चारो आश्रमों की उत्पत्ति वेद से बताई गई है[3]। पर वेदों में—संहिता और ब्राह्मणों में आश्रम शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। और न ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमो के नाम ही मिलते हैं। अतः चतुराश्रम-व्यवस्था वेद प्रसूत है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वेदों में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्य शब्द मिलते हैं[4]। शतपथ आदि प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य शब्द उपलब्ध है[5]। इससे प्रमाणित होता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम की कल्पना का बीज वेदों में उपलब्ध था। वेदो में "हे वधु! हम दोनों की सौभाग्य-समृद्धि के लिए मैं तुम्हारा पाणि-ग्रहण करता हूँ। मैंने तुम्हें देवताओं से प्रसाद रूप में गार्हपत्य के लिए—गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए पाया है[6]"—ऐसे सूक्त भी पाये जाते हैं जिससे कहा जा सकता है कि गृहस्थ आश्रम की कल्पना का आधार भी वेदों में है। पर वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के बीज वेदों में उपलब्ध नहीं है। वेदो के 'मुम

१—उत्तराध्ययन २३ ८७

पवं तु संसए छिन्ने केसी घोरपरक्कमे।
अभिवन्दित्ता सिरसा गोयमं तु महायसं ॥
पंच महव्वयधम्मं पडिवज्जइ भावओ।
पुरिमस्स पच्छिमंमि मग्गे तत्थ सुहावहे ॥

२—उत्तराध्ययन १६ १७ :

एस धम्मे धुवे निच्चे सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण सिज्झिस्सन्ति तहावरे ॥

३—मनुस्मृति १२ ६७

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥

४—(क) ऋग्वेद १ १ ६ ५; अथर्ववेद ५ १७ ५; तैत्तिरीय संहिता ६ ३ ८
(ख) अथर्ववेद ११ ५ १ २६

५—शतपथ ब्राह्मण ६ ५ ४ १

६—ऋग्वेद १ ८५ ३६

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।

मैं पति के साथ वृद्धावस्था को प्राप्त करो[१] "पति पत्नी के साथ जीवन-पर्यन्त अग्निहोत्र करे[२]" "पति पत्नीसह जीवनपर्यन्त दर्श और पूर्णमास यागों को करे[३] —आदि विधानों से स्पष्ट है कि वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम की रचना के आधार वेद नहीं हैं।

उपनिषद् काल में आश्रम-व्यवस्था का क्रमशः उत्तरोत्तर विकास देखा जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्रथम तीन आश्रमों का संकेत रूप में वर्णन है[४]। अन्य उपनिषदों में संन्यास-ग्रहण के उल्लेख हैं[५]। जाबालोपनिषद् (४) में चारों आश्रमों का स्पष्ट रूप में नाम-निर्देश है[६]।

धर्मसूत्रों के युग में चतुराश्रम-व्यवस्था अच्छी तरह देखी जाती है। प्राचीन-से-प्राचीन धर्मसूत्र में भी चारों आश्रमों का उल्लेख पाया जाता है।

उपर्युक्त चार आश्रमों के ग्रहण की व्यवस्था के सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् में निम्न दो विधान मिलते हैं[६]

(१) ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृही होना चाहिए। गृहस्थ के बाद वनी—वानप्रस्थ होना चाहिए। वानप्रस्थ के बाद प्रव्रजित होना चाहिए। यह समुच्चय पक्ष कहलाता है।

(२) यदि अन्यथा देखे अर्थात् उत्कट वैराग्य हो तो ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण करे या गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थ से संन्यास में गमन करे अथवा जब वैराग्य उत्पन्न हो तभी प्रव्रजित हो। यह विकल्प पक्ष कहलाता है।

(३) तीसरा मत गौतम और बौधायन जैसे प्राचीन धर्म सूत्रों का है। इनके अनुसार आश्रम एक ही है और वह है गृहस्थ आश्रम[७]। ब्रह्मचर्य आश्रम गृहस्थ आश्रम की भूमिका मात्र है। इसे बाध पक्ष कहते हैं।

समुच्चय पक्ष के अनुसार आश्रमों को उनके क्रम से ही ग्रहण किया जा सकता है। बीच के आश्रम को छोड़कर बाद का ग्रहण नहीं किया जा सकता। उदाहरण स्वरूप ब्रह्मचर्य से अथवा गार्हस्थ्य आश्रम से सीधा संन्यास ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस मत के सम्बन्ध में श्री काणे लिखते हैं : "यह मत विवाह अथवा वैवाहिक जीवन (Sexual life) को अपवित्र अथवा संन्यास से निम्नकोटि का नहीं मानता। इतना ही नहीं यह गार्हस्थ्य को संन्यास से उच्च स्थान देता है। समुच्चय रूप में अधिकांश धर्मशास्त्रों का झुकाव गार्हस्थ्य आश्रम की महिमा बढ़ाने तथा वानप्रस्थ और संन्यास को पीछे ढकेलने की ओर रहा है। यह बात यहाँ तक पहुँची है कि कितने ही ग्रन्थों में यह उल्लेख आया है कि कलि-काल में वानप्रस्थ और संन्यास वर्जित हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आश्रमों का क्रम इस प्रकार है— 'आश्रम चार हैं—गार्हस्थ्य आचार्यकुल-वास मौन और वानप्रस्थ।' यहाँ 'आचार्य कुलवास' ब्रह्मचर्य का वाचक है और 'मौन' संन्यास का। यहाँ गार्हस्थ्य आश्रम को सब आश्रमों से पूर्व रखा है। इसका कारण वही है जो श्री काणे ने उल्लिखित किया है।

समुच्चय और विकल्प पक्ष की आलोचना करते हुए बौधायन धर्मसूत्र में लिखा है— 'प्रह्लाद के पुत्र कपिल ने देवों के प्रति स्पर्धा के कारण आश्रम भेदों को खड़ा किया है। मनीषी इन पर ध्यान नहीं देते।"

१—ऋग्वेद १०।८५।३६
गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मया पत्या जरदष्टिर्यथासः
—यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति
३—यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्
४—छान्दोग्य उपनिषद् २।२३।१
५—बृहदारण्यक उपनिषद् ३।५।१;४ मुण्डक उपनिषद् १ ११।३ ६
६—जाबालोपनिषद् ४ :
ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्
यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्
७—(क) गौतम धर्मसूत्र ३।१।३५ :
तस्याश्रमविकल्पमेके ब्रुवते। ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य
(ख) बौधायन धर्मसूत्र [illegible] :
ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजनत्वादितरेषाम्।
८—History of Dharmasastra Vol. II Part I p. 424

उसके बताये हुए क्रम में कभी पालन नहीं करते थे। और बहुत थोड़े ही दूसरे क्रम गार्हस्थ्य आश्रम के उस पार पहुँचते। प्राचीन भारत के बहुत से धारण्यक और मुनि आयु में वृद्ध नहीं थे और उन्होंने गार्हस्थ्य आश्रम को या तो संक्षिप्त किया या अथवा उसे बाद ही दे दिया। चार आश्रमों की व्यवस्था तथ्यों का आदर्शीकरण है और अध्ययन गार्हस्थ्य और श्रामण्य की विरोधी माँगों को एक जीवन काल में स्थान देने का कृत्रिम प्रयत्न है। यह सम्भव है कि आश्रम-व्यवस्था की उत्पत्ति का आंशिक कारण उन अवैदिक बौद्ध और जैन सम्प्रदायों का प्रतिवाद करना रहा हो जो कि युवकों को भी मुनित्व ग्रहण करने की प्रेरणा देते रहे और गार्हस्थ्य-जीवन को सम्पूर्णतः बाद देते रहे। प्रारंभ में बौद्ध धर्म और जैन धर्म की यह प्रणाली ब्राह्मणों की स्वीकृति प्राप्त नहीं कर सकी हालांकि बाद में इसके लिए स्थान बनाना पड़ा[1]।"

५-ब्रह्मचर्य और अन्य महाव्रत

एक बार गणधर गौतम ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा "भंते! मैथुन सेवन करनेवाले पुरुष के किस प्रकार का असंयम होता है?" महावीर ने उत्तर दिया "हे गौतम! जैसे एक पुरुष रुई की नली या बूर की नली में तप्त शलाका डाल उसे विध्वंस कर दे। मैथुन-सेवन करनेवाले का असंयम ऐसा होता है[2]।"

आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त बात को इस प्रकार रखा है "सहवास में प्राणीवध का सर्वत्र सद्भाव रहता है अतः हिंसा भी अवश्य होती है। जिस प्रकार तिलों की नली में तप्त लौह के डालने से तिल भुन जाते हैं उसी प्रकार मैथुन-क्रिया से योनि में बहुत जीवों का संहार होता है। कामोद्रेक से किञ्चित् भी अनङ्गरमणादि क्रिया की जाती है उसमें भी रागादि की उत्पत्ति के निमित्त से हिंसा होती है[3]।

अब्रह्म में हिंसा ही नहीं अन्य पाप भी हैं। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं "अहिंसादि गुण जिसके पालन से सुरक्षित रहते या बढ़ते हैं वह ब्रह्म है। जिसके होने से अहिंसादि गुण सुरक्षित नहीं रहते वह अब्रह्म है। अब्रह्म क्या है? मैथुन। मैथुन से हिंसादि दोषों का पोषण होता है। जो मैथुन-सेवन में दक्ष है, वह चर-अचर सब प्रकार के प्राणियों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, बिना दी हुई वस्तु लेता है तथा चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह को स्वीकार करता है[4]।"

१—The Wonder that was India pp 158-159

२—भगवती २.५

मेहुणेणं भंते! सेवमाणस्स केरिसिए असंजमे कज्जइ? गोयमा! से जहा नामए केई पुरिसे रूयनालियं वा बूरनालियं वा तत्तेणं कणएणं समभिद्धंसेज्जा एरिसए णं गोयमा! मेहुणं सेवमाणस्स असंजमे कज्जइ।

३—(क) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १०७, १०८, १०९

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥
हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥
यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥

(ख) ज्ञानार्णव ११ :

मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिङ्गसंघट्टपीडिताः ॥

४—तत्त्वार्थसूत्र ७.१६ सर्वार्थसिद्धि

अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाना बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म। न ब्रह्म अब्रह्म इति। किं तत्? मैथुनम्। तत्र हिंसादयो दोषाः पुष्यन्ति। यस्मान्मैथुनसेवनप्रवणः स्थास्नूंश्चरिष्णून् प्राणिनो हिनस्ति मृषावादमाचष्टे अदत्तमादत्ते अचेतनमितरं च परिग्रहं गृह्णाति।

जैन धर्म में सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व अदत्तादान विरमण, सर्व मैथुन विरमण और सर्व परिग्रह विरमण—इन पाँच को महाव्रत कहते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। जो भामण्य (ब्रह्मचर्य) को ग्रहण करता है उसे इन पाँचों महाव्रतों को एक साथ ग्रहण करना होता है। जो इन्हें युगपत् रूप से सम्पूर्ण रूप में ग्रहण नहीं करता वह किसी का पालन नहीं कर सकता। स्वामीजी ने इस बात को अपनी एक अन्य कृति गुरु-शिष्य में संवाद रूप में बड़े ही सुन्दर और मौलिक ढंग से समझाया है। उसका सार इस प्रकार है

गुरु: हिंसा, चोरी, झूठ, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—इन दुष्कर्मों के आचरण से जीव कर्मों को उपार्जन कर बार बार इस संसार में भ्रमण करता है। अहिंसा, अमिथ्या, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचों महाव्रतों का निरतिचार पालन करनेवाला पुरुष नये कर्मों का उपार्जन न करता हुआ पुराने कर्मों का क्षय करता है और इस प्रकार अपनी आत्मा को निर्मल कर मोक्ष प्राप्त करता है।

शिष्य: मैं पहला महाव्रत ग्रहण करता हूँ—मैं छः प्रकार के जीवों की हिंसा नहीं करूँगा, परन्तु मेरी जबान इतनी वश में नहीं कि मैं झूठ छोड़ सकूँ। अतः मुझे झूठ बोलने की छूट है।

गुरु: भगवान के बताये हुए पाँच महाव्रत इस तरह ग्रहण नहीं किये जाते। जब तुम झूठ बोलने का त्याग नहीं करते तब यह विश्वास कैसे हो कि तुम हिंसा में धर्म नहीं ठहराओगे। झूठ बोलनेवाला यह कहते संकोच कैसे करेगा कि देव, गुरु और धर्म के लिए प्राणियों की हिंसा करने में बुराई नहीं और आरम्भादि से जीव अच्छी गति को प्राप्त करता है। मिथ्या भाषण द्वारा कोई इस सिद्धान्त का प्रचार करने लगे कि हिंसा में भी धर्म है तो महाव्रत की तो बात दूर रही सम्यक्त्व—सत्य दृष्टि का भी लोप हो जाय।

शिष्य: स्वामिन्! मैं हिंसा और झूठ दोनों का त्याग करूँगा परन्तु चोरी नहीं छोड़ सकता। धन से मुझे अत्यन्त मोह है।

गुरु: यदि तू जीव-हिंसा और झूठ को छोड़ता है तो तेरी चोरी कैसे निभेगी? यदि तू चोरी कर सत्य बोलेगा तो लोग तुझे चोर कहने लगेंगे। परधन की चोरी करने से मालिक दुःख पाता है। किसी को दुःख देना हिंसा है। यदि तू कहेगा कि इसमें हिंसा नहीं तो पहले दोनों ही महाव्रत चकनाचूर हो जायेंगे। क्योंकि हिंसा को अस्वीकार करने से झूठ का दोष भी लगेगा।

शिष्य: मैं तीनों महाव्रतों को अच्छी तरह ग्रहण करता हूँ। परन्तु चौथा महाव्रत स्वीकार करना मुझ से नहीं बनता। मोहकर्म से आत्मा स्ववश नहीं। मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक नहीं रह सकता।

गुरु: अब्रह्मचर्य के सेवन से पहले तीनों महाव्रत भंग होते हैं। अब्रह्मचर्य सब गुणों को एक पलक मात्र में उसी तरह क्षार कर देता है जिस तरह धुनी हुई रूई को आग। मैथुन से पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है। हिंसा नहीं होती ऐसा कहने से झूठ का दोष लगता है। पर प्राण का हरण चोरी है। अब्रह्मचर्य सेवन से प्रभु की आज्ञा का भङ्ग होता है—चोरी लगती है। इस तरह तीनों ही महाव्रत खण्डित हो जाते हैं।

शिष्य: मैं चारों ही महाव्रतों को ग्रहण करता हूँ परन्तु पाँचवाँ महाव्रत कैसे ग्रहण करूँ? ममता छोड़ना मेरे लिए कठिन है। मैं नव ही प्रकार का परिग्रह रखूँगा।

गुरु: क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य, द्विपद, चौपद, हिरण्य-सुवर्ण और कुम्भी धातु—ये परिग्रह, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य—इन चारों आस्रवों के मूलाधार हैं। तू परिग्रह की छूट रख कर अन्य व्रतों का किस तरह पालन कर सकेगा? ऐसा कहना तो तुम्हारी निरी भूल है।

शिष्य: खैर, मैं पाँचों ही आस्रवों का त्याग करता हूँ पर एक करण तीन योग से। मेरे स्नेही—सगे बहुत हैं अतः मैं कराने और अनुमोदन करने की छूट रखता हूँ।

गुरु: घर में तो तुम्हें कोई पूछता ही नहीं था और खाने के लिए तुम्हें अन्न भी नहीं मिलता था और अब भगवान के साधुओं का वेश ग्रहण करने की इच्छा कर राज्य करने चले हो! तुमने त्याग कर कितना त्यागा है? अब तो तुम मोह में हुक्म चलाने की कामना रखते हो। इस हिसाब से तुम एक महाराजा से कम नहीं हो।

शिष्य: मैं पाँचों ही आस्रवों का दो करण तीन योग से त्याग करता हूँ। अब केवल अनुमोदन की छूट रखी है।

गुरु: अनुमोदन की छूट रखने से तू अपने लिए किया हुआ आहार आदि स्वीकार करेगा। उद्योग बना रहेगा। इससे पाँचों ही महाव्रतों में विकार उत्पन्न होगा। हिंसा आदि पाँचों पापों में अनुमोदन की भावना—इस भावना रहने से उनके प्रति तुम्हारा आदर भाव नहीं छूटेगा। इस तरह मन, वचन और काय—इन तीनों ही योगों के विषयों में तुम्हारा आर्त—रौद्र ध्यान रहेगा। पाँच आस्रवों का तीन करण तीन योग से

महात्मा गांधी और स्वामीजी के विचारों में जो साम्य है वह स्वयं प्रकट है।

स्वामीजी ने किसी भी एक महाव्रत को दूसरे महाव्रतों के लिए कवच स्वरूप बताया है। यह भाव महात्मा गान्धी के निम्न विचारों से समर्थित है:

"ब्रह्मचर्य एकादश व्रतों में से एक व्रत है। इस पर से कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य की मर्यादा या बाड़ एकादश व्रतों का पालन है। मगर एकादश व्रतों को कोई बाड़ न माने। बाड़ तो किसी खास हालत के लिए होती है। हालत बदली और बाड़ भी गई। मगर एकादश व्रत का पालन तो ब्रह्मचर्य का जरूरी हिस्सा है। इसके बिना ब्रह्मचर्य पालन नहीं हो सकता[१]।"

६-ब्रह्मचर्य और स्त्री-पुरुष का अभेद

तथागत बुद्ध के जीवन की एक घटना इस प्रकार मिलती है। एक बार वे शाक्यों के कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार कर रहे थे। तब महाप्रजापति गौतमी वहाँ आई और वन्दना कर एक ओर खड़ी हो बोली "भन्ते! अच्छा हो स्त्रियाँ भी तथागत के धर्म-विनय में प्रव्रज्या पावें।" बुद्ध बोले "गौतमी! तुम्हें ऐसा न रुचे।" गौतमी ने दूसरी-तीसरी बार भी निवेदन किया पर तथागत ने वही उत्तर दिया। गौतमी दुःखी अश्रुमुखी हो भगवान को अभिवादन कर चली गई। इसके बाद तथागत वैशाली को चल दिये। वहाँ महावन की कूटागारशाला में ठहरे। महाप्रजापति गौतमी केशों को कटा काषायवस्त्र पहिन बहुत-सी शाक्य स्त्रियों के साथ कूटागारशाला में पहुँची। वहाँ द्वारकोष्ठक के बाहर खड़ी हुई। उसके पैर फूले हुए थे। शरीर धूल से भरा था। वह दुःखी अश्रुमुखी रोती हुई खड़ी थी। उसे देख आयुष्मान् आनन्द ने पूछा—"गौतमी! तू ऐसे क्यों खड़ी है?" वह बोली "भन्ते आनन्द! तथागत धर्म-विनय में स्त्रियों को प्रव्रज्या की अनुज्ञा नहीं देते।" "गौतमी! तू यहीं रह। मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ।" आनन्द तथागत को अभिवादन कर एक ओर बैठ बोले "भन्ते! अच्छा हो स्त्रियों को प्रव्रज्या मिले।" "नहीं आनन्द! ऐसा न रुचे।" आनन्द बोले "भन्ते! क्या स्त्रियाँ प्रव्रजित हो स्रोत-आपत्तिफल, सकृदागामिफल, अनागामिफल, अर्हत्वफल को साक्षात् कर सकती हैं?" "साक्षात् कर सकती हैं आनन्द!" "भन्ते! यदि स्त्रियाँ इस योग्य हैं तो अभिभाविका पोषिका क्षीरदायिका भगवान की मौसी महाप्रजापति गौतमी बहुत उपकार करनेवाली है। उसने जननी के मरने पर भगवान को दूध पिलाया। भन्ते! अच्छा हो स्त्रियों को प्रव्रज्या मिले।" गौतमी ने तथागत के उसी समय स्थापित आठ गुरु-धर्मों को स्वीकार किया। बाद में उसकी उपसम्पदा—प्रव्रज्या हुई।

प्रव्रज्या के बाद बुद्ध आनन्द से बोले "आनन्द! यदि तथागत प्रवेदित धर्म विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पातीं तो यह ब्रह्मचर्य चिर स्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता। अब ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच ही सौ वर्ष ठहरेगा। आनन्द! जैसे बहुत स्त्रीवाले और थोड़े पुरुषवाले कुल चोरों द्वारा सेंधियाओं द्वारा आसानी से ध्वंसनीय होते हैं, उसी प्रकार जिस धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या पाती हैं, वह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी नहीं होता। जैसे आनन्द! सम्पन्न लहलहाते धान के खेत में सेतट्ठिका नामक रोग की जाति पड़ती है, जिससे वह शालि-खेत चिरस्थायी नहीं होता, जैसे सम्पन्न ऊख के खेत में मांजेट्ठिका नामक रोग-जाति पड़ती है जिससे वह ऊख का खेत चिरस्थायी नहीं होता, ऐसे ही आनन्द! जिस धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या पाती हैं, वह ब्रह्मचर्य चिर स्थायी नहीं होता[२]।"

इस घटना से प्रकट है कि बौद्ध धर्म के प्रवर्तक तथागत बुद्ध स्वयं ही नारी के वर्तुत्व के प्रति शंकाशील थे। इसी कारण नारी की प्रव्रज्या का प्रश्न सामने आने पर वे पेशोपेश में पड़ गये। यह शंका नारी के ब्रह्मचर्य पालन की क्षमता के विषय में थी। वे नारी की आजीवन ब्रह्मचर्य की भावना को अन्त तक भी नहीं उभार सके। जैन धर्म के साहित्य में ऐसी शंका का आभास कहीं भी परिलक्षित नहीं होता। जैन धर्म में नारी के प्रति ब्रह्मचर्य पालन के विषय में कभी ही अविश्वासीन भावना देखी जाती है जैसी कि पुरुष के प्रति। स्त्री में भी आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की आत्मिक शक्ति और सामर्थ्य होने में उतना ही विश्वास देखा जाता है जितना कि पुरुष में इसके होने के प्रति।

वैदिक परम्परा में नारी को सहधर्मिणी कहा गया है। पुरुष नारी को अपने साथ बगैर बिना धार्मिक अनुष्ठान अथवा क्रिया-कलाप को पूरा नहीं कर सकता—ऐसी भावना है। इस तरह वैदिक परम्परा नारी को अपूर्व सम्मान प्रदान करती है परन्तु वहाँ नारी पुरुष की पर

१—आत्मकथा (दूसरा भाग) पृ० ४४

२—विनय पिटक : चुल्लवग्ग : भिक्खुनी-स्कंधक १०।१। पृ० ५१९ के आधार

छाया की तरह चलती है। यदि वहाँ पुरुष नारी को छोड़ कर धर्म अनुष्ठान नहीं कर सकता तो नारी भी पुरुष से दूर रह कर आध्यात्मिक कल्याण को व्यापक रूप में सम्पादित नहीं कर सकती—ऐसी विचार-धारा है। वैदिक परम्परा में नारी-संन्यास को स्थान नहीं इसलिए पुरुष से दूर रह कर स्वतन्त्र रूप से चरम कोटि की आध्यात्मिक साधना के उदाहरण प्रचुर मात्रा में नहीं मिलते। जैन परम्परा में नारी के लिए संन्यास भी हर समय खुला रहा है अतः उच्चतम कोटि की आध्यात्मिक साधना में स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही दीप्त रहीं।

वैदिक परम्परा में नारी जाति को गौरवपूर्ण उच्चासन दिया गया है और नारी को पुरुष मित्र और सम्राज्ञी के रूप में अंकित करने के दृष्टान्त सामने आते हैं, परन्तु उनमें अंकित वर्णन अधिकांश में नारी को अर्धांगिनी के रूप में ही उपस्थित करते हैं। नारी का स्वतंत्र व्यक्तित्व वहाँ प्रस्फुटित दिखाई नहीं देता और उसकी बहुत ही थोड़ी-सी अभिव्यक्ति वहाँ मिलती है। परन्तु जैन धर्म में नारी का स्वतंत्र व्यक्तित्व शुरू से ही स्वीकृत है और उसके समान ही उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए सम्पूर्ण आध्यात्मिक साधना का मार्ग खुला है।

जैन धर्म में नारी की धर्म-भावना को वही आदर दिया जाता है जो पुरुष की धर्म भावना को। वैवाहिक-जीवन में नारी पुरुष की सहचारिणी रहती है, उसकी सेवा-शुश्रूषा करती है और गृहस्थी का भार योग्यतापूर्वक वहन करती है। परन्तु साथ ही साथ आत्मा के उत्थान के लिए, आत्मा की खोज-शोध एवं आध्यात्मिक चिन्तन और साधना में भी अपना यथेष्ट समय लगाती है। वैदिक परम्परा में नारी के स्वाव-लम्बी जीवन की कल्पना नहीं है और यदि है तो अपवाद रूप में ही। परन्तु जैन धर्म में स्वावलम्बी नारी-जीवन की कल्पना प्रचुर प्रमाण में मिलती है। पुरुष के साथ सहधर्मिणी होकर रहना उसके जीवन का कोई एकान्त नहीं यदि वह चाहे तो आजीवन ब्रह्मचारिणी रह कर भी आदर्श-जीवन प्रतिपादित करने के लिए स्वतंत्र है।

वैदिक परम्परा में नारी का धार्मिक संघ नहीं। बौद्ध परम्परा में भिक्षुणी संघ विच्छिन्न प्रायः है। जैन परम्परा में साध्वियों का भिक्षुणी संघ आज भी भारत-भूमि को पवित्र करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में जैन धर्म में नारी को उतनी ही स्वतन्त्रता है जितनी पुरुष को। जैसे पुरुष सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व अदत्तादान विरमण, सर्व मैथुन विरमण और सर्व परिग्रह विरमण रूपी महाव्रतों को ग्रहण करने में स्वतंत्र है, वैसे ही नारी भी।

इस विषय में सब धर्मों की स्थिति को उपस्थित करते हुए संत विनोबा लिखते हैं

"इस्लाम में यह विचार रहा है कि गृहस्थ धर्म ही पूर्ण आदर्श है। बाकी के आश्रम, जैसे ब्रह्मचारी का गौण आदर्श है। जैसे भगवान ईसा तो आदरणीय थे वे ब्रह्मचारी थे, परन्तु उनका जीवन पूर्ण जीवन नहीं माना जायगा। मुहम्मद का आदर्श पूर्ण है। वे गृहस्थ थे। जैसे ब्रह्मचारी को एक्सपर्ट (विशेषज्ञ) जैसा माना जायगा। विशेषज्ञ एकांगी होते हैं, परन्तु समाज को उनकी भी जरूरत होती है। इसी तरह, जिन्होंने शुरू से आखिर तक ब्रह्मचारी का जीवन बिताया उनका आदर्श पूर्ण नहीं। पुरुषोत्तम पूर्ण आदर्श तो गृहस्थ ही है। स्त्रियों के लिए और पुरुषों के लिए, दोनों के लिए, गृहस्थ का ही आदर्श है। इस दृष्टि से मुसलमानों का चिन्तन चलता है।

वैदिक धर्म में ब्रह्मचारी को ही आदर्श माना गया है। बीच के जमाने में स्त्री-पुरुषों में भेद माना गया। जिससे हिन्दूधर्म की दुर्दशा हो गयी। पुरुष का तो ब्रह्मचर्य का अधिकार रहा लेकिन स्त्री को इसका अधिकार नहीं रहा। इसलिए स्त्री को गृहस्थाश्रमी बनना ही चाहिए। ऐसा माना गया। अगर वह गृहस्थाश्रमी नहीं बनती है, तो अधम होता है। इस तरह बीच के जमाने में यह एक बहुत बड़ा दोष पैदा हुआ। इसलिए अब इस जमाने में संशोधन करना जरूरी है। हक देने पर भी उसका पालन करनेवाले कम ही होंगे। परन्तु कम हो या ज्यादा स्त्री के लिए ब्रह्मचर्य का अधिकार नहीं है, यह बात ही गलत है। उससे आध्यात्मिक डिसएबिलिटी (असमर्थता) पैदा होती है। अगर कोई व्यावहारिक असमर्थता होगी तो उसमें सुधार करना सम्भव है। लेकिन आध्यात्मिक ही असमर्थता हो तो बहुत दुःख की बात है। हिन्दुस्तान में बीच के जमाने में जो तेजोहानि हुई, उसका यह भी कारण है कि स्त्रियों को ब्रह्मचर्य का अधिकार नहीं रहा। लेकिन उपनिषदों में उल्टी बात है। वहाँ स्त्री-पुरुषों में कोई भेद नहीं किया गया है। हिन्दुओं में स्त्री की असमर्थता मानी गयी है। यह सब गलत है।

"लेकिन जैनों में स्त्री और पुरुष दोनों को समान माना है। ईसाइयों में जो कथोलिक हैं, वे स्त्री-पुरुषों को समान मानते हैं। लेकिन जो प्रोटेस्टेन्ट होते हैं, उनका खयाल करीब-करीब मुसलमानों के जैसा ही है। वे मानते हैं कि ब्रह्मचर्य असाध्य वस्तु है और गृहस्थाश्रम ही आदर्श है। लेकिन कथोलिकों में भाई और बहनें दोनों ब्रह्मचारी होते हैं[1]।"

१—कार्यकर्ता-वर्ग : ब्रह्मचर्य पृ० १५३ का सार

कहना चाहिये। साक्षात् ब्रह्म की प्राप्ति के लिए देह से मुक्त होने के साधन के माने ही ब्रह्मचर्य है। भीष्म आखिर में ऐसे ब्रह्मचारी बने थे और महान् ज्ञानी हुए, फिर भी वे पहले वैसे नहीं थे। शुक के समान वे आरम्भ से आदर्श ब्रह्मचारी नहीं थे। आजकल कुछ लोगों का देशधर्म या स्वराज धर्म चलता है और वे उसे बहुत अच्छी तरह से निभाते भी हैं। परन्तु फिर भी उसको ब्रह्मचर्य नहीं कहा जा सकता। उनमें से कई ऐसे होते हैं जो देशधर्म को बाद में ब्रह्मचर्य में परिवर्तित कर देते हैं।

भूदान यज्ञ ऐसा कोई कार्य नहीं है कि जिसके लिए विद्यार्थी का आमरण आजीवन ब्रह्मचारी रहने की आवश्यकता हो। ब्रह्मचर्य की जिसे अन्दर से प्रेरणा होती है उसे बाहर से कोई निमित्त मिल जाता है तो वह उसका लाभ उठाता है। भीष्म और गान्धीजी के साथ भी यही हुआ था। गान्धीजी ने सामाजिक जन-सेवा के खयाल से ब्रह्मचर्य का आरम्भ किया और अच्छे ब्रह्मचर्य में उसकी परिणति की। तो भूदान यज्ञ अगर किसी के लिए वैसा निमित्त बन जाता है तो वह उसका लाभ उठा सकता है परन्तु खास इस काम के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत लेने की कोई जरूरत नहीं है।

२—कुछ लोग—'संयम से संतति-नियमन करो' ऐसा प्रतिपादन करते हैं। लेकिन वह ठीक नहीं। संयम का अपना स्वतंत्र मूल्य है। संतति कम करने के लिए संयम को न अपनाइये। संयम से आनन्द मिलता है, इसलिए संयमी होने को लोगों से कहिए। उनके लिए भौतिक नफा-नुकसान न सिखाइये।

जैन आगम में सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व अदत्तादान विरमण, सर्व मैथुन विरमण, सर्व परिग्रह विरमण और सर्व-रात्रि भोजन विरमण—इन प्रतिज्ञाओं को ग्रहण करने के बाद साधक का आत्म-घोष इस प्रकार प्रकट होता है : 'इन पाँच महाव्रत और छठे रात्रि-भोजन विरमण को मैंने आत्म-हित के लिए ग्रहण किया है'[१]। इससे स्पष्ट है कि महाव्रतों के—जिनमें ब्रह्मचर्य महाव्रत भी है—ग्रहण का हेतु जैन आगमों में भी 'आत्महित' ही बताया गया है।

वैदिक संस्कृति में भी ब्रह्मचर्य का उद्देश्य यही कहा गया है। ब्रह्मचर्य का उद्देश्य क्या होना चाहिए, यह उपनिषद् के निम्न वार्तालाप से प्रकट होगा :

"हम आत्मा को जानना चाहते हैं जिसे जानने पर जीव सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है'—ऐसा निश्चय कर देवताओं का राजा इन्द्र और असुरों का राजा विरोचन ये दोनों—परस्पर स्पर्धा से हाथों में समिधाएँ लेकर प्रजापति के पास आए। और बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यवास किया।

प्रजापति ने कहा—'ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तुम किस चीज की इच्छा करते हो?'

इन्द्र और विरोचन बोले : "जो आत्मा पाप-रहित, जरा रहित, मृत्यु-रहित, शोक-रहित, क्षुधा रहित, तृषा रहित, सत्यकाम और सत्य-संकल्प है उसका अन्वेषण करना चाहिए और उसे विशेषरूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए, यह आपका वाक्य है। आत्मा को जानने की इच्छा से हम यहाँ ब्रह्मचर्यवास में हैं।"

प्रजापति ने कहा—'यह जो नेत्रों में दिखायी देता है—आत्मा है। यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है[२]।

उपर्युक्त वार्तालाप में ब्रह्मचर्य का उद्देश्य आत्म-प्राप्ति बतलाया गया है। साथ ही यह भी बता दिया गया है कि आत्मा ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त होती है। यह ही बात जैन धर्म में संयम रूप ब्रह्मचर्य के उद्देश्य और फल के सम्बन्ध में कही गयी है।

जैन आगम दशवैकालिक सूत्र में कहा है :

'निश्चय ही आचार-समाधि के चार भेद हैं। यथा—

(१) इहलोक के लिए आचार का पालन न करे।

(२) परलोक के लिए आचार का पालन न करे।

(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लाघा के लिए आचार का पालन न करे।

(४) अरिहंत-निर्दिष्ट हेतु निर्जरा—आत्म-शुद्धि के सिवा अन्य किसी प्रयोजन के लिए आचार का अनुष्ठान न करे[३]।"

इससे भी स्पष्ट है कि साधक के लिए ब्रह्मचर्य का हेतु आत्म हित आत्म-शुद्धि ही हो सकता है।

१—दशवैकालिक ४ : १

इच्चेयाइं पञ्च महव्वयाइं राईभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्त-हियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।

२—छान्दोग्योपनिषद् ८ ७ : १ २

३—दशवैकालिक ९ ४ ५

चउव्विहा खलु आयार-समाही भवइ, तं जहा—नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा चउत्थं पयं भवइ।

८—व्रत-ग्रहण में विवेक आवश्यक

कभी-कभी मनुष्य वस्तु की दुष्करता पर पूरा विचार नहीं करता और व्रत-ग्रहण कर लेता है। फल यह होता है कि या तो वह उसे भङ्ग कर दूर हो जाता है अथवा छिपे-छिपे अनाचार का सेवन करने लगता है। ज्ञानियों ने कहा है—जो बात जैसी हो वैसी जान कर व्रत-ग्रहण करो। आगम में कहा है—'कामभोग के रस को जान चुका उसके लिए अब्रह्मचर्य से विरति और यावज्जीवन के लिए उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य का धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।[1]' 'संयम बालू के कवल की तरह निरस है।[2] "जैसे वायु से थैला भरना कठिन है उसी प्रकार क्लीव के लिए संयम का पालन कठिन है।[3] "जिस तरह भुजाओं से रत्नाकर—समुद्र का तरना दुष्कर है, उसी तरह अनुपशान्त आत्मा द्वारा दमरूपी समुद्र का तैरना दुष्कर है।[4] "जैसे लोहे के जवों का चबाना दुष्कर है, उसी प्रकार संयम का पालन दुष्कर है।[5] "जिस तरह प्रज्वलित अग्नि-शिखा का पीना अत्यन्त दुष्कर है, उसी प्रकार तरुणावस्था में श्रामण्य का पालन दुष्कर है।[6] "जो सुख में रहा है, सुकुमार है, ऐशोआराम में पला है वह श्रामण्य के पालन में समर्थ नहीं होता[7]। इन कथनों का अर्थ यह है कि व्रत-ग्रहण के पूर्व उसकी दुष्करता को पूर्ण रूप से समझ कर आगे कदम बढ़ाया जाय।

इसी तरह आगम में कहा है—"साधक! अपने बल स्थाम श्रद्धा आरोग्य को देख कर तथा क्षेत्र और काल को जान कर उसके अनुसार आत्मा को धर्म-कर्म में नियोजित करे।[8]" इस का अर्थ यह कि वस्तु की दुष्करता के अनुपात से उसके बल, स्थाम श्रद्धा आदि कितने समर्थ हैं, यह भी देख लें। सार यह है कि जो वस्तु की दुष्करता को समझ तथा अपने बल सामर्थ्य के अनुसार आगे कदम बढ़ाता है, वह स्खलित या अनाचारी नहीं होता।

जो ऐसा नहीं करता उसकी क्या गति होती है, उसका भी बड़ा गम्भीर विवेचन आगमों में है—"कायर मनुष्य जब तक विजयी पुरुष को नहीं देखता तब तक अपने को शूर मानता है परन्तु वास्तविक संग्राम के समय वह उसी तरह क्षोभ को प्राप्त होता है जिस तरह युद्ध में प्रवृत्त स्वधर्मी महारथी कृष्ण को देख कर शिशुपाल हुआ था।[9]" "अपने को शूर माननेवाला पुरुष संग्राम के अग्र-भाग में चला तो जाता है परन्तु जब युद्ध छिड़ जाता है और ऐसी घबराहट मचती है कि माता भी अपनी गोद से गिरते हुए पुत्र की सुध न ले सके तब शत्रुओं के प्रहार से क्षतविक्षत अल्प पराक्रमी पुरुष दीन बन जाता है[10]।" "ब्रह्मचर्य पालन में हारे हुए मंदमति पुरुष उसी तरह विषाद का अनुभव करते हैं, जिस तरह जाल में फँसी हुई मछली[11]।" "जैसे युद्ध के समय कायर पुरुष यह शंका करता है कि कौन जानता है किस की विजय होगी

१—उत्तराध्ययन १९ : २९

२—वही १९ : ३८

३—वही १९ : ४१

४—वही १९ : ४२

५—वही १९ : ३९

६—वही १९ : ४०

७—वही १९ : ३५

८—दशवैकालिक ८ : ३५

बलं थामं च पेहाए सद्धामारोग्गमप्पणो।

खेत्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निजुंजए॥

९—सूत्रकृताङ्ग १।३।१।१

१०—वही १।३।१।२

११—वही १।३।१।१३

पीछे की ओर ताकता है और गड्ढा महल और छिपा हुआ स्थान देखता है, उसी प्रकार निर्बल साधक अनागत भय की आशंका से आश्रय की खोज में लगे हैं[1]।"

इस विषय में संत टॉल्स्टॉय ने जो विचार दिए हैं, वे आगम-गाथाओं की अनुभूत टीका से लगते हैं। वे कहते हैं : "हम कई बार पहले ही से अपनी विजय की रोचक कल्पना में तल्लीन हो जाते हैं, यह एक भारी कमजोरी है। ऐसे काम में हम लग जाते हैं जो हमारी शक्ति से बाहर है। जिसका पूरा करना न करना हमारी शक्ति के अन्दर की बात नहीं। क्योंकि पहले तो हम इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि हमें आगे चल कर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में से गुजरना होगा। दूसरे, इस तरह की एकाएक प्रतिज्ञा करने से हमें अपने ध्येय की ओर—सर्वोच्च ब्रह्मचर्य के निकट जाने में कोई सहायता नहीं मिलती उलटे भीतर कमजोर रह जाने के कारण हमारा पतन अवश्य शीघ्र होता है।

"पहले तो लोग बाहरी ब्रह्मचर्य को ही अपना उद्देश्य मान लेते हैं। फिर या तो वे संसार को छोड़ देते हैं या स्त्रियों से दूर-दूर भागते हैं। इतने पर भी जब कामवासना से पिण्ड नहीं छूटता तब अपनी इन्द्रियों को ही काट डालते हैं।

"दूसरे, केवल बाहरी ब्रह्मचर्य को यह समझ कर आदर्श मान लेना गलत है कि हम कभी तो जरूर उस तक पहुँच जायेंगे क्योंकि ऐसा करने से प्रत्येक प्रलोभन और प्रत्येक पतन उसकी आशाओं को एकदम नष्ट कर देता है और फिर इस बात पर से भी उसका विश्वास उठने लग जाता है कि ब्रह्मचर्य का आदर्श कभी सम्भवनीय या युक्तिसंगत भी है या नहीं। वह कहने लग जाता है कि ब्रह्मचारी रहना असंभव है और मैंने अपने सामने एक गलत आदर्श रख छोड़ा है। फिर वह एकदम इतना शिथिल हो जाता कि अपने को पूरी तरह भोग-विलास के अधीन कर देता है।

"यह तो उस योद्धा के समान हुआ जो युद्ध में विजय प्राप्त करने की इच्छा से अपने बाहु पर गुप्त शक्तिवाला तावीज बाँध लेता है और आँखें मूँद कर विश्वास करता है कि यह तावीज युद्ध-प्रहारों से या मौत से उसकी रक्षा करता है। पर ज्योंही उसे तलवार का एकाध वार लगा नहीं कि उसका सारा बल और पौरुष गया नहीं। हम अपूर्ण मनुष्य तो यही निश्चय कर सकते हैं कि हम अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार, अपनी भूत और वर्तमान अवस्था तथा चारित्र्य का खयाल कर, अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य का पालन करें।

"दूसरे हम इस बात का भी खयाल न करें कि हम किसी काम को मनुष्यों की दृष्टि में ऊँचा उठने के लिए कर रहे हैं। हमारे न्याय कर्त्ता मनुष्य नहीं हमारी अन्तरात्मा और परमेश्वर है। फिर हमारी प्रगति में कोई बाधक नहीं हो सकता। तब प्रलोभन हम पर कोई असर नहीं कर सकेंगे और प्रत्येक वस्तु हमें उस सर्वोच्च आदर्श की ओर बढ़ने में सहायक होगी। पशुता को छोड़ कर हम नारायण-पद की ओर बढ़ते जायेंगे[2]।"

यहाँ इस विवेक की बात इसलिए रखी गयी है कि ब्रह्मचर्य या तो महाव्रत के रूप में ग्रहण किया जाता है अथवा अणुव्रत के रूप में। महाव्रत के रूप में त्याग सब व्यापक होते हैं और अणुव्रत के रूप में त्याग स्वदार-संतोष—परदार-त्याग रूप। इनमें किस मार्ग को ग्रहण करे यह साधक के चुनाव का विषय है। चुनाव में विवेक आवश्यक है।

९-ब्रह्मचर्य महाव्रत के रूप में

सम्पूर्ण जैन धर्म का उपदेश संक्षेप में कहना हो तो इस प्रकार रखा जा सकता है : "एक से विरति करो और एक में प्रवृत्ति। असंयम से निवृत्ति करो और संयम में प्रवृत्ति[3]। क्रिया में रुचि करो और अक्रिया को छोड़ो[4]। हिंसा अलीक चोरी अब्रह्म तथा भोगलिप्सा और लोभ

१—सूत्रकृताङ्ग [illegible]
२—स्त्री और पुरुष पृ० १८-२१ से संक्षिप्त
३—उत्तराध्ययन ३१.२ :
एगओ विरइं कुज्जा एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च संजमे य पवत्तणं॥
४—वही १८.३३ :
किरियं च रोयई धीरे अकिरियं परिवज्जए।
दिट्ठीए दिट्ठीसंपन्ने धम्मं चर सुदुच्चरं॥

(परिग्रह) का परिवर्जन करो[1] और अहिंसा सत्य अचौर्य—अस्तेय ब्रह्म और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को ग्रहण करो। संक्षेप में यही जिन-उपदिष्ट धर्म है। इस धर्म को कठिन—दुष्कर कहा है, पर उपदेश भी इसी को ग्रहण कर धैर्यपूर्वक पालन करने का दिया है।

हिंसा आदि पाँचों पाप और अहिंसा आदि पाँचों धर्मों का अति सूक्ष्म गंभीर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण जैनों के प्रश्नव्याकरण सूत्र में मिलता है। आचाराङ्ग सूत्र भी इनका सूक्ष्म प्रतिपादन करता है। कहा जा सकता है कि सारा जैन वाङ्मय इन्हीं की भिन्न-भिन्न रूप से चर्चा का विस्तृत भण्डार है।

ऋग्वेद में 'सत्य' और 'ब्रह्मचर्य' शब्द प्राप्त हैं। शतपथ ब्राह्मण में सत्य बोलने का कहा गया है और ब्रह्मचर्य का भी उल्लेख है। पर पाँचों यामों में से अन्य यामों के नाम इनमें ही नहीं अन्य वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी नहीं मिलते। सारे यामों का उल्लेख और उन पर विशद व्याख्या या विवेचन किसी वेद अथवा ब्राह्मण ग्रन्थ में नहीं देखा जाता। महाव्रत शब्द भी वहाँ नहीं है। छांदोग्य उपनिषद् में सत्य के साथ अहिंसा का उल्लेख मिलता है। बृहद् आरण्यक उपनिषद् में दया शब्द प्राप्त है। ब्रह्मचर्य का भी उल्लेख है। पर उपनिषदों में से किसी में भी अन्य यामों का उल्लेख नहीं और न उनके स्वरूप का सूक्ष्म प्रतिपादन है। याम या महाव्रत शब्दों का उल्लेख वहाँ भी नहीं।

स्मृतियों में जिन्हें साधारण या सामान्य धर्म कहा गया है, उनका उल्लेख वेद ब्राह्मण या उपनिषदों में नहीं है। अतः साधारण धर्मों की कल्पना भी उपनिषद्-काल के बाद की ही कही जा सकती है।

स्मृतियों में भी पाँच याम या महाव्रतों का उल्लेख नहीं पर साधारण धर्मों के भिन्न-भिन्न प्रतिपादनों में ही अहिंसा सत्य अचौर्य और ब्रह्मचर्य का समावेश उपलब्ध है। गौतम धर्मशास्त्र में दया क्षान्ति अनसूया शौच अनायास मङ्गल अकार्पण्य और अस्पृहा—इन आठ को आत्म-गुण कहा है। अस्पृहा को अपरिग्रह कहा जाय तो उस धर्म का यह पहला उल्लेख है।

यह निश्चय है कि ऐसे साधारण उल्लेखों के उपरान्त अहिंसा आदि तत्त्वों या धर्म-सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन या प्रतिपादन वैदिक संस्कृति के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में नहीं है। मनुष्य सत्य क्यों बोले अहिंसा से दूर क्यों रहे—ऐसे प्रश्नों का निचोड़ उनमें नहीं मिलता।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जिन याम आदि धर्मों का उल्लेख वेद-उपनिषदों में नहीं वे बाद के साहित्य में कहाँ से आये। इसका उत्तर संक्षेप में इतना ही दिया जा सकता है कि संस्कृतियाँ एक दूसरे के प्रभाव से सर्वथा अछूती नहीं रह पातीं। श्रमण-संस्कृति का अचूक प्रभाव वैदिक संस्कृति पर भी पड़ा है और उसके चिन्तन में श्रमण-संस्कृति के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंशों ने भी स्थान प्राप्त किया है और बाद में उसमें इन का उनका विस्तार हुआ है।

आधुनिक विचारकों में महात्मा गाँधी ने व्रतों पर गंभीर विवेचन किया है और वह विवेचन जैन आगमिक वर्णन से काफी मिलता-जुलता है। दोनों की समानता पहले एक लेख में दिखाई जा चुकी है[3]।

जिन पाँच महाव्रतों का ऊपर उल्लेख आया है उनके ग्रहण करने की शब्दावली इस रूप में मिलती है :

१—मैं प्रथम महाव्रत में सर्व प्राणातिपात का त्याग करता हूँ। मैं यावज्जीवन के लिए सूक्ष्म या बादर, स्थावर या जंगम—किसी भी प्राणी की मन वचन और काया से स्वयं हिंसा नहीं करूँगा दूसरे से हिंसा नहीं कराऊँगा और न हिंसा करनेवाले का अनुमोदन करूँगा। मैं अतीत के इस पाप से निवृत्त होता हूँ उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको व्युत्सर्ग करता—उससे हटाता हूँ।

१—उत्तराध्ययन ३५.३

वहेज हिंसं अलियं चोज्जं अबम्भसेवणं।
इच्छाकामं च लोभं च संजओ परिवज्जए॥

२—वही २१.१२

अहिंससच्चं च अतेणगं च
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू॥

३—विवरण पत्रिका वर्ष ८ अंक ८ पृ० २५ से : 'गांधी और गांधीवाद'

२—मैं दूसरे महाव्रत में यावज्जीवन के लिए सर्व प्रकार के मृषा—झूठ बोलने का (वाणी दोष का) त्याग करता हूँ। क्रोध से, लोभ से, भय से या हास्य से मैं मन, वचन और काया से झूठ नहीं बोलूँगा, न दूसरों से झूठ बुलाऊँगा, न झूठ बोलते हुए अन्य किसी का अनुमोदन करूँगा। मैं अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आप को उससे हटाता हूँ।

३—मैं तीसरे महाव्रत में यावज्जीवन के लिए सब अदत्त का त्याग करता हूँ। गाँव, नगर या अरण्य में अल्प या बहुत, छोटी या बड़ी, सचित्त या अचित्त कोई भी वस्तु बिना दी हुई नहीं लूँगा, न दूसरे से लिवाऊँगा और न कोई दूसरा लेता होगा तो उसे अनुमति दूँगा। मैं अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको उससे हटाता हूँ।

४—मैं चौथे महाव्रत में सर्व प्रकार के मैथुन का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ। मैं देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का स्वयं सेवन नहीं करूँगा, दूसरे से सेवन नहीं कराऊँगा और सेवन करनेवाले का अनुमोदन नहीं करूँगा। मैं अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ और अपने आपको उससे हटाता हूँ।

५—मैं पाँचवें महाव्रत में सब प्रकार के परिग्रह का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ। मैं अल्प या बहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी परिग्रह को ग्रहण नहीं करूँगा, न ग्रहण कराऊँगा, न परिग्रह ग्रहण करनेवाले का अनुमोदन करूँगा। मैं अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको उससे हटाता हूँ[1]।

जो ब्रह्मचर्य को महाव्रत के रूप में ग्रहण करना चाहेगा उसे उपर्युक्त महाव्रतों को उपर्युक्त रूप में एक साथ ग्रहण करना होगा। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है।

१०-ब्रह्मचर्य अणुव्रत के रूप में

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि महाव्रत तो अत्यन्त दुष्कर हैं, उन्हें तो संसार-त्यागी ही ग्रहण कर सकता है। जो गार्हस्थ्य में रहते हुए अहिंसा आदि को अपनाना चाहे वह क्या करे?

महावीर ने तीन तरह के मनुष्यों की कल्पना की है :

(१) एक ऐसे हैं जो परलोक की चिन्ता ही नहीं करते और जो विषयीजन की ही प्रशंसा करते हैं। जो हिंसा आदि पर-अपकारी पापों से जरा भी विरत नहीं होते और महान् आरम्भ, महान् समारम्भ और नाना पाप कर्म कर उदार मानुषिक भोगों में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ये अविरत हैं। ऐसे व्यक्ति दो कोटि के होते हैं—एक जिन्हें धर्म पर तो विश्वास है पर जो पापों को छोड़ नहीं सकते। दूसरे वे जो धर्म में भी विश्वास नहीं करते और पापों को भी नहीं छोड़ते।

(२) दूसरे ऐसे हैं जो धन-सम्पत्ति, घर-बार, माता-पिता और शरीर की आसक्ति को छोड़कर सर्वथा निरारम्भी और निष्परिग्रही जीवन बिताते हैं। ये ही हिंसा आदि पापों से मन, वचन और काया द्वारा न करने, न कराने और न अनुमोदन करने रूप से सर्वथा जीवनपर्यन्त विरत होते हैं। इनके उपर्युक्त पाँचों महाव्रत होते हैं। ये सर्व विरत कहलाते हैं।

(३) तीसरे ऐसे हैं जो धर्म में विश्वास करते हुए भी पापों को सर्वथा छोड़कर महाव्रत नहीं ले सकते। जो अपने में महाव्रतों को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं पाते वे आदर्श में विश्वास रखते हुए यथाशक्ति पापों को छोड़ स्थूल व्रतों को ग्रहण करते हैं। उनकी प्रतिज्ञाओं में स्थूल हिंसा-त्याग, स्थूल मृषा-त्याग, स्थूल चोरी-त्याग, स्वदार-सन्तोष—परदार-त्याग, स्थूल परिग्रह-त्याग, दिग्मर्यादा, उपभोग-परिभोग-परिमाण, अनर्थादि का अनर्थ दण्ड-त्याग, सामायिक—आत्म-पर्युपासना, पौषधोपवास—उपवासपूर्वक उपासना और अतिथिसंविभाग—इन बारह व्रतों का समावेश होता है। इन्हें विरताविरत कहते हैं।

भगवान ने पहले वर्ग को अधर्मपक्षी, हिंसापक्षी आदि कहा है। इस जीवन को उन्होंने अनार्य, अन्यायपूर्ण, अशुद्ध, मिथ्या और असाधु कहा है।

उन्होंने दूसरे वर्ग को धर्मपक्षी, आरम्भी आदि कहा है। इस उत्तम जीवन को उन्होंने आर्य, शुद्ध, न्यायपूर्ण, उत्तम, सम्यक् और साधु कहा है।

[1]—आचाराङ्ग २.१५

उन्होंने तीसरे पक्ष को मुक्तामुक्तपक्षी कहा है। विरति की अपेक्षा से ऐसा जीवन सम्यक् और संवृत होता है और अविरति की अपेक्षा से असम्यक् और असंवृत होता है[१]।

विरताविरत के व्रत स्थूल होने के कारण व्रत की मर्यादा के बाहर कितनी ही छूटें रह जाती हैं। ये छूटें जीवन का अधर्म पक्ष हैं। आदर्श पालन की आत्मशक्ति की न्यूनता की सूचक हैं। व्रतों की अपेक्षा से उसका जीवन धार्मिक माना गया है और अव्रत—छूटों की अपेक्षा अधार्मिक। इसी कारण उसके जीवन को मिश्रपक्षी धर्माधर्मी आदि कहा गया है। जो छूटों को जितना कम करता है वह आदर्श के उतना ही नजदीक जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जो महाव्रतों को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं रखता वह स्थूल व्रतों को ग्रहण कर सकता है।

भगवान महावीर के समय में अणुव्रत—स्थूलव्रत लेने की परिपाटी थी उसके चिह्न आगमों में अंकित हैं। जो महाव्रतों को ग्रहण करने में असमर्थ होता वह कहता

"हे भन्ते! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा है। हे भन्ते! मुझे निर्ग्रन्थ-प्रवचन में प्रतीति है। हे भन्ते! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन में रुचि है। वह ऐसा ही है भन्ते! यह तथ्य है भन्ते! यह अवितथ है भन्ते! हे भन्ते! मैं इसकी इच्छा करता हूँ। हे भन्ते! इसकी प्रति इच्छा करता हूँ। हे भन्ते! इसकी इच्छा प्रति इच्छा करता हूँ। आप कहते हैं वैसा ही है। आप देवानुप्रिय के समीप अनेक व्यक्ति मुण्ड हो आगारिता से अनगारिता में प्रव्रजित होते हैं। पर मैं वैसे मुण्ड हो प्रव्रज्या ग्रहण करने में असमर्थ हूँ। मैं देवानुप्रिय से पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप द्वादशविध गृहिधर्म लेना चाहता हूँ[२]।

जो बात अन्य व्रतों के बारे में है वही ब्रह्मचर्य महाव्रत के बारे में है। ब्रह्मचर्य महाव्रत ही सर्वोत्कृष्ट आदर्श है। पर जो उसे ग्रहण नहीं कर सकता वह कम-से-कम स्थूल मैथुन विरमण व्रत को तो ग्रहण करे—यह जैन धर्म की भावना है।

गृहपति आनन्द ने महावीर से यह व्रत इस रूप में लिया—"अपनी एक शिवानन्दा भार्या को छोड़ कर अन्य सर्व मैथुन-विधि का प्रत्याख्यान करता हूँ।"

इस व्रत का एक प्राचीन रूप इस प्रकार मिलता है: "चतुर्थ अणुव्रत स्थूल मैथुन से विरमणरूप है। मैं जीवनपर्यन्त देवता-देवाङ्गना सम्बन्धी मैथुन का द्विविध त्रिविध से प्रत्याख्यान करता हूँ। अर्थात् मैं ऐसे मैथुन का मन वचन और काया से सेवन नहीं करूँगा नहीं कराऊँगा। परपुरुष-स्त्री-पुरुष और तिर्यञ्च-तिर्यञ्ची विषयक मैथुन का एक एकविध एकविध से अर्थात् शरीर से सेवन नहीं करूँगा।"

इसका अर्थ यह है—

(१) इसमें ब्रह्मप्रतिज्ञा द्वारा स्वदार सम्बन्धी सर्व प्रकार के मैथुन की छूट रखी गई है।

(२) देवता-देवाङ्गना के सम्बन्ध में मन वचन और काय से अनुमोदन की छूट रखी गयी है।

(३) पर-स्त्री और तिर्यञ्च सम्बन्ध में शरीर से मैथुन सेवन कराने और अनुमोदन की छूट तथा मन और वचन से करने कराने एवं अनुमोदन की छूट रखी गई है।

इसका कारण यह है कि गार्हस्थ्य में अनुमोदन होता रहता है और अपनी अधीन सन्तान और पशु-पक्षी आदि के मैथुन प्रसंगों का शरीर से कराना और अनुमोदन भी होते ही हैं। मन और वचन पर संयम न होने से अथवा अनाभोग उनसे भी करने कराने और अनुमोदन की छूट रखी गई है।

महात्मा गांधी ने लिखा है: "हाँ व्रत की मर्यादा होनी चाहिए। ताकत के उपरांत व्रत लेनेवाला अविचारी गिना जायगा। व्रत में धर्मों के लिए अवकाश है। व्रत अर्थात् कठिन से कठिन वस्तु करना ऐसा अर्थ नहीं है। व्रत अर्थात् सहज अथवा कठिन वस्तु नियमपूर्वक करने का निश्चय[३]।

इस स्थूल व्रत के सम्बन्ध में इतना उल्लेख और है: "इस चतुर्थ स्थूल मैथुन विरमण व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—(१) इत्वरपरिगृहीतागमन (२) अपरिगृहीतागमन (३) अनंगक्रीड़ा (४) परविवाहकरण और (५) कामभोगतीव्राभिलाषा।"

१—(क) सूत्रकृताङ्ग २.२.३९ (ख) औपपातिक सू० १२३ १२४; (ग) दशाश्रुतस्कंध द० ६

२—उपासकदशा १.१

३—धर्ममंथन पृ० १०६-७

इसका अर्थ यह है

(१) थोड़े समय के लिए दूसरे के द्वारा गृहीत अविवाहित स्त्री को इत्वरपरिगृहीता कहते हैं। वह वास्तव में परदार न होने पर भी अणुव्रती उसे परदार समझे और उसके साथ मैथुन सेवन न करे।

(२) किसी के द्वारा अगृहीत वेश्या आदि परदार नहीं पर अणुव्रती उसे परदार समझे और उसके साथ मैथुन-सेवन न करे।

(३) आलिंगनादि क्रीड़ा अथवा अप्राकृतिक क्रीड़ा को अनंगक्रीड़ा कहते हैं। अणुव्रती इन्हें भी मैथुन समझे और परस्त्री अथवा किसी के साथ ऐसा दुराचार न करे।

(४) अपनी सन्तान अथवा परिवार के व्यक्तियों के अतिरिक्त परसंतति का विवाह न करे।

(५) कामभोग की तीव्र अभिलाषा न रखे अथवा कामभोग का तीव्र परिणाम से सेवन न करे।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि आदर्श तो सबके लिए महाव्रत ही है, पर पाप-त्याग की सीमा प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कर सकता है।

स्थूल मैथुन-व्रत कामवासना और पत्नीत्व-भावना का स्थानबद्ध कर देता है। स्वदार-संतोष का अर्थ है—मर्यादा में अपनी पत्नी की सीमा के बाहर न जाना। जैन धर्म कहता है कि अपनी पत्नी तक सीमित रहना भी ब्रह्मचर्य नहीं है, कामवासना का ही सेवन है। अत स्वदार-संतोषी काम-वासना और भोगवृत्ति को क्षीण करता चला जाय। सीमित करने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अन्य व्रतों में ही निहित है। दिग्व्रत द्वारा वह दिशाओं की सीमा कर ले और उस सीमा-मर्यादा के बाद अब्रह्म का सेवन न करे। उस क्षेत्र-मर्यादा के बाहर वह पत्नी के साथ भी ब्रह्मचारी रहे। भोगोपभोग व्रत में दिनों की मर्यादा कर ले और उन दिनों के उपरांत विषय-सेवन में प्रवृत्त न हो। इसी तरह दिवा-मैथुन का त्याग कर मर्यादित हो जाय। आर्त रौद्र ध्यान से बचकर मानसिक संयम साधे। अपनी मर्यादाओं को दैनिक नियमों द्वारा और भी सीमित करे। पर्व दिनों में पौषधोपवास कर ब्रह्मचर्य में रात्रियाँ बिताये। अपने जीवन को इस तरह दिनोंदिन संयमी करता हुआ अपने साथी की ब्रह्मचर्य भावना को भी बढ़ाता जाय। और इस तरह बढ़ते-बढ़ते अपनी पत्नी के प्रति भी पूर्ण ब्रह्मचारी हो जाय। जैन धर्म का यही उपदेश है कि अपने गृहस्थ-जीवन में भी पति-पत्नी अति भोगी न हों और विषय-वासना को दिनों दिन घटाते जाय।

महात्मा गांधी लिखते हैं 'अपनी स्त्री के साथ संग जारी रख कर भी जो पर-स्त्री संग छोड़ता है वह ठीक करता है। उसका ब्रह्मचर्य सीमित भले ही माना जाय लेकिन उसे ब्रह्मचारी मानना इस महा शब्द का खून करने के बराबर है[1]।'

जैन धर्म की दृष्टि से भी गृहस्थ वास्तव में ही ब्रह्मचारी नहीं है। वह स्वदार-संतोषी है। अपनी स्त्री के साथ भोग भोगने की उसकी छूट है यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। छूट की अपेक्षा वह अब्रह्मचारी है। परदार-त्याग की अपेक्षा वह ब्रह्मचारी है।

उपनिषद् में एक विचार मिलता है— 'जो दिन में स्त्री के साथ संयोग करता है, वह प्राण को क्षीण करता है और जो रात में स्त्री के साथ संयोग करता है, वह ब्रह्मचर्य ही है[2]।'

इसके बदले में जैन धर्म का विचार है—ऐसा मनुष्य दिवा-मैथुन के त्याग की अपेक्षा से अणुव्रती है और रात्रि-मैथुन की अपेक्षा से अब्रह्मचारी। मैथुन-काल—रात्रि में भी संयोग करनेवाला ब्रह्मचारी नहीं है।

स्मृति में उल्लेख है—"जो पुरुष पूर्वित रात्रि निन्दित आठ रात तथा पर्व दिन का त्याग कर सोलह रात में केवल दो रात स्त्री-संगम करता है, वह चाहे जिस आश्रम में हो ब्रह्मचारी है[3]।'

जैन धर्म के अनुसार अन्य रात्रियों का त्याग ब्रह्मचर्य है। दो रात्रि का भोग अब्रह्म है उससे कोई ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता।

१—ब्रह्मचर्य (भी) पृ १ १

—प्रश्नोपनिषद् १ १३

प्राण वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते
ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते।

३—मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक ५०

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥

११-विवाहित-जीवन और भोग-मर्यादा

ईसा का आदेश है—"अपने माता पिता बीबी-बच्चे आदि को छोड़ कर मेरा अनुसरण कर।" प्रश्न है जो माता-पिता बीबी-बच्चे को नहीं छोड़ता क्या वह ईसा का अनुसरण नहीं कर सकता ? संत टॉल्स्टॉय इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं—"इन शब्दों का अर्थ तुमने गलत समझा है। जब मनुष्य के चित्त में धार्मिक और पारिवारिक कर्तव्यों के बीच युद्ध छिड़ जाय तब समझौते की शर्तें बाहर से पेश नहीं की जा सकतीं। बाहरी नियम या उपदेश कोई काम नहीं कर सकते। इनको तो मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार खुद ही सुलझाना चाहिए। आदर्श तो यही रहेगा—'अपनी पत्नी को छोड़ कर मेरे पीछे चल' पर यह बात तो केवल वह आदमी और परमात्मा ही जानता है कि इस आदेश का पालन वह कहाँ तक कर सकता है[1]।"

टॉल्स्टॉय के कथन का अभिप्राय यह है कि अगर ऐसी शक्ति न हो तो वह पुरुष पत्नी के साथ रहता हुआ ही यथाशक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करे। उन्होंने लिखा है 'मैं तो केवल एक ही बात सोच और कह सकता हूँ। विवाह हो जाने पर भी पाप को बढ़ाने का मौका न देते हुए अपनी शक्ति भर और जीवन भर अविवाहित का-सा संयमशील जीवन व्यतीत करने की कोशिश करनी चाहिए[2]।

'मनुष्य को चाहिए कि वह हमेशा और हर हालत में चाहे वह विवाहित हो या अविवाहित जहाँ तक वह रह सकता हो ब्रह्मचर्य से रहे। यदि वह आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर सकता है, तो इससे अच्छा वह और कुछ कर ही नहीं सकता। परन्तु यदि वह अपने आपको रोक नहीं सकता अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करने में असमर्थ है तो उसे चाहिए कि जहाँ तक हो सके वह अपनी इस निर्बलता के बहुत कम वशीभूत हो और किसी अवस्था में विषयोपभोग को आनन्द की वस्तु न समझे[3]।

महात्मा गांधी लिखते हैं : "विविध रंगों का चाहे-जैसा मिश्रण सौन्दर्य का चिह्न नहीं है, और न हर तरह का आनन्द ही अपने-आप में कोई अच्छाई है। कला और उसकी जो दृष्टि है उसने मनुष्य को यह सिखाया है कि वह उपयोगिता में ही आनन्द की खोज करे। इस प्रकार अपने विकास के प्रारम्भिक काल में ही उसने यह जान लिया था कि खाने के लिए ही उसे खाना नहीं खाना चाहिए, बल्कि जीवन टिका रहे, इसलिए खाना चाहिए। इसी प्रकार जब उसने विषय-सहवास या मैथुनजनित आनन्द की बात पर विचार किया तो उसे मालूम पड़ा कि अन्य प्रत्येक इन्द्रिय की भाँति जननेन्द्रिय का भी उपयोग दुरुपयोग होता है और इसका उचित कार्य याने सदुपयोग इसी में है कि केवल प्रजनन या संतानोत्पत्ति के ही लिए सहवास किया जाय। इसके सिवा और अन्य प्रयोजन से किया जानेवाला सहवास असुन्दर है[4]।

"यही अर्थ गृहस्थाश्रमी के ब्रह्मचर्य का है अर्थात्—स्त्री पुरुष का मिलन सिर्फ संतानोत्पत्ति के लिए ही उचित है भोग-तृप्ति के लिए कभी नहीं। यह हुई कानूनी बात अथवा आदर्श की बात। यदि हम इस आदर्श को स्वीकार करें तो यह समझ सकते हैं कि भोगेच्छा की तृप्ति अनुचित है और हमें उसका यथोचित त्याग करना चाहिए। आजकल भोग-तृप्ति को आदर्श बताया जाता है। ऐसा आदर्श कभी हो नहीं सकता यह स्वयंसिद्ध है। यदि भोग आदर्श है तो उसे मर्यादित नहीं होना चाहिए। अमर्यादित भोग से नाश होता है यह सभी स्वीकार करते हैं। त्याग ही आदर्श हो सकता है और प्राचीन काल से रहा है[5]।

"स्त्री-पुरुष के समागम का उद्देश्य इन्द्रिय-सुख नहीं बल्कि सन्तानोत्पादन है और जहाँ संतान की इच्छा न हो वहाँ संभोग पाप है[6]।

महात्मा गांधी के अनुसार स्त्री-भोग विवाहित जीवन में भी अल्प बार ही हो सकता है। उन्होंने लिखा है—"संतति के कारण ही तो एक ही बार मिलन हो सकता है अगर वह निष्फल गया तो दोबारा उन स्त्री पुरुषों का मिलन होना ही नहीं चाहिए। इस नियम को जानने के बाद इतना ही कहा जा सकता है कि जब तक स्त्री ने गर्भ धारण नहीं किया तब तक प्रत्येक ऋतुकाल के बाद प्रतिमास एक बार स्त्री-पुरुष मिलन क्षन्तव्य हो सकता है और यह मिलन भोग-तृप्ति के लिए न माना जाय[7]।"

जैन धर्म के अनुसार सन्तान-प्राप्ति के लिए सहवास भी विषय-सेवन है और उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहा जा सकता जैसा कि कहा गया है— 'जो दंपति गृहस्थाश्रम में रहते हुए केवल प्रजोत्पत्ति के हेतु ही परस्पर संयोग और एकांत करते हैं वे ठीक ब्रह्मचारी हैं[8]।'

१—स्त्री और पुरुष पृ० १७

२—वही पृ० १८

३—वही पृ० ११

४—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० ५१

५—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० १०

६—अनीति की राह पर पृ० ७१

७—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० १

८—वही पृ० ७१

एक पुरानी कथा इस रूप में मिलती है।

वशिष्ठ की कुटिया के सामने एक नदी बहती थी। दूसरे किनारे विश्वामित्र तप करते थे। वशिष्ठ गृहस्थ थे। जब भोजन बन जाता तो पहले अरुंधती थाल परोसकर विश्वामित्र को खिलाने जाती, बाद को वशिष्ठ के घर भर सब लोग भोजन करते, यह नित्य-क्रम था। एक रोज बारिश हुई और नदी में बाढ़ आ गई। अरुंधती उस पार न जा सकी। उसने वशिष्ठ से इसका उपाय पूछा। उन्होंने ने कहा—'जाओ नदी से कहना मैं सदा निराहारी विश्वामित्र को भोजन देने जा रही हूँ मुझे रास्ता दे दो।' अरुंधती ने इसी प्रकार नदी से कहा—और उसने रास्ता दे दिया। अब अरुंधती के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ कि विश्वामित्र रोज तो खाना खाते हैं फिर निराहारी कैसे हुए? जब विश्वामित्र खाना खा चुके तब अरुंधती ने उनसे पूछा—'मैं वापस कैसे जाऊँ, नदी में तो बाढ़ है?' विश्वामित्र ने उलट कर पूछा—'तो आई कैसे?' उत्तर में अरुंधती ने वशिष्ठ का पूर्वोक्त नुसखा बतलाया। तब विश्वामित्र ने कहा—'अच्छा तुम नदी से कहना सदा ब्रह्मचारी वशिष्ठ के यहाँ लौट रही हूँ। नदी, मुझे रास्ता दे दो।' अरुंधती ने ऐसा ही किया और उसे रास्ता मिल गया। अब तो उसके अचरज का ठिकाना न रहा। वशिष्ठ के सौ पुत्रों की तो वह स्वयं ही माता थी। उसने वशिष्ठ से इसका रहस्य पूछा कि—विश्वामित्र को सदा निराहारी और आप को सदा ब्रह्मचारी कैसे मानूँ? वशिष्ठ ने बताया—'जो केवल शरीर-रक्षण के लिए ईश्वरार्पण-बुद्धि से भोजन करता है, वह नित्य भोजन करते हुए भी निराहारी है और जो केवल स्व-धर्म पालन के लिए अनासक्तिपूर्वक सन्तानोत्पादन करता है वह संभोग करते हुए भी ब्रह्मचारी ही है।'

इस पर टिप्पणी करते हुए महात्मा गांधी लिखते हैं :

" धार्मिक दृष्टि से देखें तो एक ही संतति 'धर्मज' या 'प्रथमजा' है। मैं पुत्र और पुत्री के बीच भेद नहीं करता हूँ, दोनों एक समान स्वागत के योग्य हैं। वशिष्ठ, विश्वामित्र का दृष्टान्त आरम्भ में अच्छा है। उससे इतना ही सार निकालना काफी है कि सन्तानोत्पत्ति के ही अर्थ किया हुआ संयोग ब्रह्मचर्य का विरोधी नहीं है। कामाग्नि की तृप्ति के कारण किया हुआ संयोग त्याज्य है। उसे निंद्य मानने की आवश्यकता नहीं। असंख्य स्त्री-पुरुषों का मिलन भोग के ही कारण होता है, और होता रहेगा।[1] "

इस विषय में संत टॉलस्टॉय के विचार प्रायः उपर्युक्त विचारों से मिलते हैं।

"मैं समझता हूँ विवाह में सहवास (संयोग) एक आचारविरुद्ध कर्म (व्यभिचार) नहीं है परन्तु इस बात को प्रमाण के साथ लिखने के पहले मैं इस प्रश्न पर कुछ अधिक ध्यानपूर्वक विचार कर लेना चाहता हूँ। क्योंकि इस कथन में भी कुछ सत्यता प्रतीत होती है कि काम-पिपासा बुझाने के लिए अपनी धर्म-पत्नी के साथ भी किया गया संयोग पाप है। मैं तो समझता हूँ इन्द्रिय विस्फोट कर देना वैसा ही पाप-कर्म है, जैसा कि विषय-सुख के लिए संभोग (रति) करना। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि आवश्यकता से अधिक खा लेना। जो भोजन मनुष्य को अपने अन्य भाइयों की सेवा करने के योग्य बनाता है वह न्यायोचित भोजन है, और इसी प्रकार वह मैथुन भी न्यायोचित (जायज) है, जो सन्तानोत्पत्त्यर्थ (वंश चलाने के पद रूप से) किया जाता है।

" 'यह कहना सही है कि स्व-पत्नी के साथ किया हुआ संयोग भी आचार-विरुद्ध अर्थात् व्यभिचार है, यदि वह बिना आध्यात्मिक (विशुद्ध) प्रेम के केवल विषय-सुख के लिए और इसलिए नियत समय के ऊपर न किया गया हो पर यह कहना सर्वथा अनुचित और भ्रमपूर्ण है कि सन्तानोत्पत्त्यर्थ और विशुद्ध आध्यात्मिक प्रेम के होते हुए किया गया मैथुन भी पाप है। वास्तव में वह पाप नहीं किन्तु ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है[2]।"

संयोग के दो प्रयोजन हो सकते हैं—एक विषय-वासना की पूर्ति और दो प्रकृत से प्रजोत्पादन। ऊपर के दोनों वक्तव्यों का सार यह है कि विवाहित जीवन का यह नियम होना चाहिए कि कोई भी पति-पत्नी बिना आवश्यकता के प्रजोत्पत्ति न करें और प्रजोत्पादन के हेतु बिना संयोग न करें। महात्मा गांधी की दृष्टि में संयोग एक ही सन्तान के लिए हो सकता है उसके बाद नहीं होना चाहिए। संत टॉल्स्टॉय के अनुसार

१—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० ८५

२—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० ८५-८७ का सार

३—स्त्री और पुरुष पृ० ५१ १ म संक्षिप्त

कर्तव्यपूर्वक जितनी सन्तानों के पालन की क्षमता दम्पति में हो उतनी सन्तानों के लिए हो सकता है। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार भी एक सन्तति का विधान नहीं है, जैसा कि उपर्युक्त कथा से स्पष्ट है।

महात्मा गांधी के अनुसार कामाग्नि की तृप्ति के कारण किया हुआ संभोग त्याज्य है—निन्द्य नहीं। संत टॉलस्टॉय कहते हैं "यदि तू स्त्री को—भले ही वह तेरी पत्नी हो—एक भोग और आमोद प्रमोद की सामग्री समझता है तो व्यभिचार करता है। विषयानन्द पतन है[1]।"

जैन दृष्टि से विषय-तृप्ति और सन्तानोत्पत्ति—ये दोनों ही हेतु सावद्य—पापपूर्ण हैं। सन्तान की कामना स्वयं एक वासना है। संभोग क्रिया में—फिर वह भले ही किसी भी हेतु से हो—इन्द्रियों के विषयों का सेवन होता ही है। मोह-जनित नाना प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं। ये सब विकार हैं। यह संभव है कि कोई संभोग तीव्र परिणामों से करे और कोई हल्के परिणामों से। जो तीव्र परिणामों से प्रवृत्त होता है वह गाढ़ बंधन करता है और जो हल्के परिणामों से प्रवृत्त होता है, उसका बंधन हल्का होता है।

सन्तानोत्पत्ति में स्वधर्म पालन जैसी कोई बात नहीं। अपने पीछे अपना वारिस छोड़ जाने की भावना में मोह और अहंकार ही है। अनासक्तिपूर्वक सन्तानोत्पादन करनेवाला ब्रह्मचारी ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह भी भोगी है। यदि भावों में तीव्रता नहीं है तो उसका बंधन कठोर नहीं होता। इतनी ही बात है। हेतु से दोषपूर्ण क्रिया निर्दोष नहीं हो सकती। अशुद्ध साधन हेतुवश—प्रयोजनवश शुद्ध नहीं हो सकता।

जैन दृष्टि से एकबार के संभोग में मनुष्य नौ लाख सूक्ष्म पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करता है (भगवती २.५ और टीका)।

आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं

> योनियन्त्रसमुत्पन्नाः सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः।
>
> पीड्यमाना विपद्यन्ते यत्र तन्मैथुनं त्यजेत्[2]॥

प्रश्नव्याकरण सूत्र में अब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में कहा है

'अब्रह्मचर्य चौथा पाप-द्वार है। यह कितना आश्चर्य है कि देवों से लेकर मनुष्य और असुर तक इसके पीछे दीन भिखारी बने हुए हैं।

"यह काई और कीचड़ की तरह फँसानेवाला और पाश की तरह बंधन रूप है। यह तप संयम और ब्रह्मचर्य को छिन्न करनेवाला चारित्र-रूपी जीवन का नाश करनेवाला और अत्यन्त प्रमाद का मूल है। यह कायर और कापुरुषों द्वारा सेवित और सत्पुरुषों द्वारा त्यागा हुआ है। स्वर्ग नरक और तिर्यञ्च, इन तीनों लोक का आधार—संसार की नींव और उसकी वृद्धि का कारण है। जरा-मरण रोग-शोक की परम्परा वाला है। वध बन्धन और मरण से भी इसकी चोट गहरी होती है। दर्शन—तत्त्वों में विश्वास करने और चारित्र—स्वधर्म अङ्गीकार करने में विघ्न करनेवाले मोहनीयकर्म का हेतुभूत—कारण है। जीव ने जिस का चिर सेवन किया फिर भी जिससे तृप्ति नहीं हुई—ऐसा यह चौथा आस्रवद्वार दुरन्त और दुःखवाला है[3]। यह अधर्म का मूल और महा दोषों की जन्मभूमि है[4]।

"अब्रह्मचर्य-सेवन से अल्प इन्द्रिय-सुख मिलता है परन्तु बाद में यह बहुत दुःखों का हेतु होता है। यह आत्मा के लिए महा भय का कारण है। पाप-रज से भरा हुआ है। फल देने में बड़ा कठोर है—दारुण है। सहस्रों वर्षों तक इसका फल नहीं चुकता—जीव को इसके दुःखफल बहुत दीर्घ काल तक भोगने पड़ते हैं[5]।

अब्रह्म की यह प्रकृति सन्तानोत्पत्ति के हेतु से नहीं मिट सकती और वह हमेशा है वैसी ही सदोष रहेगी। श्रमण भगवान् महावीर के अनुसार सन्तानोत्पत्त्यर्थ किया हुआ मैथुन भी पाप है। पति-पत्नी का विषय-तृप्ति के लिए किया हुआ मैथुन लोक-निंद्य अथवा नहीं है पर ज्ञानियों की दृष्टि में अपने मूल स्वरूप में वह भी पाप ही है और जिन-आज्ञा सम्मत नहीं।

१—स्त्री और पुरुष पृ० १२

२—योगशास्त्र २.७९

३—प्रश्नव्याकरण सूत्र : चतुर्थ आस्रव द्वार

४—दशवैकालिक सूत्र ६ १०

५—प्रश्नव्याकरण सूत्र चतुर्थ आस्रव द्वार

१२-भाई-बहिन का आदर्श

संत टॉल्स्टॉय लिखते हैं :

"मनुष्य को चाहिए कि वह संयम के महत्व को समझ ले। जो संयम अविवाहित अवस्था में मनुष्य के गौरव की अनिवार्य शर्त है, वह विवाहित जीवन में इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। विवाहित स्त्री-पुरुष दाम्पत्य प्रेम को शुद्ध भाई-बहिन के प्रेम में परिणत कर दें।

"विवाह अपनी वासनाओं को पुष्ट करने का एक साधन नहीं बल्कि एक ऐसा पाप समझा जाय जिसका प्रायश्चित करना परमावश्यक है। इस पाप का इस तरह प्रायश्चित हो सकता है "पति और पत्नी दोनों विलासिता और विकार से मुक्त होने की कोशिश करें और इसमें एक दूसरे की सहायता करें, तथा आपस में उस पवित्र सम्बन्ध की स्थापना करने की भी कोशिश करें, जो भाई और बहिन के बीच होता है न कि प्रेमी और प्रेमिका के बीच[1]।"

इसी विचार को महात्मा गांधी ने भी दिया है

"विवाहित अविवाहित-सा हो जाय[2]।"

'मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श असम्भव है और 'तुम स्त्री-पुरुष में जो एक दूसरे के प्रति आकर्षण है उसका खयाल नहीं करते।' पर जिस काम-भरित आकर्षण की ओर संकेत है मैं उसे स्वाभाविक मानने से इनकार करता हूँ। वह प्रकृति प्रेरित हो तो हमें जान लेना चाहिए कि प्रलय होने में अधिक देर नहीं है। स्त्री और पुरुष के बीच का सहज आकर्षण वह है जो भाई और बहिन, माँ और बेटे, बाप और बेटी के बीच होता है। संसार इसी स्वाभाविक आकर्षण पर टिका है। मैं सम्पूर्ण नारी-जाति को अपनी बहिन, बेटी और माँ न मानूँ तो काम करना तो दूर रहे, मेरे लिए जीना भी कठिन हो जायगा। मैं उन्हें वासनाभरी दृष्टि से देखूँ तो यह नरक का सीधा रास्ता होगा[3]।" "नहीं मुझे अपनी सारी शक्ति के साथ कहना होगा कि काम का आकर्षण पति-पत्नी के बीच भी अस्वाभाविक है। पति-पत्नी के बीच भी कामना रहित प्रेम होना नामुमकिन नहीं है[4]।

नीचे हम एक पुरानी जन-कथा दे रहे हैं जो आज के युग में भी नये मूल्यों की प्रतिष्ठा में सहायक होगी और जो पति-पत्नी में भाई-बहिन के भाव का विचार बहुत पहले से देती आ रही है

कौशाम्बी नगरी में धनवा सेठ का लड़का विजय कुमार रहता था। एक बार उस नगरी में एक मुनि आये। विजय कुमार उनके दर्शन के लिए गया। मुनि ने दर्शन के लिए आए हुए लोगों को धर्मोपदेश दिया। विजय कुमार उपदेश से प्रभावित हुआ और उसने यावज्जीवन के लिए परदार का त्याग किया। साथ ही उसने कृष्णपक्ष में स्वदार का भी यावज्जीवन के लिए त्याग किया।

उसी नगरी में एक दूसरा सेठ धनसार था। उसकी पुत्री का नाम विजय कुमारी था। वह बड़ी लावण्यवती और गुणवती थी। यौवना वस्था आने पर विजय कुमार और विजय कुमारी का पाणिग्रहण हुआ। विजय कुमारी जैसी सुन्दर थी वैसा ही विजय कुमार था।

प्रथम रात्रि में विजय कुमारी विजय कुमार के पास आयी। तब कुमार बोला—"तीन दिन मेरे पास नहीं आना है।" कुमारी बोली—'आप इस समय मुझ किस कारण से रोकते हैं?' कुमार बोला—"मुझ कृष्णपक्ष का प्रत्याख्यान है। उसके बीतने में तीन दिन बाकी हैं।" विजय कुमारी चिन्तित होकर बोली—"मुझे शुक्लपक्ष का प्रत्याख्यान है। आप दूसरा विवाह करें।" विजय कुमार बोला— 'प्रिये! सहज ही पाप से बचाव हुआ। अब्रह्म अनर्थ का मूल है। हम दोनों यावज्जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करें।" विजय कुमारी बोली—"हम लोगों की यह बात छिपी कैसे रह सकेगी? प्रकट होने पर आपको तो विवाह करना ही पड़ेगा।" विजय कुमार बोला—"बात प्रकट होने पर दोनों संयम ग्रहण करेंगे और आत्म-शुद्धि के लिए युद्ध करेंगे। हम लोग अनन्त बार कामभोग भोग चुके। उनसे कभी तृप्ति नहीं हुई

पति-पत्नी दोनों साथ-साथ सामायिक पौषध करते। एक ही शय्या पर सोते और एक दूसरे को भाई-बहिन की दृष्टि से देखते हुए

१—स्त्री और पुरुष पृ० ७२१, ७४

२—महात्मा (भी) पृ० ६७

३—अनीति की राह पर पृ० ७ १

४—वही पृ० ७१

तो मानो कि उनके साथ विवाह कर बाद में प्रव्रज्या लो। अगर तुम विवाह किए बिना ही संयम लोगे तो हमें यह बात जीवन भर अखरती रहेगी कि तुम्हारी मांगो का विवाह अन्य किसी के साथ हुआ।'

माता-पिता को अत्यंत दुःखी और विलाप करते हुए देख जम्बूकुमार सोचने लगे—"मैंने ब्रह्मचर्य ग्रहण किया है, विवाह करने का परित्याग नहीं किया है। क्यों न माता-पिता की बात रख दूं? विवाह के बाद भी मैं ब्रह्मचर्य के नियम का भङ्ग नहीं करूँगा और दीक्षा लूँगा।"

जम्बूकुमार ने विवाह की स्वीकृति दी। माता पिता ने बड़े धमधूम से दिन निर्धारित किया और हर्षोत्सव मनाये जाने लगे।

जम्बूकुमार ने सोचा—"मेरे ससुरालवालों को मेरे ब्रह्मचर्य ग्रहण करने की बात मालूम नहीं। मेरा कर्तव्य है कि इस बात को प्रकट कर दूं ताकि मेरे आठों ही सास-ससुर और ससुरालवालों को इसका पता रहे, तथा आठ कन्याओं के ध्यान में भी यह बात आ जाय। और वे अपना कर्तव्य सोच सकें। यदि अपने नियम की सूचना मैं उन्हें नहीं करता तो मेरी ओर से यह एक बहुत बड़े धोखे की बात होगी।

ऐसा विचार कर जम्बूकुमार ने दूत द्वारा आठों ससुरालों में इसकी सूचना भेज दी। समाचार पाकर आठों कन्याएं विचार में पड़ गयीं और फिर एकत्र हो विचार किया

'उधर ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लिया और इधर हम सब से विवाह कर रहे हैं। मालूम होता है उनके परिणाम शिथिल हैं। यदि ब्रह्मचर्य पालन के विचार दृढ़ होते तो विवाह ही क्यों करते? माता-पिता के प्रेमवश उन्होंने हमलोगों से पाणि-ग्रहण करना मंजूर कर लिया तो हमलोगों के प्रेमवश वे संयम लेने का विचार भी छोड़ देंगे। यदि हमें सबके प्रेम जाल में न पड़ वे प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे तो हम सब भी उनका अनुसरण करेंगी। हम जम्बूकुमार के सिवा किसी के साथ विवाह नहीं कर सकतीं। यह हमलोगों के लिए युक्त नहीं।" इस तरह दृढ़ निश्चय कर सबने विवाह करने का विचार स्थिर रखा।

माता-पिता से वे बोलीं—"आप फिकर न करें। हम विवाह करेंगी तो जंबूकुमार के साथ ही। इस लोक जीने के लिए हम अन्य किसी के साथ विवाह नहीं कर सकती। यदि जंबूकुमार घर में रहते हुए शील का पालन करेंगे तो हम भी वैसा ही करेंगी। यदि वे संयम ग्रहण करेंगे तो हम भी उनका अनुसरण कर संयम ग्रहण करेंगी। यदि वे घर में रह कर गृहवास करेंगे तो वे हमारे कंत होंगे और हम उनकी कामिनियाँ। उनकी इच्छा है वैसा वे करें। उसी के अनुसार हम करेंगी। हमारा प्रण है कि हम जंबूकुमार को छोड़ अन्य से विवाह नहीं करेंगी।"

इसके बाद आठों कन्याओं का पाणि-ग्रहण जम्बूकुमार के साथ हुआ। विवाह की रात्रि में वे महल में गये। देवाङ्गना सदृश आठों पत्नियाँ वहाँ उपस्थित हुईं। जंबूकुमार सोचने लगे—इन्होंने मेरा पाणिग्रहण किया है, इसलिए इनके साथ रात बिताऊं। इनके साथ विवाह हुआ है, इसलिए ये मेरी पत्नियाँ हैं और मैं इनका पति हूँ। पर मैं पूर्ण ब्रह्मचारी हूँ उस दृष्टि से ये मेरी माता और बहिन की तरह हैं। मैं इनके प्रति जरा भी दोषपूर्ण दृष्टि से नहीं देखूँगा और अपने शील में दृढ़ रहूँगा। मुझ से विवाह कर ये मेरे पास आयी हैं। मेरा कर्तव्य है कि इन्हें भी समझा कर इनके साथ ही घर से निकलूं जिससे मेरे साथ इनकी भी आत्मा का कल्याण हो।

थांरो सुन्दर रूप आकार, मल मूत्र नों भंडार। हाड मांस लोही रस मांय त्यां में एकी वस्तु न काम॥
अशुचि अपवित्र नों छै ठाम यां सूं मूल नहीं म्हारे काम। रहिस्यो आछो नहीं त्यारे पास, यां सूं दुःख करे नरवास॥
पिण मो लोछ्या छ म्हां सूं हाथ ता हिवे भाछो पूरीकद्द रात। परणी मैं छ म्हांरी नार, हूं पिण थांरो भरतार॥
पिण हूं ब्रह्मचारी सुखमाल तिण लेखे छ मा बेन समान। तो मांसूं आठी नजर न जासूं शीलव्रत चोखे बिताजासूं॥
ए मोनें परणी मो पासे आई तो आठांई नें हूं समझाई। यां नें पिण लें निकलूं बार ज्यूं थांरोई बेगो हुवे पार[1]॥

इसके बाद जम्बूकुमार और उन सब में बड़ा रसप्रद वार्तालाप हुआ। वे जंबूकुमार को अनेक हेतु दृष्टान्तों के द्वारा गृहवास की ओर आकर्षित करने की चेष्टा करने लगीं। जम्बूकुमार वैराग्यपूर्ण हेतु दृष्टान्तों के द्वारा वैराग्य की पिचकारियाँ छोड़ने लगे। रात भर में उन्होंने आठों ही पत्नियों को संयम के लिए तैयार कर लिया।

रात में प्रभव नामक चोर अपने पाँच सौ साथियों के साथ चोरी करने के लिए जम्बूकुमार के महल में घुस गया था। वह दहेज में आये हुए धन का बटोर ले गया। तभी उसने जम्बूकुमार और उनकी नव विवाहित पत्नियों के बीच हुई बातचीत को सुना। उसका हृदय वैराग्य से प्लावित हो गया। उसने भी अपने साथियों सहित संयम ग्रहण करने का निश्चय किया। प्रातः सबको ले कर जम्बूकुमार अपने माता-पिता के पास आये। यह सब देखकर उनके मन में भी वैराग्य उमड़ पड़ा और इन सब ने जम्बूकुमार के साथ दीक्षा ली।

जम्बू स्वामी आखिरी केवली थे। वे संयम का अच्छी तरह पालन कर सिद्ध बुद्ध और मुक्त हुए।

१—भिक्षु-ग्रन्थरत्नाकर (खण्ड १) पृ० १८ ढाल १२ गा० ४८

१३-विवाह और जैन दृष्टि

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जैनधर्म विवाह विधान नहीं देता। विवाह को अनाध्यात्मिक समझता है। जैनधर्म ब्रह्म से निवृत्ति रूप है और गार्हस्थ्य उसमें प्रवृत्ति रूप … अतः वह गार्हस्थ्य का विधान नहीं करता। उसका आदर्श महाव्रत है और उसमें प्रवृत्ति रूप है, इसलिए भी उसमें गार्हस्थ्य से निवृत्ति का ही विधान हो सकता है।

ईसा का विवाह सम्बन्धी दृष्टिकोण जैन प्रवचन के बहुत समीप है। संत टॉलस्टॉय लिखते हैं

"रति (संभोग) तथा ऐसी ही अन्य बातों में—जैसे हिंसा क्रोध आदि—मनुष्य को चाहिए कि वह कभी आदर्श को नीचा न करे और न कभी कोई रूपान्तर ही करे[१]।" "पूर्ण शुद्ध ब्रह्मचर्य आदर्श है। परमात्मा की सेवा करनेवाला विवाह की उतनी ही इच्छा करेगा जितनी शराब पीने की। पर शुद्ध ब्रह्मचर्य के राजमार्ग में कई मञ्जिलें हैं। यदि कोई पूछे कि हम विवाह करें या नहीं तो उसे केवल यही उत्तर दिया जा सकता है कि यदि आपको ब्रह्मचर्य के आदर्श का दर्शन नहीं हो पाता हो तो जबरदस्ती उसके सामने अपना सिर न झुकाओ। हाँ वैवाहिक जीवन में विषयों का उपभोग करते हुए धीरे-धीरे उस आदर्श की ओर बढ़ो। यदि मैं ऊँचा हूँ और दूर की इमारत को देख सकता हूँ और मुझसे नीचे कदवाला मेरा साथी उसे नहीं देख पाता तो मैं उसे उसी दिशा में कोई नजदीकवाली वस्तु दिखा कर अदृष्ट स्थान की कल्पना कराऊँगा। उसी प्रकार जो लोग सुदूरवर्ती ब्रह्मचर्य के आदर्श को नहीं देख पाते उनके लिए ईमानदारी के साथ विवाह करना उस दिशा की एक पास की मंजिल है। पर यह मेरी और आपकी बताई मंजिल है। स्वयं ईसा तो सिवा ब्रह्मचर्य के और किसी आदर्श को न तो बता सकते थे और न उन्होंने बताया ही है।

'धर्म-ग्रन्थ में विवाह की आज्ञा नहीं है। उसमें तो विवाह का निषेध ही है। अनीति विलास तथा अनेक स्त्री-संयोग भी बड़े-से-बड़े शब्दों में निन्द्य समझते की गयी है। विवाह-संस्था का तो उसमें उल्लेख भी नहीं है[२]।

"ईसाई धर्म के अनुसार न तो कभी विवाह हुआ है और न हो ही सकता है, क्योंकि धर्म विवाह की आज्ञा नहीं करता ठीक उसी तरह जैसे कि धन संचय करने का भी आदेश नहीं करता। हाँ इन दोनों का दुरुपयोग करने पर अवश्य वह जोर देता है।

वैदिक संस्कृति में गार्हस्थ्य ही प्रधान रहा। क्योंकि वेद के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम विद्याकाल रहा और उसके बाद गार्हस्थ्य आरम्भ होता जो जीवन के अन्त तक रहता। उपनिषद् काल में वानप्रस्थ और बाद में स्मृतिकाल में सन्यास पल्लवित हुआ फिर भी गार्हस्थ्य आश्रम ही ज्येष्ठ कहा जाता रहा। ऐसी स्थिति में विवाह संस्था का वैदिक संस्कृति में मुख्यत्व रहा है और वैदिक संस्कृति के क्रियाकाण्ड में सन्तान का प्रजनन आवश्यक होने से विवाह और प्रजनन के भी आदेश वेद जैसे धर्म ग्रंथों में उपलब्ध हैं।

एक बार महात्मा गांधी से पूछा गया—"क्या आप विवाह के विरुद्ध हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—'मनुष्य जीवन का सार्थक्य मोक्ष है। हिन्दू के तौर पर मैं मानता हूँ कि मोक्ष अर्थात् जीवन-मरण की घट-माल से मुक्ति—ईश्वर-साक्षात्कार। मोक्ष के लिए शरीर के बन्धन टूटने चाहिएँ। शरीर के बन्धन तोड़नेवाली हरएक वस्तु पथ्य और दूसरी अपथ्य है। विवाह बन्धन तोड़ने के बदले उसे उलटा अधिक जकड़ देता है। ब्रह्मचर्य ही ऐसी वस्तु है जो कि मनुष्य के बन्धन मर्यादित कर ईश्वरार्पित जीवन बिताने में उसे शक्तिमान करता है। विवाह में तो सामान्य रूप से विषय-वासना की तृप्ति का ही हेतु रहा हुआ है। इसका परिणाम शुभ नहीं। ब्रह्मचर्य के परिणाम सुन्दर हैं।

जैन दृष्टि का स्पष्टीकरण करते हुए पं० सुखलालजी एवं बेचरदासजी लिखते हैं—"जीवन में गृहस्थाश्रम राजमार्ग के प्रसंगों के विचार का केन्द्र है। इससे जिस धर्म में गृहस्थाश्रम का विधान किया गया है, वह प्रवृत्तिधर्म और जिस धर्म में गृहस्थाश्रम का नहीं पर मात्र त्याग का विधान है वह निवृत्तिधर्म है। जैन धर्म निवृत्तिधर्म होने पर भी उसके पालन करनेवालों में जो गृहस्थाश्रम का विभाग देखा जाता है, वह निवृत्ति की अपूर्णता के कारण है। सर्वांश में निवृत्ति प्राप्त करने में असमर्थ व्यक्ति जितने-जितने अंशों में निवृत्ति का सेवन करता है उतने-उतने अंशों में वह जैन है। जिन अंशों में निवृत्ति का सेवन न कर सके उन अंशों में अपनी परिस्थिति अनुसार विवेकदृष्टि से वह प्रवृत्ति की रचना कर ले पर इस प्रवृत्ति का विधान जैन शास्त्र नहीं करता। उसका विधान तो मात्र निवृत्ति का है। इससे जैन धर्म को विधान की दृष्टि से एकाश्रमी कहा जा सकता है। वह एकाश्रम माने ब्रह्मचर्य और संन्यास आश्रम का एकीकरणरूप त्याग का आश्रम[६]।"

१—स्त्री और पुरुष पृ० [illegible]   २—वही पृ० [illegible]   ३—वही पृ० [illegible]
४—वही पृ० [illegible]   ५—सत्यम (अं०) पृ० [illegible]   ६—जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्यविचार पृ० [illegible]

१४-ब्रह्मचर्य के विषय में दो बड़ी शंकाएँ

ब्रह्मचर्य के विषय में प्रायः दो शंकाएँ सामने आती हैं—(१) क्या ब्रह्मचर्य अव्यावहारिक नहीं ? और (२) उसके पालन से क्या मनुष्य-जाति का नाश नहीं हो जायगा ? इन दोनों का निराकरण नीचे दिया गया है

(१) क्या ब्रह्मचर्य अव्यावहारिक नहीं ?

इस प्रश्न पर टॉल्स्टॉय ने बड़े अच्छे ढंग से विचार किया है। उन्होंने कहा है :

'कुछ लोगों को ब्रह्मचर्य के विचार विचित्र और विपरीत मालूम होंगे और सचमुच विपरीत हैं भी। किन्तु अपने प्रति नहीं हमारे वर्तमान जीवन-क्रम के एकदम विपरीत हैं।

'लोग कहेंगे—ये तो सिद्धान्त की बातें हैं। भले ही ये सच्ची हों तो भी हैं ये आखिर उपदेश। ये आदर्श अप्राप्य हैं। ये संसार में हमारा हाथ पकड़कर नहीं ले जा सकते। ये प्रत्यक्ष जीवन के लिए एकदम निरुपयोगी हैं इत्यादि इत्यादि।

'किन्तु सही है कि अपनी कमजोरी से मेल बढ़ाने के लिए आदर्श को ढीला करते ही यह नहीं सूझ पड़ता है कि कहाँ ठहरा जाय ?

'यदि एक जहाज का कप्तान कहे कि मैं कम्पास द्वारा बतायी जानेवाली दिशा में ही नहीं जा सकता इसलिए मैं उसे उठाकर समुद्र में डाल दूँगा उसकी तरफ देखना ही बन्द कर दूँगा या मैं कम्पास की सुई को पकड़ कर उस दिशा में खींच दूँगा जिधर मेरा जहाज जा रहा है (अर्थात् अपनी कमजोरी तक आदर्श को नीचे खींच लूँगा) तो निस्सन्देह बेवकूफ कहा जायगा।

नाविक का अपने कम्पास अर्थात् दिशा-दर्शक यन्त्र में विश्वास करना जितना आवश्यक है उतना ही मनुष्य का इन उपदेशों में विश्वास करना भी है। मनुष्य चाहे किसी परिस्थिति में क्यों न हो आदर्श का उपदेश उसे यह निश्चित रूप से बताने के लिए सदा उपयोगी होगा कि उस मनुष्य को क्या-क्या बातें नहीं करनी चाहिए। पर चाहिए उस उपदेश में पूरा विश्वास अनन्य श्रद्धा। जिस प्रकार जहाज का मल्लाह या कप्तान उस कम्पास को छोड़ दायें-बायें आनेवाली और किसी चीज का ख्याल नहीं करता उसी प्रकार मनुष्य को भी इन उपदेशों में पूरी श्रद्धा रखनी चाहिए।

'बतलाये हुए आदर्शों से हम कितने दूर हैं यह जानने से मनुष्य को कभी डरना न चाहिए। मनुष्य किसी भी सतह पर या किसी भी हालत में क्यों न हो वहाँ से वह बराबर आदर्श की तरफ बढ़ सकता है। साथ ही वह कितना ही आगे क्यों न बढ़ जाये वह कभी यह नहीं कह सकता कि अब मैं ठेठ तक पहुँच गया या अब आगे बढ़ने के लिए कोई मार्ग ही न रहा।

"आदर्शों के प्रति और खासकर ब्रह्मचर्य के प्रति मनुष्य की यह वृत्ति होनी चाहिए।

'यह सत्य नहीं कि आदर्शों के ऊँचे पूर्ण और दुरूह होने के कारण हमें अपने मार्ग में आगे बढ़ने में कोई सहायता नहीं मिलती। हमें उससे प्रेरणा और स्फूर्ति इसलिए नहीं मिलती कि हम अपने प्रति असत्य आचरण करके अपने आपको धोखा देते हैं।

'हम अपने आपको समझाते हैं कि हमारे लिए अधिक व्यावहारिक नियमों का होना जरूरी है, क्योंकि ऐसा न होने पर हम अपने आदर्श से गिरकर पाप में पड़ जायेंगे। इसके स्पष्ट मानी यह नहीं कि आदर्श बहुत ऊँचा है बल्कि हमारा मतलब यह है कि हम उसमें विश्वास नहीं करते और न उसके अनुसार अपने जीवन का नियमन ही करना चाहते हैं।

"लोग कहते हैं, मनुष्य स्वभावतः अपूर्ण है। उसे वही काम दिया जाये जो उसकी शक्ति के अनुसार हो। इसके मानी तो यही हुए कि मेरा हाथ कमजोर होने से मैं सीधी रेखा नहीं खींच सकता इसलिए सीधी रेखा खींचने के लिए मेरे सामने टेढ़ी या टूटी लकीर का ही नमूना रखा जाय। पर बात यह है कि मेरा हाथ जितना ही कमजोर हो बस, उतना ही पूर्ण नमूना मेरे सामने होना आवश्यक है।

"किनारे के नजदीक से होकर चलनेवाले जहाज के लिए यह भले ही कहा जा सकता है कि उस सीधी-ऊँची चट्टान के नजदीक से होकर चलो उस अन्तरीप के पास से उस मीनार के बायें होकर चले चलो। पर अब तो हमने जमीन को बहुत दूर पीछे छोड़ दिया। अब तो नजत्रों और दिशा-दर्शक-यन्त्र की सहायता से ही हमें अपना रास्ता ढूँढ़ना होगा और ये दोनों हमारे पास मौजूद हैं।"

१—स्त्री और पुरुष पृ म ८ तक का सार

(२) क्या ब्रह्मचर्य से मनुष्य जाति नाश को प्राप्त न हो जायेगी ?

इस प्रश्न का भी उत्तर टॉल्स्टॉय ने अतीव सुन्दर-ढंग से इस प्रकार दिया है

"लोग पूछते हैं—यदि ब्रह्मचर्य विषयोपभोग की अपेक्षा श्रेष्ठ है, तो यह स्पष्ट है कि मनुष्य को श्रेष्ठमार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। पर यदि वे ऐसा करें तो मनुष्य-जाति नष्ट न हो जायगी ?

"किन्तु पुरातत्व से मनुष्य-जाति के मिट जाने का डर कोई नवीन बात नहीं है। धार्मिक लोग इस पर बड़ी श्रद्धा रखते हैं और वैज्ञानिकों के लिए सूर्य के ठण्ढा होने के बाद यह एक अनिवार्य बात है।'

"इस तरह की दलील पेश करनेवालों के दिमाग में नीति नियम और आदर्श का भेद स्पष्ट नहीं है।

"ब्रह्मचर्य कोई उपदेश अथवा नियम नहीं वह तो आदर्श अथवा आदर्शों की शर्तों में से एक है। आदर्श तो तभी आदर्श कहा जा सकता है जब उसकी प्राप्ति कल्पना द्वारा ही सम्भव हो जब उसकी प्राप्ति अनन्त की 'भाव' में छिपी हो। और इसलिए उसके पास जाने की संभावना भी अनन्त है। यदि आदर्श प्राप्त हो जाये अथवा हम उसकी प्राप्ति की कल्पना भी कर सकें तो वह आदर्श ही नहीं रहा।

"पृथ्वी पर परमात्मा के राज्य की अर्थात् स्वर्ग की स्थापना करने का आदर्श ऐसा ही था। अतः इस उच्च आदर्श की पूर्णता की तरफ कदम बढ़ाने और ब्रह्मचर्य को इस आदर्श का एक अङ्ग मानकर चलने से जीवन का विनाश संभव नहीं बल्कि उसके विपरीत बात तो यह ठीक है कि इस आदर्श का अभाव ही हमारी प्रगति के लिए हानिकारक और इसलिए सच्चे जीवन के लिए बाधक होगा।

"जीवन कलह को छोड़कर यदि हम मित्र-शत्रु प्राणी-मात्र के प्रति प्रेम धर्म के आदेश के अनुसार रहने लग जाय तो क्या मनुष्य जाति नष्ट हो जायगी ? प्रेम-धर्म के पालन से मनुष्य-जाति के विनाश का सन्देह करने के समान ही ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य-जाति का विनाश होने की शंका करना है[१]।

'पूर्णता को प्राप्त करने की कसौटी है ब्रह्मचर्य। यदि मनुष्य सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने लग जाय तो मानव-जाति का जीवनोद्देश्य ही सफल हो जाय। फिर मनुष्य के लिए पैदा होने और जीने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाय[२]।"

महात्मा गांधी के सामने प्रश्न आया— 'आप तो ब्रह्मचर्य का सबके लिए ही आग्रह करते होंगे ?' उन्होंने उत्तर दिया—"हां सबके लिए।" प्रश्नकर्ता ने कहा— 'तब तो संसार मिट जायगा ?' महात्माजी बोले— "नहीं संसार नहीं मिटेगा। ऐसी आदर्श स्थिति हो जाय तो सब मोक्षेच्छुओं का ही समाज होकर रहे—मनुष्य मनुष्य न रहें पर अतिमानव होकर बने रहें[३]।"

१५-क्या ब्रह्मचर्य एक आदर्श है ?

संत टॉल्स्टॉय सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य को एक आदर्श और शरीरधारी द्वारा अप्राप्य मानते हैं। उनके विचार इस प्रकार हैं :

"इस बात को कभी न भूल कि तू न तो कभी पूर्णतः ब्रह्मचारी रहा है और न रह सकता है। हाँ तो उसके नजदीक जरूर पहुँच सकता है और इस प्रयत्न में कभी निराशा न होनी चाहिए[४]।

"सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का नहीं पर इसके अधिक-से-अधिक नजदीक पहुँचने को ध्येय मानकर अपना कदम शुरू कीजिए। सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य तो एक आदर्श सृष्टि की वस्तु है। सच-सच कहा जाय तो शरीरधारी मनुष्य उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो केवल उस तरफ बढ़ने का प्रयत्न मात्र कर सकता है क्योंकि वह ब्रह्मचारी नहीं विकारपूर्ण है। यदि आदमी विकारपूर्ण नहीं होता तो उसके लिए न तो ब्रह्मचर्य के आदर्श की और न उसकी रचना ही की आवश्यकता होती। गलती तो यह है कि मनुष्य अपने सामने सम्पूर्ण (बाह्य—शारीरिक) ब्रह्मचर्य का आदर्श रखता है, न कि उसके लिए प्रयत्न करने का। प्रयत्न में एक बात भुलाई जाती है—यह कि हर हालत में और हमेशा ब्रह्मचर्य विकारावस्था से श्रेष्ठ है। सदा अधिकाधिक पवित्रता को प्राप्त करना मनुष्य का धर्म है[५]।

१—स्त्री और पुरुष पृ ११ से १३ तक का सार
२—वही पृ ५७
३—ब्रह्मचर्य (दी) पृ ८१
४—स्त्री और पुरुष पृ ६१
५—वही पृ ६१-७

महात्मा गांधी ने कहा है

'ब्रह्मचर्य का मानी है सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार। पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए कुछ भी असम्भव नहीं। पर यह आदर्श स्थिति है जिस तक विरले ही पहुँच पाते हैं। इसे ज्यामिति की रेखा कह सकते हैं, जिसका अस्तित्व केवल कल्पना में होता है इस रूप में कभी खींची ही नहीं जा सकती। फिर भी रेखागणित की यह एक महत्त्वपूर्ण परिभाषा है जिससे बड़े-बड़े नतीजे निकलते हैं। इसी तरह हो सकता है पूर्ण ब्रह्मचारी भी केवल कल्पना जगत में ही मिल सकता हो। फिर भी अगर हम इस आदर्श को सदा अपने मानस-नेत्रों के सामने न रखें तो हमारी दशा बिना पतवार की नाव जैसी हो जायगी। ज्यों-ज्यों हम इस काल्पनिक स्थिति के पास पहुँचेंगे त्यों-त्यों अधिकाधिक पूर्णता प्राप्त करते जायेंगे[1]।"

ऐसा लगता है जैसे संत टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी एक ही विचार के हों पर दोनों में अन्तर है।

महात्मा गांधी आदर्श ब्रह्मचर्य को प्राप्य और उसका अखण्ड पालन संभव मानते थे और इस बात में संत टॉल्स्टॉय से भिन्न मत रखते। यह बात निम्न प्रसंग से स्पष्ट होगी। एक बार उनसे पूछा गया— "ब्रह्मचर्य के मानी क्या हैं ? क्या उसका पूर्ण पालन सम्भव है ? और है तो क्या आप उसका पालन करते हैं ?" उसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया था— "ब्रह्मचर्य का पूरा और सच्चा अर्थ है—ब्रह्म की खोज। ब्रह्म सब में बसता है इसलिए वह खोज अन्तर्ध्यान और उससे उपजनेवाले अन्तर्ज्ञान के सहारे होती है। अन्तर्ज्ञान इन्द्रियों के सम्पूर्ण संयम के बिना असम्भव है अतः मन वाणी और काया से संपूर्ण इन्द्रियों का सदा सब विषयों में संयम ब्रह्मचर्य है। ऐसे ब्रह्मचर्य का संपूर्ण पालनकरनेवाला स्त्री या पुरुष नितान्त निर्विकार होता है। ऐसा ब्रह्मचर्य कायमनोवाक्य से अखण्ड पालन हो सकनेवाली बात है, इस विषय में मुझे तिल भर भी शंका नहीं इस संपूर्ण ब्रह्मचर्य की स्थिति को मैं अभी नहीं पहुँच सका हूँ। और इस देह में ही वह स्थिति प्राप्त करने की आशा भी मैंने नहीं छोड़ी है।

जैन धर्म के अनुसार संसारी जीव भिन्न-भिन्न प्रकृति (स्वभाव) के कर्मों से बंधा हुआ है। इनमें से एक कर्म मोहनीय कहलाता है। जिस तरह मदिरा-पान से मनुष्य अपने भान को भूल जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के कारण वह मतवाला—मूढ़ होता है। इस मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—(१) दर्शन-मोहनीय और (२) चारित्र-मोहनीय। दर्शन-मोहनीय कर्म का उदय शुद्ध दृष्टि—श्रद्धा को आवरित्त करता है, उसे प्रकट नहीं होने देता। इससे धर्म में श्रद्धा—विश्वास—रुचि उत्पन्न नहीं होती। चारित्र मोहनीय का उदय चारित्र उत्पन्न नहीं होने देता। वह धर्म को जीवन में नहीं उतरने देता। इसके उदय से कषाय हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री वेद (पुरुष के साथ भोग की अभिलाषा) पुरुष वेद (स्त्री के साथ भोग की अभिलाषा) और नपुंसक वेद (स्त्री-पुरुष दोनों के साथ भोग की अभिलाषा) उत्पन्न होते हैं। जैन धर्म मानता है कि इस मोहनीय कर्म का सब क्षय मनुष्य-जीवन में संभव है। इसका अर्थ है दृष्टि और चारित्र की परिपूर्णता का होना। इस स्थिति में ब्रह्मचर्य आदि चारित्र गुण पूर्ण शुद्धता के साथ प्रकट होते हैं। इस तरह जैन धर्म ब्रह्मचर्य का उसके सम्पूर्ण रूप में पालन सम्भव मानता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र (संवरद्वार ४ ई) में कहा है — "ब्रह्मचर्य सरल साधु पुरुषों द्वारा आचरित है (अज्जवसाहुजणाचरितं)· श्रेष्ठ यतियों द्वारा सुरक्षित और सु-आचरित है (जतिवररक्खियं सुचरियं) महा पुरुष धीर वीर, धार्मिक और धृतिवान् पुरुषों ने इसका सेवन किया है (महापुरिसधीरसूरधम्मियधितिमंताण य) भव्य जनों से अनुचीर्ण है (भव्वजणाणुचिन्नं)—अतः जब तक मनुष्य श्वेत अस्थियों से संयुक्त है, उसे सर्वथा विशुद्ध ब्रह्मचर्य का यावज्जीवन के लिए पालन करना चाहिए। इस महाव्रत को इसकी भावना के साथ पालन करनेवाले के द्वारा यह ब्रह्मचर्य स्पर्शित पालित शोधित तीर्ण कीर्तित आज्ञानुसार अनुपालित होता है—ऐसा यहाँ कहा गया है। यह सर्व मैथुन-विरमण रूप ब्रह्मचर्य की बात है। सम्पूर्ण संयम रूप ब्रह्मचर्य को भी वह प्राप्य और उसका पालन संभव मानता है— "क्लीब के लिए यह अप्राप्य है। जो तृष्णा रहित है उसके लिए दुष्कर नहीं"—"इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचिवि दुक्करं"[2]।

ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य केवल काल्पनिक आदर्श नहीं वह सम्पूर्ण साध्य है। अतीत में लोगों ने इसका पालन किया है, वर्तमान में करते हैं और भविष्य में भी करेंगे।

१—अनीति की राह पर पृ ५

२—वही पृ ५६

३—उत्तराध्ययन १९ ४४

१६—ब्रह्मचर्य स्वतंत्र सिद्धान्त है या उपसिद्धान्त

गांधीजी लिखते हैं— 'पतंजलि भगवान के पाँच महाव्रतों में से चार तो सत्य में छिपे हुए हैं। 'सब व्रत सत्य के पालन में से निकाले जा सकते हैं। तो भी एक सबसे बड़े सिद्धान्त को समझने के लिए अनेक उप-सिद्धान्त जानने पड़ते हैं[1]।'' ''वास्तव में देखने पर तो दूसरे सभी व्रत एक सत्य व्रत में से ही उत्पन्न होते हैं और उसके लिए उनका अस्तित्व है[2]।'

उन्होंने अन्यत्र कहा है— 'अहिंसा को हम साधन मानें सत्य को साध्य। हम एक ही मंत्र जपें—जो सत्य है वही है। वही एक परमेश्वर है। 'उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ना[3]।

उन्होंने फिर कहा है—''अहिंसा के पालन को लें उसका पूरा पालन ब्रह्मचर्य के बिना असाध्य है। अहिंसा व्रत का पालन करने वाले से विवाह नहीं बन सकता विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या[4]? इसी तरह ''जिस मनुष्य ने सत्य को वरा है उसकी उपासना करता है वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे तो व्यभिचारी बन जाता है[5]।

महात्मा गांधी के कहने के अनुसार ''परम सत्य अकेला खड़ा रहता है। सत्य साध्य है, अहिंसा एक साधन है[6]।'' अन्य व्रत अहिंसा क रक्षक हैं और इसके द्वारा सत्य के धर्म में रहते हैं।

उनके कहने का तात्पर्य है—'सत्य की उपासना करो'—यही विकास सिद्धांत है। इस सिद्धांत में से अहिंसा अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों की उत्पत्ति है।

संत टॉल्स्टॉय इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखते हैं

'ईसा ने कहा है— 'अपने स्वर्गस्थ पिता के समान पूर्ण बन''—यह आदर्श है।

'जिस प्रकार पथिक को रास्ता बताने के दो मार्ग होते हैं, उसी प्रकार सत्य की खोज करनेवाले के लिए भी नैतिक जीवन का मार्ग दिखानेवाले केवल दो ही उपाय हैं। एक उपाय के द्वारा पथिक को उसके रास्ते में मिलनेवाले चिह्नों और निशानों की सूचना दी जाती है, जिनको देख कर वह अपना रास्ता ढूंढता चला जावे और दूसरे के द्वारा उसको अपने पासवाले दिशा-दर्शक कम्पास की भाषा में रास्ता समझाया जाता है।

'नैतिक मार्ग-दर्शक पहले उपाय के अनुसार मनुष्य को बाहरी नियम बताते हैं। उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इसका साधारण ज्ञान दिया जाता है—मसलन सत्य का पालन कर, चोरी मत कर, किसी प्राणी की हत्या न कर, इत्यादि इत्यादि। धर्म के ये बाहरी नीति नियम हैं और किसी-न-किसी रूप में ये प्रत्येक धर्म में पाये जाते हैं।

'मनुष्य को नीति की ओर ले जाने का दूसरा उपाय यह है, जो उस पूर्णता की ओर इशारा करता है, जिसे मनुष्य कभी प्राप्त ही नहीं कर सकता। हां उसके 'हृदय' में यह आकांक्षा बनी रहती है कि वह उस पूर्णता को प्राप्त करे। एक आदर्श खड़ा किया जाता है, उसको देख कर मनुष्य अपनी कमजोरी या अपूर्णता का अन्दाज लगा सकता है और उसे दूर करने का प्रयत्न करता रहता है।

''बाह्य नियमों का जो मनुष्य पालन करता है, वह उस मनुष्य के समान है, जो खम्भे पर लगी हुई लालटेन के प्रकाश में खड़ा हो। वह प्रकाश में खड़ा है, प्रकाश उसके चारों ओर है, पर उसके आगे बढ़ने के लिए मार्ग नहीं है। उपदेशों पर जिसका विश्वास है, वह उस मनुष्य के समान है, जिसके आगे-आगे लालटेन चलती है। प्रकाश हमेशा उसके सामने ही रहता है और उसे बराबर अपना अनुसरण करते हुये आगे बढ़ते जाने की प्रेरणा करता रहता है। वह बराबर नये-नये दृश्यों को आकर्षित करता रहता है। एक सीढ़ी पर चढ़ते ही दूसरी पर पैर रखने की

१—ब्रह्मचर्य (दूसरा भाग) पृ ५१
२—ब्रह्मचर्य (श्री) पृ ४
३—सत्य महाव्रत अहिंसा पृ ८
४—ब्रह्मचर्य (श्री) पृ ४
५—ब्रह्मचर्य (श्री) पृ ४
६—मंगल प्रभात पृ १६

आवश्यकता हो जाती है, दूसरी पर पहुँचते ही तीसरी सीढ़ी दीखने लग जाती है। इस तरह वह आगे ही आगे बढ़ता जाता है। उसकी प्रगति का क्रम अनन्त है[1]।"

जैन धर्म के अनुसार मोक्ष साध्य है और अहिंसा उसका साधन। सर्व महाव्रत अहिंसा को पाने के लिए हैं और अहिंसा का महाव्रत मोक्ष को पाने के लिए। इस बात को आचार्यों ने इस रूप में रखा है

"व्रत एक ही है। सब जिनवरों ने एक ही व्रत निर्दिष्ट किया है और वह है प्राणातिपात विरमण व्रत। अन्य सब व्रत उसकी रक्षा के लिए हैं[2]।" "अहिंसा ही मुख्य है। सत्यादि के पालन का विधान उसके संरक्षण के लिए है[3]।" "अहिंसा धान की तरह है। सत्यादि व्रत उसके संरक्षण के लिए बाड़ों की तरह हैं[4]।" "अहिंसा जल है। अन्य व्रत उसके बाँध की तरह[5]।"

इस तरह जैन धर्म के अनुसार ब्रह्मचर्य अहिंसा से निकलता है और उसमें गर्भित है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में सत्य को ईश्वर कहा है[6]। वहीं कहा है—'सत्य ही लोक में सारभूत है[7]।' आचाराङ्ग सूत्र में कहा है "पुरुष! सत्य की आराधना कर। सत्य की आज्ञा में उपस्थित मेधावी मौत को तर जाता है[8]।" आचाराङ्ग में ही कहा है—"सत्य में धृति कर[9]।"

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—"आत्मा के द्वारा सत्य की गवेषणा कर[10]।" यह सत्य क्या है? यह सत्य कोई वाचा सत्य नहीं। यह सत्य कोई ऐसा साध्य है जो सब से इष्ट है—आत्मा का सब से बड़ा श्रेयस् है। वह और कुछ नहीं आत्मा का शुद्ध स्वरूप अथवा मोक्ष है।

सत्य की खोज के उपाय को बताते हुए कहा है—"सर्व भूतों से मैत्री कर[11]।" मैत्री का अर्थ है अद्रोह-भाव यानी हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरत होना। इस तरह सत्य—आत्म-स्वरूप—मोक्ष की गवेषणा अहिंसा आदि से होती है। सत्य—मोक्ष साध्य है और अहिंसा और उसके उपसिद्धांत ब्रह्मचर्यादि साधन हैं।

इस तरह जैन दृष्टि से ब्रह्मचर्य अहिंसा के गर्भ में समाता है। उसकी पुष्टि के द्वारा वह मोक्ष का द्वार है।

१—स्त्री और पुरुष पृ० १३ १४ का सार

२—एक्कं चिय एक्कवयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवाय विरमण—सव्वासत्तस्स रक्खट्ठा॥

३—अहिंसैषा मता मुख्या स्वर्गमोक्षप्रसाधनी।
एतत्संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम्॥

४—अहिंसा शस्य-संरक्षणे वृतिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्।

५—अहिंसा पयसः पालि—भूतान्यन्यव्रतानि यत्॥

६—द्वितीय संवर द्वार :
सच्चं भगवं

७—वही :
जं तं लोगम्मि सारभूयं

८—आचाराङ्ग १।३ २ ११९ :
पुरिसा सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ

९—वही १।३।१ ७
सच्चम्मि धिइं कुव्वहा

१०—उत्तराध्ययन ६ २
अप्पणा सच्चमेसेज्जा

११—(क) उत्तराध्ययन ६ २ :
अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए

(ख) सूत्रकृताङ्ग १ १५ ३ :
सया सच्चेण संपन्ने मेत्तिं भूएहिं कप्पए

१७-ब्रह्मचर्य की दो स्तुतियाँ

(क) वैदिक स्तुति

अथर्ववेद (११।५) में निम्न सूक्त मिलता है:

"आकाश-पृथ्वी दोनों लोकों को तप से व्याप्त करनेवाले ब्रह्मचारी के प्रति सब देवता समान मनवाले होते हैं। वह अपने तप से आकाश का पोषण करता है और अपने आचार्य का भी पोषण करता है ॥ १ ॥

"ब्रह्मचारी के रक्षक पितर, देवता इत्यादि उसके अनुकूल होते हैं। विश्वावसु आदि भी उसके पीछे चलते हैं। तैंतीस देवता इनकी विभूति रूप तीन सौ तीन देवता और छः सहस्र देवता इन सबका ब्रह्मचारी अपने तप द्वारा पोषण करता है ॥ २ ॥

'उपनयन करनेवाला आचार्य विद्यामय शरीर के गर्भ में उसे स्थापित करता हुआ तीन रात तक ब्रह्मचारी को अपने उदर में रखता है। चौथे दिन देवगण उस विद्या-देह से उत्पन्न ब्रह्मचारी के सम्मुख आते हैं ॥ ३ ॥

"पृथ्वी इस ब्रह्मचारी की प्रथम समिधा है और आकाश द्वितीय समिधा। आकाश-पृथ्वी के मध्य अग्नि में स्थापित हुई समिधा से ब्रह्मचारी संसार को संतुष्ट करता है। इस प्रकार समिधा, मेखला, मौञ्जी, श्रम, इन्द्रियनिग्रहात्मक खेद और देह को संताप देनेवाले अन्य नियमों को पालता हुआ पृथिव्यादि लोकों का पोषण करता है ॥ ४ ॥

"ब्रह्मचारी ब्रह्म से भी पहले प्रकट हुआ। वह तेजोमय रूप धारण कर तप से युक्त हुआ। उस ब्रह्मचारी रूप से उठते हुए ब्रह्म द्वारा श्रेष्ठ वेदात्मक ब्रह्म प्रकट हुआ और उसके द्वारा प्रतिपादित अग्नि आदि देवता भी अपने अमृतत्व आदि गुणों के सहित प्रकट हुए ॥५॥

'प्रातः सायं अग्नि में रखी समिधा और उससे उत्पन्न हुए तेज से तेजस्वी, मृग चर्मधारी ब्रह्मचारी अपने भिक्षादि नियमों का पालन करता है। वह शीघ्र ही पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र पर पहुँचता है और सब लोकों को अपने समक्ष करता है ॥६॥

'ब्रह्मचर्य से महिमा युक्त ब्रह्मचारी ब्राह्मण जाति को उत्पन्न करता है। वही गंगा आदि नदियों को प्रकट करता है। स्वर्ग, प्रजापति परमेष्ठी और विराट् को उत्पन्न करता है। वह अमरणशील ब्रह्म की सत्-रज-तम गुण से युक्त प्रकृति में गर्भ रूप होकर सब वर्णन किये हुए प्राणियों को प्रकट करता है और इन्द्र होकर राक्षसों का नाश करता है ॥७॥

"यह आकाश और पृथिवी विशाल हैं। इन पृथिवी और आकाश के उत्पादक आचार्य की भी ब्रह्मचारी रक्षा करता है। सब देवता ऐसे ब्रह्मचारी पर कृपा रखते हैं ॥८॥

'पृथिवी और आकाश को ब्रह्मचारी ने भिक्षा रूप में ग्रहण किया फिर उसने उन आकाश पृथिवी को समिधा बनाकर अग्नि की आराधना की। संसार के सब प्राणी उन्हीं आकाश-पृथिवी के आश्रय में रहते हैं ॥९॥

'पृथिवी लोक में आचार्य के हृदय रूप गुहा में एक वेदात्मक निधि है। दूसरी देवात्मक निधि उपरि स्थान में है। ब्रह्मचारी इन निधियों की अपने तप से रक्षा करता है। वेदविद् ब्राह्मण शब्द और उसके अर्थ से सम्बन्धित दोनों निधियों को ब्रह्म रूप करता है ॥१०॥

"उदय न हुआ सूर्य रूप अग्नि पृथ्वी से नीचे रहते हैं। पार्थिव अग्नि पृथ्वी पर रहते हैं। सूर्योदय होने पर आकाश पृथ्वी के मध्य यह दोनों अग्नियाँ संयुक्त होती हैं। दोनों की किरणें संयुक्त होकर दृढ़ होती हुई आकाश-पृथिवी को आश्रित होती हैं। इन दोनों अग्नियों से सम्पन्न ब्रह्मचारी अपने तेज से अग्नि देवता होता है ॥११॥

"जल पूर्ण मेघ को प्राप्त हुये वरुण देव अपने वीर्य को पृथ्वी में सींचते हैं। ब्रह्मचारी अपने तेज से उस जलात्मक वीर्य को ऊँचे प्रदेश में सींचता है। उससे चारों दिशायें समृद्ध होती हैं ॥१२॥

ब्रह्मचारी पार्थिव अग्नि में चन्द्रमा सूर्य वायु और जल में समिधायें डालता है। इन अग्नि आदि का तेज पृथक्-पृथक् रूप से अन्तरिक्ष में रहता है। ब्रह्मचारी द्वारा समिद्ध अग्नि वर्षा जल घृत प्रजा आदि कार्य को करते हैं ॥१३॥

'आचार्य ही मृत्यु है, वही वरुण है वही सोम है। दुग्ध व्रीहि, यव और औषधियाँ आचार्य की कृपा से ही प्राप्त होती हैं। अथवा यह स्वयं ही आचार्य हो गए हैं ॥१४॥

'आचार्य रूप से वरुण ने जिस जल को अपने पास रखा वही वरुण प्रजापति से जो कुछ चाहते थे वही मित्र ने ब्रह्मचारी होकर आचार्य को अग्निरूप से दिया ॥१५॥

'विद्या का उपदेश देकर आचार्य ब्रह्मचारीरूप में प्रकट हुये हैं। वही रूप में महिमावान् हुए, प्रजापति बने। प्रजापति से विराट् होते हुये वही विश्व के स्रष्टा परमात्मा हो गये ॥१६॥

'वेद को ब्रह्म कहते हैं। वेदाध्ययन के लिये आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है। उसी ब्रह्मचर्य के तप से राजा अपने राज्य को पुष्ट करता है और आचार्य भी ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मचारी को अपना शिष्य बनाने की इच्छा करता है ॥१७॥

'जिसका विवाह नहीं हुआ है ऐसी स्त्री ब्रह्मचर्य से ही श्रेष्ठ पति प्राप्त करती है। अनड्वान् आदि भी ब्रह्मचर्य से ही श्रेष्ठ स्वामी को प्राप्त करते हैं। अश्व ब्रह्मचर्य से ही भक्षण योग्य तृणों की इच्छा करता है ॥१८॥

'अग्नि आदि देवताओं ने ब्रह्मचर्य से ही मृत्यु को दूर किया। ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र ने देवताओं को स्वर्ग प्राप्त कराया ॥१९॥

'व्रीहि, यौ आदि औषधियाँ वनौषधियाँ दिन रात्रि चराचरात्मक विश्व षट् ऋतु और द्वादश मासवाला वर्ष ब्रह्मचर्य की महिमा से ही गतिमान हैं ॥२ ॥

'आकाश के प्राणी पृथ्वी के देहधारी पशु आदि पंखवाले और बिना पंखवाले ये सभी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही उत्पन्न हुये हैं ॥२१॥

'प्रजापति के बनाये हुये देवता मनुष्य आदि सब प्राणों को धारण-पोषण करते हैं। आचार्य के मुख से निकला वेदात्मक ब्रह्म ही ब्रह्मचारी में स्थित होता हुआ सब प्राणियों की रक्षा करता है ॥२२॥

'वह परब्रह्म देवताओं से पराङ् नहीं है। वह अपने सच्चिदानन्द रूप से दीप्तिमान रहता है, उससे श्रेष्ठ कोई नहीं है, उन्हीं से ब्राह्मण का सब अन्न जल वेद प्रकट हुआ है, और उससे अधिष्ठाता देवता भी अमृतत्व सहित प्रकट हुये हैं ॥२३॥

'ब्रह्मचारी वेदात्मक ब्रह्म को धारण करता और सब प्राणियों के प्राणापानों को प्रकट करता है। फिर व्यान नामक वायु की शब्दात्मिका वाणी को अन्तःकरण और उसके आकाश रूप हृदय को वेदात्मक ब्रह्म और विद्यात्मिका बुद्धि को भी ब्रह्मचारी उत्पन्न करता है ॥२४॥

'हे ब्रह्मचारिन्! तुम हम स्तुति करनेवालों में रूप-ग्राहक नेत्र शब्द-ग्राहक श्रोत्र यश और कीर्ति की स्थापना करो। अन्न वीर्य रक्त, उदर आदि की कल्पना करता हुआ ब्रह्मचारी जल में लीन रहता और स्नान से सदा पवित्र रहता है तथा वह अपने तेज से चमकता है ॥२५ २६॥

श्री काणे के अनुसार इस सूक्त में ब्रह्मचारी (वेद विद्यार्थी) और ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन है[1]।

डॉ मङ्गलदेव शास्त्री लिखते हैं—"स्पष्ट प्रतीत होता है कि कम-से-कम मंत्र-काल में चारों आश्रमों की व्यवस्था का प्रारंभ नहीं हुआ था। ऐसा होने पर भी ब्रह्मचर्य और गृहस्थ—इन दो आश्रमों के सम्बन्ध में वेद मन्त्रों में जो उत्कृष्ट और भव्य विचार प्रकट किये हैं, उनको हम बिना किसी अतिशयोक्ति के भारतीय संस्कृति की स्थायी एवं अमूल्य सम्पत्ति कहते हैं। वेदों के अनेकानेक मंत्रों में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ का बड़ा हृदय-स्पर्शी वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (११।५) में ब्रह्मचर्य की महिमा का ही वर्णन है[2]।

इस सूक्त के २४ ३ और १७ वें मंत्र पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है— यहाँ स्पष्ट शब्दों में राष्ट्र की चतुरस्र उन्नति के लिए और मानवजीवन के विविध कर्तव्यों के सफलता पूर्वक निर्वाह के लिए श्रम और तपस्या द्वारा विद्या प्राप्ति (ब्रह्मचर्य) की अनिवार्य आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है श्रम और तपस्या पर निर्भर ब्रह्मचर्य-आश्रम की प्रभावना वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का निःसन्देह एक समुज्ज्वल प्रमाण है[3]।"

श्री काणे और शास्त्री के उल्लिखित मतों के अनुसार ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ है—वेदाध्ययन ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ है—वेद-पाठी और ब्रह्मचर्य आश्रम का अर्थ है—वेदाध्ययन के लिए आचार्य-कुल में वास करना। इससे इतना स्पष्ट है कि अथर्ववेद के उक्त सूक्त में संयम रूप ब्रह्मचर्य का नहीं पर वेदाध्ययन रूप ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन है।

१—History of Dharmasastra Vol. II Part I P 270

२—भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिकधारा) पृ ११

३—वही

८—रत पूर्वं मा स्मर—पूर्व रति का स्मरण न करे।

९—वत्स्यद् मा इच्छ—भविष्य में क्रीड़ा करने का न सोच।

१०—इष्ट विषयान् मा जुषस्व—इष्ट रूपादि विषयों से मन को युक्त न करे।

इन नियमों में १, ३, ४, ५, ७, ८ तो वे ही हैं, जो श्वेताम्बर आगमों में हैं। अन्य भिन्न हैं।

वेद अथवा उपनिषदों में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ऐसे नव क्रमबद्ध नियमों का उल्लेख नहीं मिलता। स्मृति में कहा है—'स्मरण कीर्तन देखना गुह्यभाषण संकल्प अध्यवसाय और क्रिया—इस प्रकार मैथुन आठ प्रकार के हैं। इस आठ प्रकार के मैथुन से अलग हो ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए[1]।'

स्वामीजी ने इस कृति में उत्तराध्ययन के दस समाधि स्थानों के अनुक्रम से बातों का विवेचन किया है।

१८-मूल कृति का विषय

अब हम मूल कृति के विषय पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

पहली ढाल में मङ्गलाचरण के रूप में अहिंसा की वेदी पर सर्वस्व त्याग कर विवाह के मंडप से लौट कर आजीवन ब्रह्मचर्यवास करनेवाले बाइसवें जिन तीर्थंकर अरिष्टनेमि भगवान की स्तुति की गई है। ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में वे जगद्गुरु थे क्योंकि उन्होंने पूर्ण युवावस्था में विवाह करने से इन्कार किया। इनका जीवन-वृत्त परिशिष्ट क कथा १ में दिया गया है।

राजिमती और अरिष्टनेमि की कथा इतनी रसपूर्ण है कि उसने अनेक काव्य-कृतियों को जन्म दिया है। अपने विवाह के निमित्त से होने वाली पशुओं की भावी हत्या के विरोध और अनुकम्पा से नेमिनाथ ने आजीवन विवाह न करने का व्रत लिया यह इतिहास के पन्नों में अहिंसा के लिए एक महान बलिदान की कथा है। विवाह सम्पन्न होने के पूर्व ही नेमिनाथ प्रव्रज्या के लिए निकल पड़े थे अतः राजिमती कुमारी ही थी फिर भी उस महाभाग्या कुमारी ने पाणि-ग्रहण का विचार तक नहीं किया और स्वयं भी ब्रह्मचर्यवास में स्थित हुई। इतना ही नहीं अपने प्रति मोह से विह्वल मुनि रथनेमि को साध्वी राजिमती ने एक बार ऐसा गंभीर उपदेश दिया कि उनका पुरुषार्थ पुनः जागृत हो गया और वे संयम में इतने दृढ़ हुए कि उसी भव में मोक्ष को प्राप्त हुए। गिरते पुरुषार्थ को इस प्रकार दृढ़ सम्बल देनेवाली नारियों में राजिमती का स्थान भी इतिहास के पन्नों में अद्वितीय है। उस समय का उनका उपदेश ठोकर खा कर गिरते हुए ब्रह्मचारी के लिए युग-युग में महान् प्रकाश पुञ्ज का काम करेगा इसमें सन्देह नहीं।

मङ्गलाचरण के दोहों के बाद ढाल में ब्रह्मचर्य की सुन्दर महिमा है। ब्रह्मचर्य को कल्पवृक्ष की उपमा देकर उसके सारे विस्तार को अनुपम ढंग से उपस्थित किया है।

महात्मा गांधी कहते हैं—'ब्रह्मचर्य का सम्पूर्ण पालन करनेवाला स्त्री या पुरुष नितान्त निर्विकार होता है। अतः ऐसे स्त्री-पुरुष ईश्वर के पास रहते हैं। वे ईश्वर तुल्य होते हैं[2]। जो काम को जीत लेता है, वह संसार को जीत लेता है और संसार-सागर को तर जाता है[3]।' सन्त टोल्स्टॉय ने लिखा है—"जितना ही तुम ब्रह्मचर्य के नजदीक जाओगे उतना ही अधिक परमात्मा की दृष्टि में प्यारे होगे और उतना अधिक कल्याण करोगे[4]।"

भगवान महावीर ने कहा था—'जो ब्रह्मचारी होते हैं वे मोक्ष पहुँचने में सब से आगे होते हैं।' "जो काम से अभिभूत नहीं होते उन्हें मुक्त पुरुषों के समान कहा गया है। स्त्री-परित्याग के बाद ही मोक्ष के दर्शन सुलभ होते हैं[5]।" विषयों में अनाकुल और अच्छी इन्द्रियों

१—दक्ष स्मृति ७।३१
२—अनीति की राह पर पृ० ५९
३—वही पृ० ११५
४—स्त्री और पुरुष पृ० १४३
५—[illegible] पृ० १

को वश में करनेवाला पुरुष अनुपम भावसन्धि—(कर्म क्षय की मानसिक दशा) को प्राप्त करता है" (सूत्र १।१५ १२)। "उत्तम समाधि में अवस्थित ब्रह्मचारी इस संसार-सागर को उसी तरह तिर जाते हैं जिस तरह वणिक समुद्र को[1] ।"

महात्मा गांधी और टालस्टॉय के विचार आगमिक विचारधारा से अद्भुत सामञ्जस्य रखते हैं ।

आगम में ब्रह्मचर्य महापुरुष की गरिमा का भाव स्पष्ट बना है । उदाहरणस्वरूप आगम में कहा है—"जैसे तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है, उसी तरह महावीर लोगों में उत्तम श्रमण थे[2] ।

ब्रह्मचर्य की महिमा सभी धर्म-ग्रन्थों में पाई जाती है। उपनिषद् में कहा है 'जिसे क्षीणदोष संयमी देखते हैं, उस ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा को सत्य द्वारा तप द्वारा सच्चे ज्ञान द्वारा और ब्रह्मचर्य के नित्य सेवन द्वारा अन्तःकरण में देखा जा सकता है[3] ।" अन्य उपनिषद् में कहा है "जिसे 'यज्ञ' कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि जो ज्ञाता है वह इसके द्वारा ही ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। जिसे 'इष्ट' कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि इसके द्वारा खोज करके ही पुरुष आत्मा को प्राप्त करता है। जिसे 'सत् त्रायण' कहा जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि उसके द्वारा ही वह सत्—आत्मा का त्राण प्राप्त करता है। जिसे 'मौन' कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि इसके द्वारा ही आत्मा को जान कर पुरुष उसका मनन करता है[4] ।

बुद्ध कहते हैं 'ब्रह्मचर्य बिना पानी का स्नान है[5] ।"

पहली बाड़ (ढाल २) विविक्त शयनासन

आगम में ब्रह्मचारी के शयन—वास-स्थान और आसन—उठने-बैठने के स्थान के सम्बन्ध में अनुज्ञप्त आज्ञा यह है कि जिस स्थान में मन विभ्रम को प्राप्त हो व्रत के सम्पूर्ण रूप से या अंश रूप से भग्न होने की आशंका हो और आर्त एवं रौद्र ध्यान उत्पन्न होते हों उस स्थान का पाप-भीरु ब्रह्मचारी वर्जन करे[6]। ब्रह्मचारी का शयन-आसन विविक्त—एकांत होना चाहिए। जहाँ स्त्री-पशु-नपुंसक बसते हों उस स्थान में उसे वास अथवा उठ-बैठ नहीं करनी चाहिए[7]।

स्वामीजी ने इस बाड़ का स्वरूप बतलाते हुए तीन बातें कही हैं

(१) ब्रह्मचारी स्त्री आदि से शून्य एकांत में रात्रि-वास करे[8]।

(२) अकेली नारी की संगति न करे ।

(३) अकेली स्त्री के साथ आलाप-संलाप न करे यहाँ तक कि उससे धर्म-कथा भी न कहे[9] ।

इस प्रकार पहली बाड़ में संसक्तवास स्त्री-संगति और स्त्री के साथ एकान्त में आलाप-संलाप करने का वर्जन है[10] ।

१—देखिए पृ० ६ १

२—सूत्र १।६ २३ :

तवेसु वा उत्तम बम्भचेरं लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते

३—मुण्डकोपनिषद् ३ १.५

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

४—छान्दोग्योपनिषद् ८ ५ : १ ४

५—संयुत्तनिकाय १ ८ ६

६—पृ १५ टि ५

७—पृ १५ टि ४

८—ढाल २ दो ५ ८ गा ३ ४ ५

९—ढाल २ दो ६ गा ३

१०—ढाल २ दो ६

मनोबल का परिचय दे और कामराग को पूर्णरूप से जीते। जो एकान्त स्थान में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है उसमें कोई दोष नहीं पर उसकी परीक्षा तब होती है जब वह मोह उत्पन्न करनेवाले संयोगों में आ फंसता है। ऐसे अवसर पर इन्द्रियों पर सम्पूर्ण संयम रखना ही ब्रह्मचारी की कसौटी है। ऐसे समय उसे स्थूलिभद्र की कथा याद कर अपने को उस आँच से भी सम्पूर्णतः निर्दाग रखना चाहिए।

तो पढियं तो गुणियं तो मुणियं तो य चेइओ अप्पा।
आवडियपेल्लियामंतिओ वि जइ न कुणइ अकज्जं॥

—उसी का पढ़ना गुनना जानना और आत्म-स्वरूप का चिंतन करना प्रमाण है, जो आपद् में पड़ने पर भी अकार्य की ओर कदम नहीं बढ़ाता।

जो ब्रह्मचारी मोह-जनक संसक्त स्थानों का वर्जन नहीं करता और जान बूझकर ऐसे स्थानों का प्रसंग करता है उसकी गति वही होती है जो सिंहगुफावासी यति की हुई। स्थूलिभद्र के गुरुभाई इस मुनि ने उनकी स्पर्धा से उसी कोशा गणिका के यहाँ चातुर्मास किया और काम-विह्वल हो भोग की प्रार्थना करने लगा। वेश्या कोशा जो मुनि स्थूलिभद्र के प्रबल से श्राविका हो चुकी थी उसे प्रतिबोध न देती तो उनका पतन अन्तिम सीमा तक पहुँचे बिना नहीं रहता। ब्रह्मचारी कैसे स्थानों में रहे, इसका सम्यग्बोध स्थूलिभद्र की कथा में नहीं पर सिंह गुफावासी यति के प्रसंग से समझना चाहिए[1]।

ब्रह्मचारी अपने मनोबल पर खूब भरोसा न करे बल्कि वह विनम्र रहे, अहंकार न रखे। वह निरहंकार भाव से अपने को अनुकूल वास में रखे।

इस बाड़ से सम्बन्धित कुलबालुका की कथा इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि जो ब्रह्मचारी स्त्री के साथ एकान्त-सेवन करने लगता है तथा उसकी संगति सहवास और स्पर्श का निवारण नहीं करता उसका पतन कितना शीघ्र होता है। कोणिक की मागधिका गणिका ने स्वस्थ न हो तब तक रुग्ण मुनि कूलवालुका की सेवा करने की छूट उनसे चाही। मुनि कूलवालुका ने उसको सेवा के लिए सहवास की यह छूट दी। अन्त में यह सहवास मुनि कूलवालुका के पतन का कारण हुआ।

श्रीमद् भागवत में कहा है

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत्॥
१ ।३३।३ ३२

—कभी कभी महान शक्ति संपन्न व्यक्ति साहस के साथ नियमों का उल्लंघन (व्यतिक्रम) करते हुये देखे गये हैं। परन्तु जिस प्रकार सर्वभुक्—सम्पूर्ण वस्तुओं को खानेवाली—अग्नि को दोष नहीं होता उसी प्रकार नियमों के ये व्यतिक्रम तेजस्वियों के लिये दोष के कारण नहीं होते।

—अनीश्वर—जिसके पास असाधारण दिव्य शक्तियाँ नहीं हैं ऐसा व्यक्ति—ऐसी वस्तुओं को करने का कभी मन से भी विचार न करे, क्योंकि उनको करने से वह विनाश को प्राप्त होगा। जैसे कि शंकर ने समुद्र से उत्पन्न विष को पान कर लिया था यह सुनकर कोई मूर्खता से विष पान करने लगे तो उसकी मृत्यु ही होगी।

—महान व्यक्तियों की वाणी सत्य होती है और उनके द्वारा किये कार्य कभी ठीक होते हैं (और कभी ठीक नहीं भी होते)। अतः बुद्धिमान व्यक्ति उनके उसी आचरण का अनुकरण करे, जो उनकी वाणी (आज्ञाओं) के अनुरूप पड़ते हों।

आचार्य तुलसी कहते हैं: "एकान्तवासी भी विचलित हो जाते हैं तब स्त्री के संसर्ग में रहकर ब्रह्मचर्य को निभानेवाले विरले ही मिलेंगे। रात में स्त्री रहे वहाँ पुरुष न रहे, पुरुष हो वहाँ स्त्री न रहे।"

[1]—देखिए पृ० ८३। ब्रह्मचर्य के विषय पर इतनी मार्मिक रमणीय और बोधप्रद कथा अन्यत्र देखने में नहीं आती।

दूसरी बाड़ (ढाल ३) स्त्री-कथा वर्जन

दूसरी बाड़ में ब्रह्मचारी को स्त्री-कथा से दूर रहने का नियम किया गया है[1]। इस विषय में आगमों में साधारण आज्ञा यह है कि जो भी कथा मन को चंचल करे, काम राग को बढ़ावे, हास्य शृंगार तथा मोह उत्पन्न करे तथा तप, संयम और ब्रह्मचर्य का विनाश करे, उसका ब्रह्मचारी वर्जन करे[2]। यहाँ वर्जन करने का अर्थ है ऐसी विलासयुक्त कथा न कहे, न सुने और न उसका चिन्तन करे[3]।

निम्न कथाएँ स्त्री कथाएँ हैं :

(१) स्त्री के मुख, नेत्र, नासिका, होठ, हाथ, पाँव, कटि, नाभि, कोख तथा अन्य अङ्ग प्रत्यङ्गों का मोह उत्पन्न करनेवाला वर्णन। उनकी बोली, चाल, ढाल, हाव-भाव और चेष्टाओं का शृङ्गारपूर्ण वर्णन[4]।

(२) नव विवाहित पति-पत्नी की कथा।

(३) विवाह करनेवाले वर-वधू की कथा।

(४) स्त्रियों के सौभाग्य-दुर्भाग्य की कथा।

(५) कामशास्त्र की बातें।

(६) शृंगार रस के कारण मोह उत्पन्न करनेवाली कथा-कहानी।

स्त्री-कथा से किस प्रकार विकार उत्पन्न होता है, यह बताने के लिए स्वामीजी ने नींबू का दृष्टान्त दिया है। जैसे नींबू की बात कहने, सुनने या चिन्तन करने से मुँह में पानी छूटने लगता है, उसी तरह स्त्री-कथा कहने, सुनने या चिन्तन करने से ब्रह्मचारी का मन विषय राग से ग्रसित हो जाता है। उसके परिणाम चलित हो जाते हैं[5]।

जिसके मन में विषयों के प्रति रस न हो वही ब्रह्मचारी कहा जा सकता है। जिस ब्रह्मचारी का मन वश में होगा उसके मुँह से विकार पूर्ण शब्द ही नहीं निकल सकेंगे। न वह विषय को उत्तेजित करनेवाली बातों में रस लेकर उन्हें सुनेगा और न उनका चिन्तन ही करेगा।

स्वामीजी कहते हैं—जो बार-बार स्त्री-कथा करता है, उसे ब्रह्मचर्य व्रत से प्रेम नहीं रहता। उसके विषय-विकार की वृद्धि होगी और अन्त में परिणाम विचलित होने से वह व्रत से च्युत होगा। इसी तरह जो स्त्री-कथा सुनता है या चिन्तन करता है उसकी गति भी ऐसी ही होती है[6]।

आज कथाएँ कही नहीं जातीं, पुस्तकों में कहानी, उपन्यास, कविता और कामशास्त्र के रूप में आती हैं। शृंगारिक चित्रों में आती हैं। अतः सुनने का अर्थ आज पढ़ना भी हो जायगा। आज इस बाड़ का अर्थ ऐसा भी होगा कि ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी हो तो स्त्री-कथा न कहे, न लिखे, न पढ़े, न सुने और न उसका चिन्तन करे।

जिस अनुचित भावुकता के साथ स्त्रियों का चरित्र-चित्रण किया जाता है, उनके शरीर-सौष्ठव का जैसा अश्लील और असभ्यतापूर्ण वर्णन किया जाता है, उसके विषय में महात्मा गान्धी ने कहा था— 'क्या स्त्रियों का सारा सौंदर्य और बल केवल शारीरिक सुन्दरता ही में है ? पुरुषों की वासना भरी विकारी आँखों की तृप्ति करने की क्षमता में ही है ? जैसी वे हैं वैसी ही उन्हें क्यों नहीं बताया जाता ? वे कहती हैं, न तो हम स्वर्ग की अप्सराएँ हैं, न गुड़िया हैं, और न विकार और दुर्बलताओं की गठरी ही हैं। पुरुषों की भांति हम भी तो मानव प्राणी ही हैं। मुझ

१—ढाल ३ दो १-२ गा १०; उ १६ सि १

२—उ १६ सि २

३—उ १६ सि ११

४—ढाल ३ गा १-४

५—ढाल ३ गा १२

६—ढाल ३ गा १६ १९ १६

से यह भी कहा गया है—हमारे साहित्य में स्त्रियों का कामवासना-वेदना के सदृश वर्णन किया गया है। मेरी राय में इस तरह का चित्रण भी बिलकुल गलत है[१]।

ऐसे साहित्य से जो हानि होती है, उसके बारे में वे कहते हैं :

"कितने ही लेखक स्त्रियों की आध्यात्मिक प्यास को शांत करने के बजाय उनके विकारों को जाग्रत करते हैं। नतीजा यह होता है कि बेचारी कितनी ही भोली स्त्रियाँ यही सोचने में अपना समय बरबाद करती रहती हैं कि उपन्यासों में चित्रित स्त्रियों के वर्णन के मुकाबले में वे किस तरह अपने को सजा और बना सकती हैं। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि साहित्य में उनका नख-शिख वर्णन क्या अनिवार्य है? क्या आप को उपनिषदों, कुरान और बाइबिल में ऐसी चीजें मिलती हैं? फिर भी क्या पता नहीं कि बाइबिल को अगर निकाल दें तो अंग्रेजी भाषा का भण्डार सूना हो जायगा। कुरान के अभाव में अरबी को सारी दुनिया भूल जायगी और तुलसीदास के अभाव में जरा हिन्दी की कल्पना तो कीजिए। आजकल के साहित्य में स्त्रियों के विषय में जो कुछ मिलता है, ऐसी बातें आपको तुलसीकृत रामायण में मिलती हैं[२]?"

टॉल्स्टॉय लिखते हैं— मानव स्वभाव का यह कितना घोर पतन है जब मनुष्य पाशविक विकार को सिंहासन पर अभिषिक्त कर इसकी सहायक इन्द्रियों की तारीफों के पुल बाँधता है। पर आजकल के चित्रकार, सङ्गीतशास्त्री और सभी ललितकलाविद् यही करते हैं[३]।"

ब्रह्मचर्य की दूसरी बाड़ ने आज राष्ट्रीय महत्त्व ग्रहण कर लिया है। शृङ्गारपूर्ण कथाओं को उपस्थित करनेवाले चित्रकार, सङ्गीत-शास्त्री, शिल्पकार, कथाकार, उपन्यासकार सब देश के जीवन की आध्यात्मिक भित्ति को हिला रहे हैं। राष्ट्र की शील-वृत्ति को कामुक कथाओं से विनष्ट कर रहे हैं। उनकी कृतियों को पढ़ने, देखने और सुननेवालों का जो आज पतन हो रहा है वह स्त्री-कथा परिहार न करने का ही परिणाम है। यदि राष्ट्र में संयम की भावना को पुनः प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है और जिसे कोई अस्वीकार नहीं करता तो स्त्री-कथा का विविध रूप में— 'न कहियव्वा न सुणियव्वा न चिंतियव्वा' वर्जन मानव-मात्र के जीवन में लाना आवश्यक है।

राष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से ऐसा साहित्य सर्जित न हो इस भावना से महात्मा गांधी ने निम्न विचार दिये थे :

"एक सीधी-सी कसौटी मैं आपके सामने रखता हूँ। उनके विषय में लिखते समय आप उनकी किस रूप में कल्पना करते हैं? आपको मेरी सूचना है कि आप कागज पर कलम चलाना शुरू करें, उससे पहले यह खयाल कर लें कि स्त्री जाति आपकी माता है। और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आकाश से जिस तरह प्यासी धरती पर सुन्दर शुद्ध जल की वर्षा होती है उसी तरह आपकी लेखनी से भी शुद्ध से-शुद्ध साहित्य बहने लगेगा। याद रखिए एक स्त्री आपकी पत्नी बनी उससे पहले एक स्त्री आप की माता थी[४]।"

इस बाड़ से सम्बन्धित मल्लिकुमारी, मृगावती और द्रौपदी की कथाएँ परिशिष्ट—क में पृ. ८१, ९७, ९९ पर दी हुई हैं।

स्त्री के रूपादि के वर्णन को सुनने से किस तरह मोह उत्पन्न होता है, उसका हृदयग्राही वर्णन इन कथाओं में है।

मल्लिकुमारी के लावण्य की कथा को सुन और चित्रपटों से जान कर उसे प्राप्त करने के लिए उसके पिता राजा कुम्भ पर भिन्न-भिन्न देशों के नृपतियों ने एक साथ चढ़ाई कर दी। दोनों ओर से युद्ध छिड़ गया।

मल्लि ने नृपतियों की चढ़ाई की आशङ्का से पहले से ही अपने रूप-रंग से मिलती हुई एक स्वर्ण-प्रतिमा बनवा रखी थी। उसमें प्रति दिन भोजन डाला जाता जो सड़ता जाता था। वह प्रतिमा पेचदार ढक्कन से बंद होती थी। मल्लि ने अपने पिता से युद्ध बंद करने का अनुरोध किया। उन नृपतियों को निमंत्रित कर अपने महल में बुलाया। प्रतिमा को मल्लिकुमारी समझ सब और भी विमुग्ध हो गये। अब मल्लिकुमारी स्वयं उपस्थित हुई और प्रतिमा के ढक्कन को दूर कर दिया। महल दुर्गन्ध और बदबू से भर गया। सब ने अपने नाक ढक लिए। मल्लि ने पूछा—"ऐसा क्यों?" नृपों ने उत्तर दिया—"इस प्रतिमा में से भयङ्कर दुर्गन्ध निकल रही है।" मल्लि बोली— मेरा यह शरीर, जिसके सौन्दर्य पर तुम

१—ब्रह्मचर्य (प. भा.) पृ. १४७-१४८

२—ब्रह्मचर्य (प. भा.) १४८-९

३—स्त्री और पुरुष

४—ब्रह्मचर्य (प. भा.) पृ. १५१

डॉ० मेकडूगल इस बारे में जो थोड़ा स्पष्टीकरण करते हैं, वह विचारने जैसा है। उनका कहना है कि स्त्री का स्वभाव अधिक भावनावश होता है। उसके लिए जो ममता या सहानुभूति बताई जाती है उसका असर उस पर पुरुष की बनिस्बत ज्यादा होता है। "इसलिए उसके प्रति जो दाक्षिण्य (Chivalry) बताया जाता है उसकी प्रतिध्वनि उसके हृदय में उठे बिना नहीं रहती। अपने प्रति ममता या सहानुभूति बतानेवाले को सन्तुष्ट करने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार हो जाती है। "धूर्त पुरुष स्त्री के इस स्वभाव का लाभ उठाता है और उसे अपना शिकार बनाता है।

"इसका यह मतलब नहीं कि स्त्रियां कभी पुरुष से ज्यादा विकारवश या धूर्त होती ही नहीं और पुरुष उन्हें फंसाने के बजाय उनके पाश में कभी फंसता ही नहीं"।

ऐसी स्थिति में दोषोत्पत्ति से बचने का राजमार्ग क्या है यह बताते हुए उन्होंने लिखा है

"इसलिए राजमार्ग—सच्चों स्त्रियों के लिए निर्भयता से चलने का मार्ग—तो यही है कि पर-पुरुष चाहे कितना सच्चा सादा प्रेमल शुद्ध और आदर्शवादी मालूम हो तो भी उसके साथ एकान्त में न रहा जाय उससे हंसी मजाक न किया जाय विशेष प्रयोजन के बिना उसका प्रेम-स्पर्श न किया जाय या न होने दिया जाय अर्थात् मर्यादा को लांघ कर उसके साथ बरताव न किया जाय।

"लाखों मनुष्यों में कोई विरले स्त्री पुरुष ही ऐसे हो सकते हैं जो मर्यादा के बन्धन में न रहते हुए भी पवित्र रहें। वे अपनी उमर हमेशा पांच वर्ष के बालक जितनी ही अनुभव करते हैं और दूसरे स्त्री-पुरुषों के लिए माता या पिता अथवा लड़की या लड़के के सिवा दूसरी दृष्टि को समझ ही नहीं सकते। ऐसी साध्वी स्त्री या साधु पुरुष पूजने लायक है। लेकिन जो कभी भी विकार का अनुभव कर चुके हैं, उन्हें तो भागवत का यह वचन सच मानकर ही चलना चाहिए

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु कोऽन्वखण्डितधीः पुमान् ।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥

—एक नारायण ऋषि को छोड़ कर ब्रह्मा देव दानव मनुष्य पशु पक्षी आदि में से कोई एक भी ऐसा है जो सर्जन कार्य में स्त्रीरूपी माया से खंडित न हुआ हो ?

"जो पुरुष को लागू होता है वह स्त्री को भी लागू होता है[१]।"

चौथी बाड़ (ढाल ५) इन्द्रिय-दर्शन-परिहार

चौथी बाड़ में यह दिया है कि ब्रह्मचारी नारी के रूप को 'न निरखे'। 'पराङ्ग दर्शन न कर'—वह उसके अङ्गों पर दृष्टि न डाले। प्रश्न हो सकता है—स्त्रियां सर्वत्र हैं। स्थान-स्थान और घर-घर में विहार करनेवाला साधु उनके दर्शन से कैसे बच सकता है ? इस नियम का तात्पर्य आचाराङ्ग से स्पष्ट हो जाता है। वहाँ कहा गया है— यह संभव नहीं कि आँखों के सामने आए हुए रूप को कोई न देखे परन्तु भिक्षु उसमें राग द्वेष न करे[२]।

स्वामीजी ने 'जोवे नहीं धर राग' (५.१) 'निजर भरे ने निरखता रे' (५.४) आदि वाक्यों द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्मचारी को रागपूर्वक, टकटकी लगा कर नजर भर कर स्त्री के रूप को नहीं देखना चाहिए। वह नारी के रूप में मोहित मूर्च्छित आसक्त न हो। बिना राग-भाव स्त्रियों का दर्शन होता है, वह ब्रह्मचारी के लिए दोषरूप नहीं माना गया है और ऐसा दर्शन इस बाड़ का भङ्ग नहीं है। इस बाड़ का प्रतिपाद्य है—'नो ताउ चक्खु संधिज्जा'—ब्रह्मचारी स्त्रियों पर चक्षु न साधे—उन पर ताक न लगावे। जो ब्रह्मचारी स्त्रियों के रूप का लोभी होता है और उनके प्रति अनुराग से ताका करता है, उसको भ्रष्ट होते देर नहीं लगती। रूप में ऐसे आसक्त मनुष्य के लिए स्वामीजी ने 'चक्षु-कुशील' (५.१) शब्द का प्रयोग किया है।

१—स्त्री-पुरुष मर्यादा पृ० २१-२२
—स्त्री-पुरुष मर्यादा पृ० ४१-४२
२—आचाराङ्ग २।१५

णो सक्का रूवमदट्ठुं चक्खुविसयमागयं
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥

बाइबिल में कहा है— "तू ने सुना है उन लोगों ने प्राचीन काल में कहा था कि तू पर-स्त्री गमन न कर। परन्तु मैं तुम से कहता हूँ कि जो व्यक्ति किसी भी स्त्री की ओर काम-वासना से देखता है, वह उसके साथ अपने मन में व्यभिचार कर चुका¹।" इसी तरह पैगम्बर मुहम्मद ने कहा है "दूसरे की पत्नी के प्रति काम भाव से देखना चक्षु का व्यभिचार है और उस बात का कहना जिसकी मुमानियत है, जिह्वा का व्यभिचार है।"

ब्रह्मचारी के लिए चक्षु-कुशीलता से बचना कितना आवश्यक है यह क्राइस्ट के दूसरे गूढ़ वाक्य से प्रकट होगा

"और यदि तेरी दाहिनी आँख अपराध करती हो तो तू इसे अपने अङ्ग से निकाल दे क्योंकि तेरे लिए यह अधिक लाभकर है कि तेरे मानव-गात्र के एक ही अंग का नाश हो न कि तेरा सारा गात्र नरक में पड़ जाय³।" सूरदास ने तो जैसे इस उक्ति को चरितार्थ कर के ही दिखा दिया। पर इस तरह चक्षुओं को निकाल अथवा उन्हें फोड़ ब्रह्मचर्य की रक्षा का उपाय करना जैन धर्म के अनुसार पुरुषार्थ का द्योतक नहीं है और न वह अभीष्ट और स्वीकृत ही है। इस सम्बन्ध में पैगम्बर मुहम्मद का एक वाक्य बड़ा बोधप्रद है। "मैंने कहा हे ईश्वर के दूत! मुझे नपुंसक होने की इजाजत दो'। उसने कहा 'वह मनुष्य मेरा नहीं है जो दूसरे को बिन्लेन्द्रिय कर देता है अथवा स्वयं वैसा हो जाता है। क्योंकि जिस तरीके से मेरे अनुयायी नपुंसक बनते हैं वह उपवास और निवृत्ति का है⁴।

मन को जीत कर चक्षु को विनीत रखना यही इस बाड़ का मर्म है।

'नारी रूप नहीं निरखणो' (४ दो १) इसमें रूप शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। स्त्रियों की नेत्रादि इन्द्रियाँ अधर स्तनादि अङ्ग प्रत्यङ्ग लावण्य विलास हास्य मंजुल भाषण अंग विन्यास कटाक्ष चेष्टा गति क्रीड़ा नृत्य गीत वाद्य रंग-रूप आकार, यौवन शृङ्गार आदि को मोह भाव से देखना उनका अवलोकन करना रूप-कुशीलता है। ब्रह्मचारी को इन सब से दूर रहना चाहिए।

आजकल के सिनेमा नाट्य अभिनय सौन्दर्य-प्रदर्शनियाँ आदि चक्षु कुशीलता की उत्पत्ति के स्थान हैं। इन स्थानों में जाना इस बाड़ का भङ्ग करना है। 'चित्तभित्तिं न निज्झाए'—इस सूक्ति के आज अधिक व्यापक रूप में प्रचारित होने की आवश्यकता है।

नारी को जो 'पाश' और 'दीपक' की उपमा दी गई है (५.१ ४ ५), वह आगम वर्णित है। जैसे हरे जौ के तृण को देख कर मोहित मृग जाल में फंस जाता है और दीपक के प्रकाश को देखकर मोहित पतङ्ग उसमें अपने कोमल अङ्गों को जला डालता है, वैसे ही स्त्रियों की मनोहर मनोरम इन्द्रियों के प्रति मोहित ब्रह्मचारी अपना भान भूलकर संसार के मोह-जाल में फंस असमयत्व से हाथ धो बठता है। सूत्रकृताङ्ग में इसका कारुणिक वर्णन है⁵।

स्त्री के प्रति चक्षु-संयम के लिए पुरुष को जो उपदेश दिया गया है वही पुरुष के प्रति चक्षु-संयम रखने के लिए स्त्री पर भी लागू होता है। वह भी मृग अथवा पतङ्ग की तरह पुरुष के रूप पर मोहित न हो।

१—St. Matthew 5 27 28 Ye have heard that it was said by them of old time, Thou shalt not commit adultery : But I say unto you, That whosoever looketh on a woman to lust after her hath committed adultery with her already in his heart.

—The sayings of Muhammad

Said Lord Muhammad, Now the adultery of the eye is to look with an eye of desire on the wife of another and the adultery of the tongue is to utter what is forbidden. (136)

३—St. Matthew 5 29 And if thy right eye offend thee, pluck it out, and cast it from thee : for it is profitable for thee that one of thy members should perish, and not that thy whole body should be cast into hell.

४—The sayings of Muhammad

I said, O Messenger of God, permit me to become a eunuch." He said, "That person is not of me who maketh another a eunuch, or becometh so himself because the manner in which my followers become eunuchs is by fasting and abstinence. (152)

५—सूत्र १।४।१।१८

रूप के प्रति आसक्ति भाव को दूर करने के लिए अशुचि भावना के चिन्तन का मार्ग दिया गया है (ढा.१-८)। यह मंत्र बौद्ध धर्म में 'कायगता-स्मृति' नाम से विख्यात है[१]।

विषय को हृदयंगम कराने की दृष्टि से इस ढाल में रथनेमि रूपी राय इलाची पुत्र मणरथ अरणक आदि की कथाओं की ओर संकेत कर बताया गया है कि नारी के रूप अवलोकन से ब्रह्मचारी का कैसे पतन होता है। क्षत्रिय और चोरों का दृष्टान्त कच्ची कारी और सूर्य प्रकाश के दृष्टान्त बड़े हृदयग्राही हैं।

दशवैकालिक में कहा गया है— 'नारी पर नेत्र पड़ जायं तो जैसे उन्हें सूर्य की किरणों के सम्मुख से हटा लेते हैं, उसी तरह शीघ्र हटा लें (टि १ पृ ३३)।" सूत्रकृताङ्ग में कहा है—"भिक्षु स्त्रियों पर चक्षु न साधे। इस प्रकार साधु अपनी आत्मा को सुरक्षित रख सकता है[२]।

'अदर्शन' को ब्रह्मचारी के लिए हमेशा हितकर कहा है (टिप्पणी १ पृ ३३)। अन्य धर्मों में भी इसका उल्लेख है। बुद्ध मृत्यु-शय्या पर थे तब उनसे बौद्ध भिक्षुओं ने पूछा— 'भन्ते! स्त्रियों के साथ हम कैसा बर्ताव करेंगे?" 'अदर्शन (न देखना) आनन्द!" "दर्शन होने पर भगवन् कैसे बर्ताव करेंगे?" 'आलाप (बात) न करना आनन्द!" 'बात करनेवाले को कैसा करना चाहिए?" 'स्मृति (होश) को संभाल रखना चाहिए'[३]।

दक्षस्मृति में 'दर्शन' या 'प्रेक्षण' को आठ मैथुनों में चौथा मैथुन कहा गया है और प्रेक्षण से दूर रहकर ब्रह्मचर्य के पालन करने का कहा गया है[४]।

महात्मा गांधी एक प्रश्न का उत्तर देते हुए इस बाड़ के विषय पर लिखते हैं 'कहा गया है कि ऐसा ब्रह्मचर्य यदि किसी तरह प्राप्त किया जा सकता हो तो कंदराओं में रहनेवाले ही कर सकते होंगे। ब्रह्मचारी को तो कहते हैं, स्त्रियों का स्पर्श तो क्या उनका दर्शन भी कभी नहीं करना चाहिए। निस्सन्देह किसी ब्रह्मचारी को काम-वासना से किसी स्त्री को न तो छूना चाहिए, न देखना चाहिए और न उसके विषय में कुछ कहना या सोचना चाहिए। लेकिन ब्रह्मचर्य विषयक पुस्तकों में हमें यह वर्णन जो मिलता है उसमें इस महत्वपूर्ण अव्यय 'काम-वासना पूर्वक' का उल्लेख नहीं मिलता। इस छूट की वजह यह मालूम पड़ती है कि ऐसे मामलों में मनुष्य निष्पक्ष रूप से निर्णय नहीं कर सकता और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि कब तो उस पर संपर्क का असर पड़ा और कब नहीं। काम-विकार अक्सर अनजाने ही उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए दुनिया में आजादी से सबके साथ हिलने-मिलने पर ब्रह्मचर्य का पालन यद्यपि कठिन है, लेकिन अगर संसार से नाता तोड़ लेने पर ही यह प्राप्त हो सकता हो तो उसका कोई विशेष मूल्य भी नहीं है[५]।

स्वामीजी ने अदर्शन का अर्थ रागपूर्वक न ताकना ही किया है यह हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं। आगमों में भी अदर्शन के पीछे यही भावना है ऐसी हालत में जैन और गांधीजी की विचारधारा में अन्तर नहीं परन्तु बहुत साम्य ही है। जैन धर्म ने कन्दराओं में बैठकर ब्रह्मचर्य साधने की बात पर कभी बल नहीं दिया। अतः महात्मा गांधी की आलोचना शील की नौ बाड़ में अदर्शन का जैसा रूप वर्णों द्वारा वर्णित है उसके प्रति नहीं पड़ती।

१—सुत्तनिपात १ ११; विशुद्धि मार्ग (पहला भाग) परिच्छेद ८ पृ २१८-२१

२—सूत्रकृताङ्ग १।४।१।५ :
नो तासु चक्खु संधेज्जा
नो वि य साहसं समभिजाणेज्जा
(अथवा:) एवमप्पा सुरक्खिओ होइ

३—दीघनिकाय (महापरिनिब्बाण सुत्त) २.३ पृ १३१

४—दक्षस्मृति ७ ३२

५—ब्रह्मचर्य (प मा) पृ १ १

महात्मा गांधी लिखते हैं— "जो व्यक्ति परम रूपवती रमणी को देखकर अविचल नहीं रह सकता वह ब्रह्मचारी नहीं"[१]।" "स्त्री पर नजर पड़ते ही जिसे विकार हो जाता है, वह ब्रह्मचारी नहीं। उसके लिए सजीव पुतली और काष्ठ की निश्चेष्ट पुतली एक-सी होनी चाहिए[२]।

महात्मा गांधी ने जो बात यहाँ कही है, वह आदर्श ब्रह्मचारी की कसौटी है। जो अप्सरा को देख कर भी विचलित न हो वह ब्रह्मचारी है।

कवि रायचंद्र ने भी कहा है

> निरखी ने नवयौवना लेश न विषय निदान।
> गणे काष्ठ की पूतली ते भगवान समान॥

ब्रह्मचारी स्त्रियों को देख नहीं सकता—बात इस रूप में नहीं है, पर वह उन्हें मोहपूर्वक न देखे—इस रूप में है। जैसे स्त्री पर नजर पड़ते ही जिसे विकार हो जाता है, वह ब्रह्मचारी नहीं वैसे ही जो स्त्री को मोह भाव से ताकता रहता है, वह भी ब्रह्मचारी नहीं है।

विनोबा लिखते हैं "ब्रह्मचारी की दृष्टि यह नहीं होनी चाहिए कि वह स्त्री को देख ही नहीं सकता। 'एक दफा साबरमती आश्रम में—'नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले। नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्[३]' वाक्य पर चर्चा चली। बापू तो क्रान्तिकारी ही थे। उन्होंने कहा कि 'लक्ष्मण का यह वाक्य मुझे अच्छा नहीं लगता।' फिर उन्होंने मुझसे पूछा कि 'तेरी इस पर क्या राय है?' तो मैंने कहा कि 'आप ने जिस दृष्टि से यह वाक्य नापसन्द किया वह दृष्टि हो तो वह वाक्य नापसन्द करने ही लायक है कि लक्ष्मण ब्रह्मचारी था और उसने सीता का मुख ही नहीं देखा था। अगर ब्रह्मचारी ऐसी मर्यादा से रहे कि वह स्त्री का मुख ही नहीं देखता तो वह गलत बात है। इसलिए यहाँ ब्रह्मचारी के मन में यह भावना आयी कि सामने जो स्त्री आयी है, उसे मैं नहीं देख सकता हूँ तो वह उसकी कमी मानी जायगी[४]।

विनोबा भावे के कथनानुसार भी यही है कि ब्रह्मचारी स्त्री को न देख सके ऐसी बात नहीं पर वह आसक्तिपूर्वक न देखे। आँख के संयम के विषय में महात्मा गांधी ने लिखा है

'आँख को निर्मल और अच्छा रखना चाहिए। आँख सारे शरीर का दीपक है, और शरीर का उसी तरह आत्मा का दीपक है ऐसा कहें तो भी चल सकता है, कारण जब तक आत्मा शरीर में बसता है तब तक उसकी परीक्षा आँख से हो सकती है। मनुष्य अपनी वाचा से कदाचित् आडम्बर कर अपने को छिपा सकता है परन्तु उसकी आँख उसका उघाड़ कर देगी। उसकी आँख सीधी निश्चल न हो तो उस का अन्तर भी प्रगट हो जायगी। जिस प्रकार शरीर के रोग जीभ की परीक्षा कर परखे जा सकते हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक रोग आँख की परीक्षा कर परखे जा सकते हैं[५]।"

पाँचवीं बाड़ (ढाल ६) शब्द-श्रवण का परिहार

इस बाड़ में स्त्रियों के कूजन रुदन गीत हास्य विलास क्रन्दन विलाप प्रेम आदि के शब्द सुनने का निषेध है। ब्रह्मचारी संभोग समय के स्त्री-पुरुष के प्रेमालाप के शब्दों को न सुने। ऐसे शब्दों के सुनने से ब्रह्मचारी की कैसी दशा होती है इसे समझाने के लिए स्वामीजी ने मेघ-गर्जन और मोर तथा पपीहा का दृष्टान्त दिया है, जो मौलिक होने के साथ-साथ अत्यन्त सगत भी है। जैसे मेघ से भरे बादलों के गर्जन को सुन कर मोर और पपीहा विकार ग्रस्त होकर नाचने लगते हैं वैसे ही भोग-समय के नाना प्रकार के शब्दों को सुनने से मन चञ्चल होने की संभावना रहती है। इसलिए ऐसे स्थानों में जहाँ कि संयोगी स्त्री-पुरुषों के विषयोत्पादक शब्द कानों में गिरते हों वहाँ ब्रह्मचारी न रहे।

स्मृतियों में ब्रह्मचारी को गीतादिनिःस्पृह रहने का उपदेश है[६]।

१—ब्रह्मचर्य (प. भा.) पृ. ४४

२—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ. ४१

३—रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को जंगल की ओर के रास्ते में पड़े हुए गहने दिखाये और पूछा कि क्या ये गहने सीता के हैं? लक्ष्मण ने कहा था—"केयूर और कुण्डल को तो मैं नहीं पहिचानता हूँ लेकिन नूपुरों को पहिचानता हूँ क्योंकि मैं प्रतिदिन सीताजी की पद वन्दना करता रहा।"

४—कार्यकर्ता-वर्ग पृ. ४०-४१

५—आरोग्य साधना (गु.) पृ. १६५

६—दक्षस्मृति १ ९

अनन्यदर्शी सततं भवेद् गीतादिनिःस्पृहः

चोर को कारागार में डाल दिया गया। कालक्रम से कुछ दिनों बाद सार्थवाह भी किसी राज्य-अपराध में पकड़ा गया। राजा ने विजय चोर के साथ एक ही बेड़ी में उसे बाँध रखने का हुक्म दिया। भद्रा ने पंथक के साथ सार्थवाह के भोजन के लिए आहार भेजा। सार्थवाह को भोजन करते देख विजय चोर बोला—"इस विपुल भोजन-सामग्री में से मुझे भी कुछ दो।" धन्य सार्थवाह बोला—"मैं बची हुई सामग्री को कौओं और कुत्तों को खिला दूँगा परन्तु तुम जैसे पुत्रघातक वैरी प्रत्यनीक और अमित्र को तो एक भी दाना नहीं दूँगा।"

सार्थवाह को शौच और लघुशंका की हाजत हुई। सार्थवाह बोला—"विजय! एकान्त में चलो जिससे मैं हाजत पूरी कर सकूँ।" विजय बोला—"भोजन तो तुमने किया है। मैं तो भूखा-प्यासा ही हूँ। मुझे हाजत नहीं। तुम अकेले ही एकान्त में जाकर हाजत पूरी करो।" दोनों एक ही बेड़ी में बँधे हुए थे। सार्थवाह की अकल ठिकाने आ गई। मन न होते हुए भी परवशता से सार्थवाह ने विजय चोर को आहार तथा जल देना स्वीकार किया। विजय चोर और सार्थवाह दोनों एक साथ एकान्त में गये। सार्थवाह ने अपनी हाजत पूरी की। सार्थवाह विजय चोर को रोज अपने भोजन में से कुछ आहार देता। यह बात पंथक के जरिए भद्रा के कानों तक पहुँची। अवधि समाप्त होने पर सार्थवाह बन्धन से मुक्त हुआ और घर पहुँचा। सबने उसका स्वागत किया पर भद्रा ने न उसका स्वागत किया और न उससे बोली। सार्थवाह ने इसका कारण पूछा तब भद्रा बोली—"आपके आने का मुझे हर्ष कैसे हो? आप तो मेरे पुत्र के प्राण-हरण करनेवाले विजय तस्कर को आहार देते रहे!" सार्थवाह बोला—"मैंने उसे धर्म समझकर नहीं दिया कृतज्ञता के भाव से नहीं दिया लोक-यात्रा के लिए नहीं दिया न्याय समझ कर नहीं दिया बान्धव समझ कर नहीं दिया केवल एकमात्र शरीर-चिन्ता से दिया। विजय चोर के साथ दिये बिना लघुशंका जैसी जरूरी हाजतों को दूर करने के लिए एकान्त में जाना भी मेरे लिए असम्भव था।" यह सुन भद्रा शांत और प्रसन्न हुई[1]।

इस कथा का उपनय यह है : विजय चोर और सार्थवाह की तरह पौद्गलिक शरीर और अजर अमर आत्मा केवल कर्म संयोग से जुड़े हुए हैं। सार्थवाह को विजय चोर की जरूरत हुई उसी तरह शरीर और आत्मा का बन्धन होने से आत्मा को शरीर के सहकार की भी जरूरत होती है। जीवन-रक्षा के लिए सार्थवाह को विजय चोर का पोषण करना पड़ा उसी तरह आत्मा के उद्धार के लिए—संयम-यात्रा के योगक्षेम के लिए मोक्षार्थी को शरीर की आवश्यकता भी पूरी करनी पड़ती है।

यह शरीर विजय चोर की तरह विषय-सेवन का आधार है। विभूषा और स्त्री-संसर्ग का त्याग करनेवाला ब्रह्मचारी मधुगुणों की उपासना तथा ज्ञान दर्शन चारित्र और तप की आराधना के लिए ही शरीर का पोषण करने की दृष्टि रखे।

(२) सुंसुमा दारिका की कथा

दूसरी कथा सुंसुमा दारिका की है। वह संक्षेप में इस प्रकार है :

राजगृह में धन्य सार्थवाह रहता था। उसकी भार्या का नाम भद्रा था। उसके एक पुत्री थी जिसका नाम सुंसुमा था। उस सार्थवाह के चिलाति नामक दासचेटक था। वह सुंसुमा को रखता था।

चिलाति बड़ा नटखट और दुष्ट था। पड़ोसियों की शिकायत के कारण सार्थवाह ने चिलाति की भर्त्सना कर उसे घर से निकाल दिया। चिलाति इधर-उधर भटकता हुआ मद्यपी चोर, मांसभोजी जुआरी वेश्यागामी और परदार-आसक्त हो गया।

राजगृह के बाहर सिंहगुफा नामक एक चोर पल्ली थी। वहाँ विजय नामक चोर सेनापति अपने पाँच सौ चोर साथियों के साथ रहता था। चिलाति विजय सेनापति का अग्रिम धारक हो गया। विजय की मृत्यु के बाद वह चोरों का सेनापति हुआ। उसने सुंसुमा के हरण का विचार कर सार्थवाह के घर पर छापा मारा। सार्थवाह भयभीत हो अपने पाँचों पुत्रों के साथ एकान्त में जा छिपा। विपुल धन सम्पत्ति और सुंसुमा को ले चिलाति चोर पल्ली की ओर अग्रसर हुआ।

सार्थवाह नगर-रक्षकों के पास पहुँचा और उसने उनसे सहायता माँगी। नगर-रक्षकों ने चिलाति का पीछा किया और उसके नजदीक पहुँच उससे युद्ध करने लगे। चोर हतविहत हो धन फेंक दिशा-विदिशाओं में भाग गये। नगर रक्षक धन ले लौट गये। अपनी सेना को हतविहत देख चिलाति सुंसुमा को ले जंगल में घुस गया। सार्थवाह अपने पाँचों पुत्रों सहित उसका पीछा करता रहा। चोर सेनापति थक कर क्लान्त हो गया। उसने सुंसुमा का शिरच्छेद कर दिया और सब को वहीं छोड़ मस्तक को हाथ में ले निर्जन वन में भग गया।

सार्थवाह और उसके पाँचों पुत्र पीछे दौड़ते-दौड़ते तृषा और भूख से व्याकुल हो गये। सुंसुमा का सिर कटा देख कर तो उनके शोक सन्ताप का कोई ठिकाना नहीं रहा।

१—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग अ० २; विस्तृत कथा के लिए देखिए—लेखक की 'दृष्टान्त और धर्मकथाएँ' नामक पुस्तक पृ० ३१८

अटवी में चारों ओर खोज करने पर भी कहीं जल नहीं मिला। सार्थवाह बोला—"हमलोग ऐसे तो राजगृह पहुँचने से रहे। तुम लोग मुझे मार मांस और रुधिर का आहार कर अटवी को पार करो। पर यह किसी भी पुत्र को स्वीकार नहीं हुआ। पुत्रों ने भी अपनी-अपनी ओर से ऐसा ही प्रस्ताव किया पर किसी का भी प्रस्ताव दूसरों द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ। अब धन्य सार्थवाह बोला: 'पुत्रो! सुंसुमा का शरीर जीव-रहित है। हम इसके मांस और रुधिर का आहार करें। सब ने अग्नि कर सुंसुमा के मांस को पका उसका आहार किया और रुधिर पी प्यास मिटाई। इस तरह वे राजगृह पहुँच सबसे मिले।

जिस तरह धन्य सार्थवाह ने शरीर की आवश्यकता को पूरी करने तथा राजगृह पहुँचने के लिए ही चोर को आहार दिया और मृत-पुत्री के मांस और लोहू का भक्षण किया। उसी तरह ब्रह्मचारी श्रमण औदारिक शरीर के वर्ण रूप रस बल और विषय-वृद्धि के लिए आहार नहीं करते—संयम-यात्रा के लिए शरीर को टिकाए रखने की दृष्टि से आहार करते हैं[1]।

स्वामीजी ने ब्रह्मचारी के लिए ऊनोदरी को उत्तम तप बतलाया है। खुराक से कम भोजन करना—पेट को खाली रखना बिना वैराग्य के नहीं होता और वैराग्य ही ब्रह्मचर्य की मूल भित्ति है। महात्मा गांधी ने कहा है 'स्वाद का सच्चा स्थान जीभ नहीं बल्कि मन है[2]। जो ऊनोदरी करता है, वह मन को जीतता है, स्वाद पर विजय प्राप्त करता है।

आचारांग में कहा है 'विषयों से पीड़ित ब्रह्मचारी निर्बल—नि:सत्व आहार करे, कम खाये[3]।" इस तरह सरस आहार और अति आहार का वर्जन ब्रह्मचर्य की साधना के अनिवार्य अङ्ग हैं। इन नियमों का पालन न करने से किस प्रकार पतन होता है इसका सजीव सुन्दर वर्णन स्वामीजी की ढालों में है

'घृतादि से परिपूर्ण गरिष्ठ आहार अत्यधिक वातु-उद्दीपन करता है जिससे विकार की वृद्धि होती है। कटु नमकीन चटपट और मीठे भोजन तथा जो विविध प्रकार के रस होते हैं, उनका जिह्वा आस्वाद लेती है। जिसकी रसना वश में नहीं वह सरस आहार की चाह करता है। परिणाम स्वरूप व्रत भङ्ग कर ब्रह्मचारी सारभूत ब्रह्मचर्य रत्न को खो देता है (पृ ४५)। गा १४ में सन्निपात के रोगी का उदाहरण देकर इस बात को हृदयग्राही ढंग से बतलाया है कि सरस आहार से किस तरह विकार की वृद्धि होती है। अति आहार से विषय-विकार की वृद्धि होती है, इससे भोग अच्छे लगने लगते हैं। ध्यान विकार ग्रस्त होता है। स्त्री मन को भाने लगती है। शील पालूँ या नहीं ऐसी डाँवाडोल स्थिति हो जाती है। इस तरह क्रमश: पतन होता है (पृ ५१)।

महात्मा गांधी लिखते हैं—"मिताहारी बनिए, सदा थोड़ी भूख बाकी रहते ही चौके पर से उठ जाइए[4]।" "अधिक मिर्च-मसालेवाली और अधिक घी-तेल में तली-भुनी साग भाजियों से परहेज रखिए[5]। जब वीर्य का व्यय थोड़ा होता है तब थोड़ा भोजन भी काफी होता है।"

"इन्द्रियों में मुख्य स्वादेन्द्रिय है। जो अपनी जिह्वा को कब्जे में रख सकता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य सुगम हो जाता है[6]। पर हम तो अनेक चीजों को खा-खा कर पेट को ठसाठस भरते हैं और फिर कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो पाता। विकारोत्तेजक वस्तुएँ खाने-पीने वाले को तो ब्रह्मचर्य निभा सकने की आशा ही न रखनी चाहिए।"

"मेरा अपना अनुभव तो यह है कि जिसने जीभ को नहीं जीता वह विषय-वासना को नहीं जीत सकता। जीभ को जीतना बहुत ही कठिन है। पर इस विजय के साथ ही दूसरी विजय मिलती है। जीभ को जीतने का एक उपाय तो यह है कि मिर्च-मसाले का बिल्कुल या जितना हो सके त्याग कर दिया जाय। दूसरा उससे अधिक बलवान उपाय यह है कि मन में सदा यह भाव रखे कि हम केवल शरीर के पोषण

१—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग अ १८ दखिए लेखक की दृष्टान्त और कथाएँ नामक पुस्तक पृ ७६
२—आत्मकथा भा १ अ १० पृ ६७
३—आचाराङ्ग १।५ ४ : उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा
४—अनीति की राह पर नीतिरक्षा पृ ११
५—वही पृ ११
६—ब्रह्मचर्य (श्री) पृ ११

के लिए खाते हैं, स्वाद के लिए कभी नहीं खाते। हम दवा स्वाद के लिए नहीं लेते बल्कि स्वास्थ्य लाने के लिए लेते हैं। पानी जैसे महज प्यास बुझाने के लिए पीते हैं, वैसे ही अन्न केवल भूख मिटाने के लिए खाना चाहिए[1]।"

"ब्रह्मचर्य से अस्वाद व्रत बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाला है। मेरा अनुभव ऐसा है कि इस व्रत का पालन किया जा सके तो ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय-संयम बिलकुल सहज हो जाता है।

'जिस तरह दवा खाते समय वह स्वादिष्ट है या नहीं इसका विचार नहीं करते बल्कि शरीर को उसकी आवश्यकता है यह समझ कर उसे उचित परिमाण में खाते हैं, उसी तरह अन्न के विषय में समझना चाहिए।

"जो मनुष्य अल्पाहारी है, जो आहार में कुछ विवेक या मर्यादा ही नहीं रखता वह अपने विकारों का गुलाम है। जो स्वाद को नहीं जीत सकता वह कभी इन्द्रियजीत नहीं हो सकता। इसलिए मनुष्य को युक्ताहारी और अल्पाहारी बनना चाहिए। शरीर आहार के लिए नहीं बना आहार शरीर के लिए बना है[2]। "ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रिय 'जीभ' को वश में करना ही होगा। मैंने खुद अनुभव करके देखा है कि जीभ को जीत लें तो ब्रह्मचर्य का पालन बहुत आसान हो जाता है[3]।"

महावीर और स्वामीजी ने जो कहा है, दूसरे शब्दों में महात्मा गांधी ने भी वही कहा है। महात्मा गांधी ने आश्रमव्रतों में अस्वाद को जोड़ा। जैन धर्म में उस पर पहले से ही अत्यधिक बल दिया हुआ है।

महात्मा गांधी लिखते हैं: "मेरे 'भोजन विषयक प्रयोग' ब्रह्मचर्य की दृष्टि से भी होने लगे। मैंने प्रयोग करके देख लिया कि हमारी खुराक थोड़ी सादी और बिना मिर्च मसाले की होनी चाहिए और प्राकृतिक अवस्था में खाई जानी चाहिए। अपने विषय में तो मैंने छः वर्ष तक प्रयोग कर देख लिया है कि ब्रह्मचारी का आहार वनपक्व फल है। 'फलाहार के समय ब्रह्मचर्य सहज था। दुग्धाहार से वह कष्ट-साध्य हो गया। 'दूध का आहार ब्रह्मचर्य के लिए विघ्नकारक है, इस विषय में मुझे तनिक भी शंका नहीं[4]।" 'अपने विकारों को शान्त करना चाहता हो उसे घी-दूध का इस्तेमाल थोड़ा ही करना चाहिए। वनपक्व अन्न खा कर निर्वाह किया जा सके तो आग पर पकाई हुई चीजें न खायें या थोड़ा खायें[5]।"

आगमों में ब्रह्मचारी साधु के लिए दूध दही घी नवनीत तेल गुड़ खाण्ड शक्कर, मधु मद्य मांस खाजा आदि विकृतियों से रहित भोजन का विधान है। ब्रह्मचारी इनका रोज-रोज आहार न करे और अति मात्रा में तो उनका आहार करे ही नहीं। कच्चे वनपक्व फल अथवा सब्जियों का सीधा व्यवहार अहिंसा की दृष्टि से निर्ग्रन्थ साधु मात्र के लिए वर्ज्य है। ऐसी हालत में प्रासुक वस्तुओं में से ब्रह्मचारी अपने लिए रूक्ष आहार प्राप्त कर कम मात्रा में खाये।

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा बंभचेररओ सया[6] ॥

मनुस्मृति में कहा है—"मधु मांसञ्च वर्जयेत्"—ब्रह्मचारी मदिरा और मांस का वर्जन करे।

गीता में अति कटु, अति खट्टा अति नमकीन अति उष्ण अति तीक्ष्ण रूक्ष और अत्यन्त दाह करनेवाले आहार को राजस कहा गया है। उसे दुःख शोक और रोगप्रद कहा है[7]।

१—ब्रह्मचर्य (प्र०) पृ० ११-१२

२—वही पृ० १५

३—अनीति की राह पर पृ० १२५

४—वही : पृ० १५-६

५—वही : पृ० १६६

६—उत्तराध्ययन १६.८

७—गीता १७.९

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥

नवीं बाड़ (ढाल १०) विभूषा परिवर्जन

नवी बाड़ में शरीर शृंगार का निषेध किया गया है। ब्रह्मचारी अभ्यङ्गन मर्दन विलेपन न करे। चटकीले भड़कीले खूब स्वच्छ वस्त्रों को न पहने। आभूषण धारण न करे। दांतों को न रंगे। केशों को न संवारे। गन्ध-माल्य को धारण न करे। अञ्जन न लगावे। जूता और छाता धारण न करे। आगम में विभूषा को तालपुट विष की तरह कहा है। वहाँ कहा है 'स्नान-श्रृंगार करनेवाला ब्रह्मचारी स्त्रियों की कामना का विषय हो जाता है अतः वह विभूषानुपाती न हो।" स्वामीजी ने दृष्टान्त दिया है—"जैसे रङ्क के हाथ में रखे हुए रत्न को राजकर्मचारी छीन लेते हैं, वैसे ही स्त्री शौकीन ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य रत्न को छीन कर उसे खाली हाथ कर देती है।

एकबार टॉल्स्टॉय से पूछा गया—"विकार से बचने का कोई उपाय बताइए।" उन्होंने कहा—"ठीक है, परिश्रम उपवास आदि छोटे उपायों में सब से अधिक कारगर उपाय है दारिद्र्य—निर्धनता बाहर से भी अकिंचन दिखाई देना जिससे मनुष्य स्त्रियों के लिए आकर्षण की वस्तु न रहे[1]। टॉल्स्टॉय ने जो कहा वह आगम-वाणी से अक्षरशः मिलता है— विभूसावत्तिए विभूसिय सरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्ज हवइ।

यह नियम भी स्त्री और पुरुष दोनों के लिए लागू है।

टॉल्स्टॉय कहते हैं "स्त्रियों में निर्लज्जता बढ़ती जाती है। कुलीन स्त्रियाँ नीच कुलटाओं की देखादेखी नित्य नये फैशन सीखती जाती हैं और पुरुषों के चित्त में काम की आग भड़कानेवाले अपने अङ्गों का प्रदर्शन करने में जरा भी नहीं हिचकिचाती। क्या यह पतन का सीधा मार्ग नहीं है[2]?"

आगम में कहा है—"जो शौकीन स्त्री-पुरुष एक दूसरे के काम्य बनते हैं उन्हें अपने व्रत में शंका उत्पन्न होती है, फिर विषय-भोगों की आकांक्षा—कामना उत्पन्न होती है और फिर ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है या नहीं ऐसी विचिकित्सा—विकल्प उत्पन्न होता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है। उनके उन्माद और दूसरे बड़े रोग हो जाते हैं और अन्त में चित्त-समाधि भङ्ग होने से केवलि-भाषित धर्म से भ्रष्ट होते हैं[3]।"

स्मृतियों में कहा गया है—"ब्रह्मचारी दर्पण में मुँह न देखे दातुन न करे, शरीर की शोभा का त्याग करे[4]। वह सुगन्धित द्रव्य—गन्ध और पुष्पों की माला का वर्जन करे। शरीर में तेल लगाना मर्दन करना आँखों में अञ्जन देना जूता और छाता धारण करना तथा नाच गीत और बाजा का वर्जन करे[5]।" यह वही बात है जो जैन आगमों में कही गयी है।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उत्कृष्ट ब्रह्मचारी के लिए जैन आगमों की तरह[6] वैदिक ग्रंथों में भी दन्त-मंजन दंत प्रक्षालन और दातुन का निषेध है। जैन आगमों में स्नान का वर्जन है[7] पर वैदिक साहित्य में स्नान करना अनिवार्य है।

१—स्त्री और पुरुष पृ ५५

—वही पृ ३

३—दशवैकालिक पृ ११ टि ३

४—बौधायनस्मृति १२ १

वनस्पत्यं सतत भवेद् गीतादिभिःस्पृहः।

आदर्शं चेव वीक्षेत न चरेद्दन्तधावनम्॥

५ —(क) वर्जयेन्मधुमांसञ्च, गन्धं माल्यं तथा स्त्रियः।

(ख) अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्र धारणम्।

कामं क्रोधञ्च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥

(ग) वशिष्ठ स्मृति ७ ११ । [illegible]

६—(क) दशवैकालिक ३ ३,९

(ख) सूत्रकृताङ्ग ११ ६ १३; ९ १ १५

(ग) नि १५ का १३१ १३३

७—(क) दशवैकालिक ६।६१, उत्त १५।८; आचा० २।२।१।१;

(ख) उत्त २।६।१३; दश ३।२; सूत्र ११ ।९।१ २१

इस तरह काम-गुणों के परिहार का अर्थ है—सब इन्द्रियों का सम्पूर्ण संयम। जो ब्रह्मचारी काम-गुणों का परिहार अथवा इन्द्रिय-संयम करता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य सहज साध्य हो जाता है।

स्वामीजी ने इस नियम को सर्वोपरि महत्त्व का स्थान दिया है। प्रथम नौ नियम बाड़ों की तरह हैं और दसवाँ नियम उन नौ नियमों के चतुर्दिक परकोटे की तरह है। जो परकोटे की रक्षा नहीं करता वह अन्य बाड़ों के द्वारा अपने ब्रह्मचर्य रूपी खेत की रक्षा नहीं कर सकता। जिस तरह परकोटे के भङ्ग होने पर बाड़ों के भङ्ग होने में समय नहीं लगता उसी तरह इस नियम के अभाव में अन्य नियमों के भङ्ग होते देर नहीं लगती (देखिए पृ ५४ तथा ५५ टि १)। परकोटे के अभाव का अर्थ है—बाड़ों का नाश, बाड़ों के नाश का अर्थ है—खेत का नाश। इसी तरह इन्द्रियों के संयम के अभाव का अर्थ है—दूसरे नियमों का नाश और उन नियमों के नाश का अर्थ है—मूल ब्रह्मचर्य का नाश।

स्वामीजी के भाव इस प्रकार रखे जा सकते हैं

कान शब्द को ग्रहण करता है और शब्द कान का ग्राह्य विषय है। जिस तरह संगीत में मूर्च्छित रागातुर हरिण बींधा जाकर अकाल में ही मरण पाता है, उसी तरह शब्दों में तीव्र आसक्ति रखनेवाला पुरुष शीघ्र ही अपने ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

चक्षु रूप को ग्रहण करता है और रूप चक्षु का ग्राह्य विषय है। जिस तरह रागातुर पतङ्ग दीपक की ज्योति में पड़कर अकाल में ही मरण पाता है उसी तरह रूप में आसक्त ब्रह्मचारी शीघ्र ही अपने ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

नाक गंध को ग्रहण करता है और गंध नाक का ग्राह्य विषय है। जिस तरह औषधि की सुगन्ध में आसक्त रागातुर सर्प पकड़ा जाकर अकाल में ही मारा जाता है, उसी तरह से सुगन्ध में तीव्र आसक्ति रखनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही अपने ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

जिह्वा रस को ग्रहण करती है और रस जिह्वा का ग्राह्य विषय है। जिस तरह मांस में आसक्त रागातुर मछली लोहे के काँटे से बेधी जाकर अकाल ही में मारी जाती है, उसी तरह रस में तीव्र मूर्च्छा रखनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

शरीर स्पर्श का अनुभव करता है और स्पर्श शरीर का विषय है। जैसे ठंडे जल में आसक्त भैंस मगरमच्छ से पकड़ी जाकर अकाल में ही मारी जाती है, उसी तरह स्पर्श में तीव्र मूर्च्छा रखनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

मन भाव को ग्रहण करता है और भाव मन का विषय है। जिस तरह कामाभिलाषी रागातुर हाथी हथिनी के पीछे भागता हुआ कुमार्ग में पड़ कर अकाल ही में मारा जाता है, उसी तरह भाव में तीव्र आसक्ति रखनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

महात्मा गांधी ने लिखा है "ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ है—ब्रह्म-प्राप्ति की चर्या। संयम के बिना ब्रह्म मिल ही नहीं सकता। संयम में सर्वोपरि इन्द्रिय-संयम है।[1] इन्द्रियों को निरङ्कुश छोड़ देनेवाले का जीवन कर्णधारहीन नाव के समान है, जो निश्चय पहली चट्टान से ही टकरा कर चूर चूर हो जायगी।[2] इसलिए[3] "अन्य इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर एक ही इन्द्रिय (जननेन्द्रिय) को रोकने[4] का इरादा रखना तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है।[5] "हम जननेन्द्रिय का नियमन करना चाहते हैं तो हमें सभी इन्द्रियों पर अङ्कुश रखना होगा। आँख, कान, नाक, जीभ, हाथ और पाँव को लगाम ढीली कर दी जाय तो जननेन्द्रिय को काबू में रखना असंभव होगा।"

भगवान महावीर और स्वामीजी ने जो कहा है वही हम महात्मा गांधी की वाणी में अन्य शब्दों में पाते हैं। अनुभव की वाणी एक ही है कि इन्द्रिय-जय बिना ब्रह्मचर्य में सफलता असंभव है।

महात्मा गांधी लिखते हैं "हृदय पवित्र हो तो इन्द्रिय को विकार की प्राप्ति ही न रहे। जैसे-जैसे हम लोग पवित्रता में बढ़ते हैं, वैसे वैसे विकारों का शमन होता है। विकार इन्द्रियों में है ही नहीं। इन्द्रियाँ मनोविकार के प्रदर्शन होने के स्थान हैं। इनके द्वारा हम मनोविकार को पहचानते हैं। अतः इन्द्रियों के नाश करने से मनोविकार जाता नहीं। हिजड़े तीव्र विकार से भरे-पूरे देखे जाते हैं। जन्म से नपुंसक पुरुष में इतने विकार होते हैं कि वे अनेक काम करते हुए देखे जाते हैं।"

१—ब्रह्मचर्य (प्रथम भाग) पृ १६
२—वही पृ १
३—वही पृ ६
४—वही पृ ४१
५—वही पृ ११७

न देख चारों पर एक साथ बाहर निकल अत्यन्त तेज गति से दौड़ता हुआ वह मयगंगातीर द्रह के समीप पहुँच उसमें प्रविष्ट हो सम्बन्धियों के साथ मिल कर सुखी हुआ। इस कथा का उपनय यह है कि जो ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रखता, विषयार्थी और प्रमादी होता है, वह अगुप्तेन्द्रिय विषयी कछुए की तरह आत्मार्थ से पतित हो दुःखित होता है। जो मुमुक्षु गुप्तेन्द्रिय होता है तथा अप्रमादी कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है और विषयों को पास में नहीं फटकने देता वह आत्मार्थ को साध कर सुखी होता है[1]।

इसकी तुलना गीता के निम्न श्लोक से है

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २.५८

दूसरी कथा अश्व की है। हस्तिशीर्ष नामक नगर में अनेक धनाढ्य वणिक रहते थे। एक बार वे सामुद्रिक यात्रा कर लौटे तब उन्होंने वहाँ के राजा कनककेतु को बहुमूल्य भेंट उपहार में दी। राजा ने प्रसन्नता पूर्वक भेंट स्वीकार कर पूछा—"इस बार की यात्रा में तुम लोगों ने कोई भी आश्चर्य की वस्तु देखी हो तो मुझे बताओ।" वणिकों ने कहा—"कालिकद्वीप में हमलोगों ने अनेक रङ्ग-बिरंगे सुन्दर जाति के घोड़े देखे। हमारे शरीर की गंध पा वे घबरा उठे और दौड़ लगा अनेक योजन दूर ऐसे स्थान में चले गए जहाँ विस्तृत मैदान, प्रचुर घास और पेट भर पीने को जल था। वहाँ वे निर्भय, उद्वेगरहित और सुखपूर्वक विचरने लगे।" राजा ने अनेक मूल्य साथ में दिये। घोड़ों को लुभाने की नानाविध सामग्री दी। तथा वणिकों को वापिस जा घोड़े लाने की आज्ञा दी। कालिकद्वीप पहुँच उन्होंने जहाँ-जहाँ घोड़े बैठते, सोया करते, ठहरते या लेटा करते वहाँ-वहाँ सर्वत्र शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में उत्कृष्ट भोग-सामग्रियों को धर दिया और निश्चल और निःशब्द हो छिप कर घोड़ों को पकड़ने का प्रयत्न करने लगे। घोड़े सदा की तरह वहाँ आये। इन अपूर्व भोग-सामग्रियों को देख कर भी कई घोड़े उनसे मोहित और आकृष्ट नहीं हुए। वे उद्विग्न भयभीत हो वहाँ से दूर दौड़ गये। जो मुग्ध हुए वे वहीं रह गए। वे वीणा आदि वाद्य यन्त्रों के मधुर शब्दों से मोहित हो सुन्दर, सुगन्धित, स्वादिष्ट और सुस्पर्शवाली वस्तुओं को भोगने में तल्लीन हो गये। इस तरह निर्भय हो विचरने लगे। व्यापारियों ने उनके गले और पैरों में रस्सियाँ डाल उन्हें गाढ़ बन्धन में बांध लिया और वापिस आ राजा को अश्व सौंपे। राजा ने उन्हें अश्व मर्दकों को सौंपा। अश्व-मर्दकों ने अनेक प्रयोग और उपायों से उन घोड़ों को सुशिक्षित किया। अब वे सवारी के काम में आने लगे।

इस कथा का उपनय है जो ब्रह्मचारी शब्द (गीत-गान) रूप (स्त्री आदि के सौन्दर्य) रस (खट्टे-मीठे आदि पाँच प्रकार के स्वाद—सरस आहार), गंध (सुगन्धित द्रव्य) और स्पर्श (शय्या स्त्री आदि के सुकोमल स्पर्श) इन पाँच प्रकार के इन्द्रियों के विषय में राग नहीं करते, मूर्च्छित नहीं होते हैं, वे अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं। जन्म, मरण, जरा आदि व्याधियों से मुक्ति प्राप्त करते हैं। जो ब्रह्मचारी शब्द रूपादि विषयों में राग मूर्च्छा करते हैं, बद्ध होते हैं और विषयों में स्वच्छंद विचरते हैं वे भ्रष्ट हो पापों के शिकार होते हैं[2]।

महात्मा गांधी ने कहा है "जो ब्रह्मचर्य की साधना करना चाहते हैं वे विषय भोग में दुःख ही दुःख है, इसे सदा स्मरण रखें[3]।"

उमास्वाति ने दो सूत्र दिए हैं। पहला सूत्र है "हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम्[4]"—साधक को हिंसा, मृषा, अदत्त, अब्रह्म और परिग्रह में इस लोक और परलोक में निरन्तर अपाय और अवद्य का दर्शन—चिन्तन करना चाहिए। अपाय का अर्थ है—अभ्युदय और निःश्रेयस की साधक क्रिया के विनाश का प्रयोग और अवद्य का अर्थ है गर्ह्य। साधक इसमें यह भावना रखे कि अब्रह्म अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनों अर्थों के विनाश का हेतु है और इसलिए गर्ह्य है। वह सोचे अब्रह्मचारी विभ्रम को प्राप्त हो उद्भ्रान्त चित्त बन जाता है। उसकी इन्द्रियाँ बलवान होती हैं। वह मदान्ध हाथी की तरह निरंकुश हो जाता है। वह मोह से अभिभूत हो कर्तव्य-अकर्तव्य का भान भूल जाता है। ऐसा कोई बुरा काम नहीं जो वह न कर बैठे। लम्पट को इस लोक में वैरानुबन्ध वध आदि क्लेश प्राप्त होते हैं। परलोक में दुर्गति होती है[5]।

1—ज्ञाताधर्मकथा अ० ४ देखिए, लेखक की 'दृष्टान्त और धर्मकथाएँ' नामक पुस्तक पृ० ११-१६
2—ज्ञाताधर्मकथा अ० १७ देखिए, लेखक की 'दृष्टान्त और धर्म कथाएँ' नामक पुस्तक पृ० ८०-९८
3—ब्रह्मचर्य (श्री) पृ० ३१
4—तत्त्वार्थसूत्र ७.४
5—वही भाष्य

उनका दूसरा सूत्र है "दुःखमेव वा"[1] — हिंसा यावत् परिग्रह में दुःख ही है। साधक सोचे सघन-इन्द्रिय जन्य सुखरूप मालूम होने पर भी वास्तव में मैथुन राग-द्वेष रूप होने से दुःखरूप ही है। प्रबल व्याधि का प्रतिकार मात्र है। जिस प्रकार कोई दाद या खाज का रोगी खुजाते समय सुख का अनुभव करता है परन्तु वह सुख नहीं सुखाभास है उसी तरह मैथुन की बात है[2]।

उमास्वाति कहते हैं कि ऐसी भावनाएं रखने से ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य में स्थैर्य को प्राप्त करता है— "इत्येवं भावयतो व्रतिनो व्रते स्थैर्यं भवति[3]।"

महावीर कहते हैं—"काम शल्य रूप है, काम विषरूप है काम-दृष्टि विष की तरह है। कामों की प्रार्थना करते-करते प्राणी उनको प्राप्त किए बिना ही दुर्गति को जाते हैं[4]।" 'काम भोग क्षण मात्र ऐन्द्रिय-सुख देनेवाले हैं और बहुकाल दुःख देनेवाले। उनमें सुख तो अणु मात्र है और दुःख का ठिकाना नहीं[5]।' "काम-भोग अनर्थ की खान है। देवताओं से लेकर सारे लोक को जो भी कायिक या मानसिक दुःख हैं, वे कामासक्ति से उत्पन्न हैं। काम-भोगों में वीतराग पुरुष सब दुःखों का अन्त करता है[6]। जिस तरह किम्पाक फल खाते समय रस और वर्ण में मनोरम होने पर भी पचने पर जीवन का अन्त करते हैं उसी तरह से भोगने में मनोहर काम-भोग विपाक काल में—फल देने की अवस्था में दुर्गति के कारण होते हैं[7]।" "काम भोग संसार को बढ़ानेवाले हैं। पक्षी के दृष्टान्त को जान कर विवेकी पुरुष गरुड़ के समीप सर्प की तरह काम भोगों से सशंकित रहता हुआ डर-डर कर चले[8]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं :

'विकार उत्पन्न न हो और इन्द्रिय न चले इसके लिए तात्कालिक उपाय मांगना यह वंध्यापुत्र के इच्छा करने के सदृश है। यह काम बहुत धीरज से होता है। एकान्त सेवन सत्-संग-सेवन हरिकीर्तन सद्‌वाचन निरंतर शरीरश्रम अल्पाहार, फलाहार अल्प निद्रा भोग विलास-त्याग—इतना जो कर सकता है, उसे मनोराज्य हस्तामलक की तरह प्राप्त होता है। जब-जब मनोविकार हो तब-तब उपवासादिक व्रतों का पालन करना चाहिए[9]।

महावीर कहते हैं—"ये काम-भोग सरलता से पिण्ड नहीं छोड़ते। अधीर पुरुषों से तो ये सुगमता से छोड़े ही नहीं जा सकते। सुव्रती साधु इन दुस्तर भोगों को उसी तरह पार कर जाते हैं, जिस तरह वणिक समुद्र को[10]।" "एकान्त शय्यासन के सेवी, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय पुरुष के चित्त को विषयरूपी शत्रु पराभव नहीं कर सकता। औषध से जैसे व्याधि पराजित हो जाती है वैसे ही इन नियमों के पालने से विषय रूपी शत्रु पराजित हो जाता है[11]।

महात्मा गांधी लिखते हैं "ब्रह्मचारी को भोग विलास के प्रसंग मात्र का त्याग कर देना चाहिए। उसकी ओर मन में अरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। इसलिए कि अरुचि या विराग के बिना त्याग केवल ऊपरी त्याग होगा और इस कारण टिक न सकेगा। भोग-विलास किसे कहें यह बताने की जरूरत नहीं। जिस-जिस चीज से विकार उत्पन्न हो, वे सभी त्याज्य हैं[12]।"

महावीर ने कहा है "ब्रह्मचारी दुर्जय काम-भोगों का सदा परित्याग करे तथा ब्रह्मचर्य के लिए जो शंका—विघ्न के स्थान हों उन्हें एकाग्र मन से वर्जन करे—टाले[13]।

१—तत्त्वार्थसूत्र ७.५ भाष्य
२—वही
३—वही
४—उत्तराध्ययन ९.५३
५—उत्त १४.१३
६—उत्त ३२.१९
७—उत्त ३२.२०
८—उत्त १४.४७
९—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० १०
१०—उत्त ८.६
११—उत्त ३२.१२
१२—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० ११
१३—उत्त १६ श्लो० १४

१९–बाड़ों के पीछे दृष्टि

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जो दस उपाय बतलाये गये हैं उनके पीछे अनेक दृष्टियाँ हैं। उनका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है

(१) स्त्रियों के साथ एक घर में वास मनोहारी स्त्री-कथा स्त्री-संस्तव (स्त्री-संग और परिचय) स्त्रियों की इन्द्रियों पर दृष्टि स्त्रियों के कूजन रुदन हास्यादि के शब्दों का सुनना रसपूर्ण खान-पान अति आहार गात्र विभूषा पूर्व क्रीड़ाओं का स्मरण और काम भोगों का सेवन—ये सब आत्मगवेषी ब्रह्मचारी के लिए तालपुट विष की तरह हैं[1]। ब्रह्मचर्य की इन अगुप्तियों से शान्ति का भेद शान्ति का भङ्ग होता है[2]।

(२) जो स्त्री-संसक्त मकान में वास न करना आदि उपर्युक्त समाधि-स्थानों के प्रति असावधान रहता है, उसे धीरे-धीरे अपने व्रत में शंका होगी उत्पन्न होती है फिर विषय भोगों की आकांक्षा—कामना उत्पन्न होती है और फिर ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है या नहीं ऐसी विचि किस्सा—विभ्रम उत्पन्न होता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है, उसके उन्माद और दूसरे बड़े रोग हो जाते हैं और अन्त में चित्त की समाधि भङ्ग होने से वह केवली-भाषित धर्म से भ्रष्ट—पतित हो जाता है[3]।

(३) स्त्री-संसक्त मकान में वास न करना आदि उपर्युक्त दसविध उपायों के पालन करने से संयम और संवर में दृढ़ता होती है। चित्त की चञ्चलता दूर होकर उसमें स्थिरता आती है। मन वचन काय तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होकर अप्रमत्त भाव से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है।

(४) स्त्रियों के साथ वास न करना उनकी संगति साथ सह-आसनादि न करना आदि सभी नियम ब्रह्मचारी के उत्तम शिष्टाचार हैं। ये नियम उसकी शोभा को बढ़ाते हैं। इन नियमों का अभाव शिष्ट-व्यवहार की कमी का सूचक है।

(५) ये नियम ब्रह्मचारी के प्रति किसी प्रकार की शङ्का अथवा लोक-निन्दा को उत्पन्न नहीं होने देते। उसके विश्वास को नहीं उठने देते।

(६) ब्रह्मचारी के पास आनेवाली स्त्रियों के प्रति शङ्का उत्पन्न नहीं होने देते। उनकी आबरू की रक्षा करते हैं। इस तरह वातावरण स्वच्छ एवं शुद्ध रहता है।

(७) ये भ्रष्टाचार को सहज ही पनपने नहीं देते। और न अशुद्ध लोक-व्यवहार का आदर्श उपस्थित होने देते हैं।

महात्मा गांधी ने अपने जीवन की एक घटना का वर्णन इस प्रकार किया है— मैं सावधान अधिक था। पूजनीया माताजी की दिलाई हुई प्रतिज्ञा रूपी ढाल मेरे पास थी। विलायत की बात है। मैं जवान था। दो मित्र एक घर में रहते थे। थोड़े ही दिन के लिए वे एक गांव में गये। मकान मालकिन आधी वेश्या थी। उसके साथ हम दोनों ताश खेलने लगे। विलायत में माँ बेटा भी निर्दोष भाव से ताश खेल सकते हैं, खेलते ही हैं। मुझे तो पता भी नहीं था कि मकान मालकिन अपना शरीर बेचकर अपनी जीविका चलाती है। ज्यों-ज्यों खेल जमने लगा त्यों-त्यों रंग भी बदलने लगा। उस बाई ने विषय चेष्टा आरंभ कर दी। मित्र मर्यादा छोड़ चुके थे। मैं ललचाया। मेरा चेहरा तमतमा गया। उसमें व्यभिचार का भाव भर गया। मैं अधीर हो गया। मेरे मित्र ने मेरा रंग-ढंग देखा। मित्र ने देखा कि मेरी बुद्धि बिगड़ गई है। उन्होंने देखा कि यदि इस रमत में रात अधिक जायगी तो मैं भी उनकी तरह पतित हुये बिना न रहूँगा राम ने उनके द्वारा मेरी सहायता की। उन्होंने प्रेम-बाण छोड़ते हुए कहा—'मोनिया! मोनिया! होशियार रहना! अपनी माँ के सामने की हुई प्रतिज्ञा याद करो। मैं उठ खड़ा हुआ। अपना बिस्तरा सम्भाला। सवेरे मैं जगा। राम-नाम का आरम्भ हुआ। मन में कहने लगा कौन बचा किसने बचाया धन्य प्रतिज्ञा धन्य माता धन्य मित्र। धन्य राम! मेरे लिए तो यह चमत्कार ही था। अपने जीवन का सब से भयङ्कर समय मैं इस प्रसंग को मानता हूँ। स्वच्छन्दता का प्रयोग करते हुए मैंने संयम सीखा। राम को भुलाते हुए मुझे राम के दर्शन हुए[5]।

महात्मा गांधी टहलने समय बहिनों के कंधे का सहारा लेते। आलोचना हुई—"लोक-स्वीकृत सभ्यता के विचार को चोट पहुँचती है।"

१—उत्तराध्ययन १६। ११। १३

२—आचाराङ्ग २। १५ चौथे महाव्रत की भावना

३—उत्तराध्ययन : १६। १। १

४—वही १६। १

५—संयम शिक्षा पृ० २२ २४

यह भावना दूसरों के लिए उदाहरण बन गयी तो । महात्मा गांधी ने लोक-संग्रह की दृष्टि से उसका तात्कालिक त्याग किया[१] ।

महात्मा गांधी ने नोआखाली के यज्ञ के समय एक प्रयोग आरम्भ किया । वे रिश्ते में अपनी पौत्री और धर्मपुत्री मनु बहन को एक साथ से अपनी शय्या में सुलाते ।

इससे बड़ी हलचल मची । उनके दो साथियों ने जिन्होंने उनकी अनुपस्थिति में हरिजन के सम्पादन-कार्य का जिम्मा अपने पर लिया था इसके प्रतिवाद और असहयोग के रूप में इस्तीफा दे दिया[२] । महात्माजी ने आ० कृपलानी को लिखा—"इस बात के लिए मुझे अपने प्रिय साथियों का मूल्य चुकाना पड़ा है ।"

आचार्य कृपलानी ने महात्मा गांधी के प्रति पूर्ण श्रद्धा व्यक्त करते हुए उत्तर में दो मत रखे—कभी मैं सोचता हूँ—कहीं आप मनुष्यों का उपयोग साध्य के बतौर न कर साधन के बतौर तो नहीं करते । मुझे आश्चर्य हुआ—कहीं आप गीता के लोक संग्रह के सिद्धान्त को तो भङ्ग नहीं कर रहे हैं"[३] ।

मित्रों ने तर्क किया— 'आप महात्मा हैं पर दूसरे पक्ष के बारे में क्या कहा जाय[४] ।

महात्मा गान्धी ने एक दिन के प्रवचन में कहा — "मैं जानता हूँ कि मुझको लेकर कानाफूसी और गुपचुप चल रही है । मैं इसमें सन्देह और अविश्वास के बीच में हूँ कि अपने अत्यन्त निर्दोष कार्य के बारे में कोई गलतफहमी और उल्टा प्रचार होने देना नहीं चाहता[५] ।"

दूसरे दिन के भाषण में उन्होंने चेतावनी दी—"मैंने अपने इस तरह जीवन के बारे में कहा है वह अन्धानुकरण के लिए नहीं है । मैं जो चाहता हूँ वह सब कर सकते हैं, बशर्ते वे उन शर्तों का पालन करें जिनका मैं पालन करता हूँ । अगर ऐसा नहीं करते हुए मेरी बात का अनुसरण करने का बहाना करेंगे तो वे ठोकर खाये बिना नहीं रहेंगे[६] ।

ठक्कर बापा का भी प्रश्न रहा— यदि आपके उदाहरण का अनुसरण किया गया तो ?"

यह बात अनेकों के मस्त तक गले नहीं उतरी ।

इन थोड़ी-सी घटनाओं से प्रकट हो जाता है कि समाधि-स्थानों की उपेक्षा से कैसे धर्म-संकट उपस्थित हो जाते हैं । बाहर में कैसा शंका-शील वातावरण बन जाता है । और किस तरह की बुरी धारणायें महात्मा ही नहीं पर महासती के विषय में भी प्रचारित हो जाती हैं ।

इस तरह ब्रह्मचर्य के समाधि स्थान अथवा बाड़ों की नींव कमजोर नहीं है । उनका आधार गहरा अनुभव और मानव-स्वभाव का गंभीर विश्लेषण है । यह सत्य है कि ब्रह्मचारी वह है जो किसी भी परिस्थिति में भी विचलित न हो । पर यह भी सत्य है कि बाड़ों की उपेक्षा करने से जो स्थिति बनती है उसका भी निवारण नहीं हो सकता । अगर परिणाम मलिन न रहने पायें तो 'दूधें बरत पिब फोक' । यदि यह न भी हो तो भी 'थाका पांमें लाख' 'आव मजही आल सिर' को कौन रोक सकता है ? यह भी निश्चित है कि जो बाड़ों की नहीं सेवता उसका पतन सम्भव रहता है क्योंकि बाड़ें केवल शारीरिक ही नहीं मानसिक सुरक्षा पर भी जोर देती हैं । इसीलिए स्वामीजी ने कहा है—

> बाड न लोप तेहनें रहे बरत अभंग ।
> ते वैरागी विरक्त थका ते दिन दिन चढ़ते रंग ॥

इस तरह यह स्पष्ट है कि बाड़ों के पालन से संसर्ग और संस्पर्श के अवसर ही नहीं आ पाते । मन विकार-ग्रस्त होने से बच जाता है । अपनी सुरक्षा होती है । अपने द्वारा दूसरे का पतन नहीं हो पाता । अपने कारण किसी के प्रति शंका का वातावरण नहीं बनता । लोक-व्यवहार अथवा सभ्यता को धक्का नहीं पहुँचता । दूसरों को अन्धानुकरण करने का बल नहीं मिलता । ब्रह्मचर्य का सुगमतापूर्वक पालन होता है ।

१—महाव्रत (प भा) पृ ६७
२—बापू की छाया में पृ ७२
३—Mahatma Gandhi—The Last Phase p 598
४—वही पृ ५८१
५—वही पृ ५८
६—वही पृ ५ १
७—वही पृ ५८
८—वही पृ ५८१
९—वही पृ ५८१

२०-पूर्ण ब्रह्मचारी की कसौटी

बीसवीं सदी में अहिंसा और ब्रह्मचर्य के विषय में गंभीर और विशद विचार करनेवाले चिंतकों में संत टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी—इन दो के ही नाम सर्वोपरि रखे जा सकते हैं। इन विषयों में इन महापुरुषों ने महान् वैचारिक क्रांति उत्पन्न की और मानव को दिव्य दृष्टि प्रदान की।

महात्मा गांधी और संत टॉल्स्टॉय के चिन्तन में न केवल वैचारिक एकता ही है पर आश्चर्यकारी शाब्दिक साम्य भी देखा जाता है। यह एक स्वतंत्र लेख का विषय है इसलिए हम उसमें नहीं जायेंगे। यहाँ इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि महात्मा गांधी के विचारों को संत टॉल्स्टॉय के विचारों से प्रचुर बल प्राप्त हुआ है। कहा जा सकता है कि संत टॉल्स्टॉय के विचार महात्मा गांधी की चिन्तनधारा की मध्य नींव हैं।

महात्मा गांधी और संत टॉल्स्टॉय—दोनों का ही आग्रह सत्य अहिंसा और ब्रह्मचर्य के लिए रहा। दोनों ही इन्हें जीवन के शाश्वत धर्म मानते रहे।

महात्मा गांधी ने एकबार कहा था : "महात्मापन कौड़ी काम का नहीं। वह तो मेरी बाह्य प्रवृत्तियों मेरे राजनीतिक कामों का प्रसाद है, जो मेरे जीवन का सब से छोटा अंग है फलतः चंदरोजा चीज है। जो वस्तु स्थायी मूल्यवाली है वह है मेरा सत्य अहिंसा और ब्रह्मचर्य का आग्रह। यही मेरे जीवन का सच्चा अंग है। 'वही मेरा सर्वस्व है'[1]।" दूसरी बार उन्होंने कहा "जीवन के शाश्वत भावों में एक ब्रह्मचर्य है। दुनिया मामूली चीजों की तरफ दौड़ती है। शाश्वत चीजों के लिए उसके पास समय ही नहीं रहता। तो भी हम विचार करें तो देखेंगे कि दुनिया शाश्वत चीजों पर ही टिकती है[2]।"

महात्मा गान्धी ने ब्रह्मचर्य के विषय को लेकर अनेक प्रयोग किये थे जिनका जिक्र कुछ बाद में ही किया जानेवाला है। इन प्रयोगों की भीति को सरलता से समझा जा सके, इसलिए महात्मा गान्धी ने ब्रह्मचर्य की क्या परिभाषा दी और वे उसके कितने नजदीक पहुंच सके यह जान लेना आवश्यक है। यह भी जान लेना आवश्यक है कि जैन दृष्टि से वे पूर्ण ब्रह्मचर्य के कितने नजदीक अथवा दूर कहे जा सकते हैं।

सन् १९२ में ब्रह्मचर्य का अर्थ बतलाते हुए महात्मा गान्धी ने लिखा "ब्रह्मचर्य का अर्थ उसके अंग्रेजी पर्याय 'सेलिबेसी' (अविवाह-व्रत) से अधिक व्यापक है। ब्रह्मचर्य के मानी है सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार। आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए मन, वाणी और कर्म सब में पूर्ण संयम का पालन आवश्यक है[3]।"

पाँच वर्ष बाद (सन् १९२४-२५ में) ब्रह्मचर्य के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा "ब्रह्मचर्य का लौकिक अथवा प्रचलित अर्थ तो मन वचन और काय से विषयेन्द्रिय का संयम माना जाता है[4]। इसकी विस्तृत व्याख्या सब इन्द्रियों का संयम है[5]।

इसके ग्यारह वर्ष बाद (सन् १९३६ में) उन्होंने लिखा "ब्रह्मचर्य का मूलार्थ इस प्रकार बताया जा सकता है—वह आचरण जिससे कोई व्यक्ति ब्रह्म या परमात्मा के सम्पर्क में आता है। इस आचरण में सब इन्द्रियों का संपूर्ण संयम शामिल है। इस शब्द का यही सच्चा और सुसंगत अर्थ है।

'वैसे आमतौर पर इसका अर्थ सिर्फ जननेन्द्रिय या शारीरिक संयम ही लगाया जाने लगा है। इस संकीर्ण अर्थ ने ब्रह्मचर्य को हल्का करके उसके आचरण को प्रायः बिल्कुल असंभव कर दिया है। जननेन्द्रिय पर तब तक संयम नहीं हो सकता जबतक कि सभी इन्द्रियों का उपयुक्त संयम न हो क्योंकि वे सब अन्योन्याश्रित हैं। मन भी इन्द्रियों में ही शामिल है। जब तक मन पर संयम न हो खाली शारीरिक संयम चाहे कुछ समय के लिए प्राप्त भी हो जाय पर उससे कुछ हो नहीं सकता[6]।"

१—अनीति की राह पर पृ० १६

२—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५१

३—अनीति की राह पर पृ० ५

४—वही पृ० ४८

५—वही पृ० ११

६—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ११

सन् १९३६ के उपर्युक्त विश्लेषण में उन्होंने वही बात कही है जो १९२९ में पुस्तकरूप में इस प्रकार कही थी "ब्रह्मचर्य का अर्थ शारीरिक संयम-मात्र नहीं है, बल्कि उसका अर्थ है—सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार और मन-वचन-कर्म से काम वासना का त्याग ।"[1]

अंत में (सन् १९४७) में भी उन्होंने ब्रह्मचर्य की यही परिभाषा दी "जो हमें ब्रह्म की तरफ ले जाय वह ब्रह्मचर्य है। इसमें जननेन्द्रिय का संयम आ जाता है। वह संयम मन वाणी और कर्म से होना चाहिए[2] ।

इस तरह महात्मा गांधी का आदि, मध्य और अन्तिम चिन्तन एक ही रूप में बहता रहा। उन्होंने आजीवन ऐसे ब्रह्मचर्य को ही आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-प्राप्ति का सीधा और सच्चा रास्ता माना[3] ।

ब्रह्मचर्य की इस परिभाषा की कसौटी पर ही वे कहते रहे

(१) पुरुष स्त्री का स्त्री पुरुष का भोग न करे, यही ब्रह्मचर्य है। भोग न करने का अर्थ इतना ही नहीं कि एक दूसरे को भोग की इच्छा से स्पर्श न करे, बल्कि मन से इसका विचार भी न करे। इसका सपना भी न होना चाहिए ।

(२) ब्रह्मचर्य का अर्थ शारीरिक आत्म-संयम ही नहीं है। इसका मतलब है सभी इन्द्रियों पर पूर्ण नियमन। इस प्रकार अशुद्ध विचार भी ब्रह्मचर्य का भंग है और यही हाल क्रोध का है[4] ।

(३) जो मनुष्य मनसे भी विकारी होता है, समझना चाहिए कि उसका ब्रह्मचर्य स्खलित हो गया। जो विचार में निर्विकार नहीं वह पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं माना जा सकता[5] ।

(४) अगर कोई मन से भोग करे और वाणी व स्थूल कर्म पर काबू रखे तो वह ब्रह्मचर्य में नहीं चलेगा। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'। मन पर काबू हो जाय तो वाणी और कर्म का संयम बहुत आसान होता है[6] ।

सच्चा पूर्ण ब्रह्मचारी कैसा होता है, इसपर भी उन्होंने कई बार लिखा। एक बार उन्होंने कहा—

"बुढ़ापे में बुद्धि मन्द होने के बदले और तीक्ष्ण होनी चाहिए। हमारी स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि इस देह से मिले हुए अनुभव हमारे और दूसरे के लिए लाभदायक हो सकें और जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसकी ऐसी स्थिति रहती भी है। उसे मृत्यु का भय नहीं रहता और मरते समय भी वह भगवान को नहीं भूलता और न बेकार ही हाय-हाय करता है। मरण-काल में उपद्रव भी उसे नहीं सताते और वह हंसते-हंसते यह देह छोड़कर मालिक को अपना हिसाब देने जाता है। जो इस तरह मरे वही पुरुष और वही स्त्री है।

बाद में लिखा

'अल्पाहारी होते हुए भी ऐसा ब्रह्मचारी शारीरिक श्रम में किसी से कम नहीं रहेगा। मानसिक श्रम से उसे कम-से-कम थकान लगेगी। बुढ़ापे के सामान्य चिह्न ऐसे ब्रह्मचारी में देखने को नहीं मिलेंगे। जैसे पका हुआ पत्ता या फल वृक्ष की टहनी पर से सहज ही गिर पड़ता है, वैसे ही समय आने पर मनुष्य का शरीर सारी शक्तियाँ रखते हुए भी गिर जायेगा। ऐसे मनुष्य का शरीर समय बीतने पर देखने में भले ही क्षीण लगे मगर उसकी बुद्धि का तो क्षय होने के बदले नित्य विकास ही होना चाहिए और उसका तेज भी बढ़ना चाहिए। ये चिह्न जिसमें देखने में नहीं आते उसके ब्रह्मचर्य में उतनी कमी समझनी चाहिए ।

१—अनीति की राह पर पृ० ७२
२—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५२
३—अनीति की राह पर पृ० ७
४—आरोग्य साधन पृ० ५६-५७
५—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १
६—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ७
७—वही पृ० ५२
८—अनीति की राह पर पृ० ६६
९—आरोग्य की कुंजी पृ० ३४

सन् १९४७ में उन्होंने लिखा

"मेरी कल्पना का ब्रह्मचारी स्वाभाविक रूप से स्वस्थ होगा उसका सिर तक नहीं दुखेगा वह स्वभावत: दीर्घजीवी होगा उसकी बुद्धि तेज होगी वह आलसी नहीं होगा शारीरिक या बौद्धिक काम करने में थकेगा नहीं और उसकी बाहरी सुघड़ता सिर्फ दिखावा न होकर भीतर का प्रतिबिंब होगी। ऐसे ब्रह्मचारी में स्थितप्रज्ञ के सब लक्षण देखने में आयेंगे। ऐसा ब्रह्मचारी हमें नहीं दिखाई न पड़े तो उसमें घबराने की कोई बात नहीं।

"जो स्थिरवीर्य है जो ऊर्ध्वरेता है उसमें ऊपर के लक्षण देखने में आयें तो कौन बड़ी बात है? मनुष्य के इस बीज में अपने-जैसा बीज पैदा करने की ताकत है उस वीर्य को ऊँचे ले जाना ऐसी-वैसी बात नहीं हो सकती। जिस वीर्य की एक बूंद में इतनी ताकत है उसके हजारों बूंदों की ताकत का माप कौन लगा सकता है[1]।

महात्मा गांधी के सामने प्रश्न आते ही रहते—'क्या आप ब्रह्मचर्य का पूरा पालन करते हैं? क्या आप ब्रह्मचारी हैं? महात्मा गांधी ने ऐसे प्रश्नों का उत्तर देते हुए अपनी स्थिति पर कई बार प्रकाश डाला।

सन् १९२४ में एक बार उन्होंने कहा 'मन वाणी और काया से सम्पूर्ण इन्द्रियों का सदा सब विषयों में संयम ब्रह्मचर्य है। इस सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य की स्थिति को मैं अभी नहीं पहुँच सका हूँ। पहुँचने का प्रयत्न सदा चल रहा है। काया पर मैंने काबू पा लिया है। जाग्रत अवस्था में मैं सावधान रह सकता हूँ। वाणी के संयम का यथायोग्य पालन करना भी सीख लिया है। पर विचारों पर अभी बहुत काबू पाना बाकी है। जिस समय जो बात सोचनी हो उस क्षण वही बात मन में रहनी चाहिए। पर ऐसा न होकर और बातें भी मन में आ जाती हैं और विचारों का द्वन्द्व मचा ही रहता है।

'फिर भी जाग्रत अवस्था में मैं विचारों का एक-दूसरे से टकराना रोक सकता हूँ। मैं उस स्थिति को पहुँचा हुआ माना जा सकता हूँ जब गन्दे विचार मन में आ ही नहीं सकें। पर निद्रावस्था में विचार के ऊपर मेरा काबू कम रहता है। नींद में अनेक प्रकार के विचार मन में आते हैं अनसोचे सपने भी दिखाई देते हैं। कभी-कभी इसी देह में की हुई बातों की वासना जग उठती है। ये विचार गन्दे हों तो स्वप्न दोष होता है। यह स्थिति विकारयुक्त जीवन की ही हो सकती है।

"मेरे विचारों के विकार क्षीण होते जा रहे हैं। पर अभी उनका नाश नहीं हो पाया है। अपने विचारों पर मैं पूरा काबू पा सका होता तो पिछले दस बरस के बीच जो तीन कठिन बीमारियाँ मुझे हुईं वे न हुई होतीं।

'यह अद्भुत दशा तो दुर्लभ ही है। नहीं तो मैं अब तक उसको पहुँच चुका होता क्योंकि मेरी आत्मा गवाही देती है कि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए जो उपाय करने चाहिए, उनके करने में मैं पीछे रहनेवाला नहीं हूँ। पर पिछले संस्कारों को धो डालना सब के लिए सहज नहीं होता। इस तरह लक्ष्य तक पहुँचने में देर लग रही है, पर इससे मैंने तनिक भी हिम्मत नहीं हारी है। कारण यह है कि निर्विकार दशा की कल्पना मैं कर सकता हूँ। उसकी धुंधली झलक भी जब-तब पा जाता हूँ और इस रास्ते में मैं अब तक जितना आगे बढ़ सका हूँ, वह मुझे निराश करने के बदले आशावान ही बनाता है[2]।"

महात्मा गान्धी को एक अभिनन्दन पत्र में नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा गया था। उत्तर में बोलते हुए सन् १९२५ में उन्होंने कहा 'जब मुझे कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहता है तब मुझे अपने-पर दया आती है। जिसके बाल-बच्चे हुए हैं उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कैसे कह सकते हैं? नैष्ठिक ब्रह्मचारी को न तो कभी बुखार आता है न कभी सिर दर्द करता है न कभी खाँसी होती है और न कभी अपेंडिसाइटिस होता है। मुझ पर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के पालन का आरोपण कर के कोई मिथ्याचारी न हो। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का तेज तो मुझ से अनेक गुना अधिक होना चाहिए। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं। हाँ यह सच है कि मैं वैसा बनना चाहता हूँ[3]।

जब महात्मा गांधी ने स्वप्न-स्खलन की बात स्वीकार की तब एक सज्जन ने लिखा कि ऐसे स्वीकार का प्रभाव अच्छा नहीं हो सकता।

१—ब्रह्मचर्य (दू भा) पृ ५२

२—अनीति की राह पर पृ ५६ ५८

३—ब्रह्मचर्य (प भा) पृ १२५ ।

यह महात्मा गांधी का उनकी अपनी दृष्टि से विचार है ।

भगवान महावीर के अनुसार कार्य की निष्पत्ति 'तिविहं तिविहेणं' इस मंत्र के अनुसार होती है । मन, वचन और काय—ये तीन क्रिया के हेतु—करण हैं । और करना, कराना और अनुमोदन करना ये क्रिया के तीन तरीके—योग हैं । तीन करण तीन योग से कार्य सम्पन्न होता है । उन्होंने कहा—जो पूर्ण ब्रह्मचारी होना चाहता है, उसे यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से सर्व प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करना होगा—"णेव सयं मेहुणं सेविज्जा णेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा मेहुणं सेवंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए ।"[1] भगवान महावीर के अनुसार जो मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन नहीं करता वह देश ब्रह्मचारी है । पूर्ण ब्रह्मचारी वह है जो मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन नहीं करता, न करवाता है और न करनेवाले का अनुमोदन करता है ।

महात्मा गांधी ने एक बार लिखा : "किसी का भी विवाह करने का अथवा उसमें भाग लेने का अथवा उसे उत्तेजन देने का मेरा काम नहीं । पुनः आश्रम की भूमि पर विवाह हो यह आश्रम के आदर्श के साथ मिलती वस्तु नहीं कही जा सकती । मेरा धर्म ब्रह्मचर्य का पालन करने-कराने का रहा है । मैं इस काल को आपत्तिकाल मानता हूँ । ऐसे समय में विवाह हो या प्रजावृद्धि हो, यह अनिष्ट समझता हूँ । ऐसे कठिन समय में समझदार मनुष्य का कार्य भोग कम करने और त्यागवृत्ति बढ़ाने का होना चाहिए[1] ।"

इन उद्गारों से महात्मा गांधी का आग्रह पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए ही था, यह स्पष्ट है । ऐसा पक्ष, इच्छा और आदर्श होने पर भी महात्मा गांधी ने कितने ही विवाह अपने हाथों से कराये । एक बार उन्होंने कहा : "मैं आपसे कहूँ कि आप ब्रह्मचारी बनें तो क्या यह होनेवाली बात है ? यह तो एक आदर्श है, इसलिए मैं तो विवाह भी करा देता हूँ । एक आदर्श देते हुए भी यह तो जानता हूँ कि ये लोग भोग भी करेंगे[3] ।"

इस तरह भोगोत्पत्ति की परम्परा को प्रशस्त करनेवाले प्रसंगों में महात्मा गांधी भी यदा-कदा भाग लेते हुए देखे जाते हैं ।

एक बार महात्मा गांधी से पूछा गया—"पति को क्षयरोग जैसा कठिन रोग हो तब स्त्री क्या करे ?" उन्होंने उत्तर दिया : "ऐसे पति को छोड़ कर उसे दूसरी शादी कर लेनी चाहिए[4] ।"

यह उत्तर दो अपेक्षा से ही हो सकता है—(१) भोगी पति की अपेक्षा से जो ऐसे रोग के समय भी संयम नहीं रख पाता । इस अपेक्षा से ऐसा उत्तर 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' ही होगा । (२) भोग की कामना रखनेवाली पत्नी की अपेक्षा से । इस अपेक्षा से यह उत्तर भोग की राह दिखाता है । संयम का मार्ग नहीं ।

महात्मा गांधी कहा करते थे : 'स्त्री-पुरुष के पत्नी-पति तरीके के सांसारिक जीवन के मूल में भोग है[5] । एक पति को छोड़कर दूसरे पति के साथ विवाह करने में तो प्रत्यक्षतः यह एक मूल बात है । ऐसी हालत में विवाह का सुझाव अब्रह्म का ही अनुमोदन कहा जा सकता है ।

एक बार बलवन्तसिंहजी ने पूछा : "कुछ लोग वासना का शमन करने के लिए विवाह की आवश्यकता मानते हैं । क्या भोग से वासना का शमन हो सकता है ?" बापू ने जवाब दिया—"हरगिज नहीं" ।

यह ठीक वैसा ही उत्तर है जैसा भी हेमचन्द्राचार्य ने दिया : 'जो स्त्री-संभोग से कामज्वर को शान्त करना चाहता है, वह घी की आहुति से अग्नि को शमन करना चाहता है ।'

स्त्रीसम्भोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।
स हुताशं घृताहुत्या विध्यापयितुमिच्छति[6] ॥

१—त्यागमूर्ति अने बीजा लेखो पृ० १०४
२—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ८
३—वही पृ० १
४—बापु ना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटक ने पृ० १ १
५—बापू की छाया में पृ० —
६—योगशास्त्र २।८१

ऐसा होते हुए भी बापूने ने एक बार लिखा—"स्त्री को देखकर जिसके मन में विकार पैदा होता हो वह ब्रह्मचर्य-पालन का विचार छोड़कर, अपनी स्त्री के साथ मर्यादापूर्वक व्यवहार रखे जो विवाहित न हो उसे विवाह का विचार करना चाहिए[1] ।"

यहाँ विकार की शांति का उपाय बताते हुए उन्होंने एक तरह से विवाहित-संभोग का अनुमोदन कर दिया। इस तरह अनुमोदन के अनेक प्रसंग महात्मा गांधी के जीवन में देखे जाते हैं।

उन्होंने एक बार कहा—"विवाहित स्त्री-पुरुष यदि प्रजोत्पत्ति के शुभ हेतु बिना विषय भोग का विचार तक न करें, तो वे पूर्ण ब्रह्मचारी माने जाने के लायक हैं[2] ।" दूसरी बार कहा—'जो दंपति गृहस्थाश्रम में रहते हुए केवल प्रजोत्पत्ति के हेतु ही परस्पर संभोग और एकान्त करते हैं वे ठीक ब्रह्मचारी हैं[3] ।" उन्होंने फिर कहा—"सन्तानोत्पत्ति के ही अर्थ किया हुआ संभोग ब्रह्मचर्य का विरोधी नहीं है[4] ।"

इस तरह संतान के हेतु अब्रह्म का उनसे अनुमोदन हो गया।

एक बार महात्मा गांधी के साथी बलवन्तसिंहजी ने पूछा—"आप कहते हैं कि संतान के लिए स्त्री-संग धर्म है बाकी व्यभिचार है और निर्विकार मनुष्य भी संतान पैदा कर सकता है। वह ब्रह्मचारी ही है। लेकिन जिसने विकार के ऊपर काबू पाया है, वह क्या संतान की इच्छा करेगा?" महात्मा गांधी ने उत्तर दिया हाँ यह अच्छा सवाल है। लेकिन ऐसे भी लोग हो सकते हैं, जो निर्विकार होने पर भी पुत्र की इच्छा रखते हैं।" बलवन्तसिंहजी ने कहा 'अधिकतर तो संतान की आड़ में काम की तृप्ति करते हैं। महात्माजी बोले: 'हाँ यह तो ठीक है। आजकल धर्मज संतान कहाँ है? मनु की भाषा में एक ही संतान धर्मज है, बाकी सब पापज है[5] ।"

महात्मा गांधी ने 'पुत्र की इच्छा' को भोगेच्छा से जुदा माना है। उन्होंने भोगेच्छा को विकार माना है सन्तानेच्छा को नहीं। उनके विचार को सम्भवतः इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि एक आदमी रसोई बनाने के लिए अग्नि सुलगाता है और दूसरा आदमी घर में आग लगाने के लिए अग्नि सुलगाता है। पहले मनुष्य का कार्य अनैतिक नहीं दूसरे का अनैतिक है। उसी तरह जो विषय भोग की कामना से भोग करता है, उस का कार्य अनैतिक है—अधम है। सन्तान की इच्छा से भोग करता है उसका नहीं।

जो सूक्ष्म दृष्टि पर गये हैं, उन ज्ञानियों का कहना है कि अग्नि जलाना मात्र हिंसा है, फिर वह किसी दृष्टि या प्रयोजन से ही क्यों न हो। रसोई बनाने के लिए अग्नि सुलगाना अनिवार्य हो सकता है। पर इस अनिवार्यता के कारण वह अहिंसा की दृष्टि से आध्यात्मिक नहीं कहा जा सकता। वैसे ही संभोग भले ही सन्तानेच्छा के लिए हो वह कभी धर्म या आध्यात्मिक नहीं है। जननेन्द्रियों का उपयोग विषय भोग की इच्छा से भी हो सकता है और सन्तान की इच्छा से भी। दोनों उपयोग अधर्म और अनाध्यात्मिक हैं। 'सन्तान की इच्छा' पूरी करने की प्रक्रिया विषय-भोग ही है। 'सन्तान की इच्छा' और 'विषय-भोग की इच्छा' एक ही अब्रह्म रूपी सिक्के के दो बाजू हैं। उन्हें भिन्न-भिन्न नहीं माना जा सकता।

भगवान महावीर और स्वामीजी की दृष्टि से निम्नलिखित तीनों प्रकार के कार्य अब्रह्मचर्य की कोटि के हैं

१—मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन करना

२—मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन कराना

३—मन-वचन-काय से अब्रह्म-सेवन का अनुमोदन करना

इस दृष्टि से जो मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन तो नहीं करता पर उसका सेवन करवाता या अनुमोदन करता है वह भी ब्रह्मचारी नहीं।

१—ब्रह्मचर्य (दू. भा.) पृ. ५

—आरोग्य की कुंजी पृ. ३६

३—ब्रह्मचर्य (प. भा.) पृ. ८१

४—वही पृ. ७७

५—बापू की छाया में पृ.

यह महात्मा गांधी का उनकी अपनी दृष्टि से विचार है।

भगवान महावीर के अनुसार कार्य की निष्पत्ति 'तिविहं तिविहेणं' इस भंग के अनुसार होती है। मन वचन और काय—ये तीन क्रिया के हेतु—करण हैं। और करना कराना और अनुमोदन करना ये क्रिया के तीन तरीके—योग हैं। तीन करण तीन योग से कार्य उत्पन्न होता है। उन्होंने कहा—जो पूर्ण ब्रह्मचारी होना चाहता है उसे यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करना होगा—"नेव सयं मेहुणं सेविज्जा नेवऽन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा मेहुणं सेवंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए।"[1] भगवान महावीर के अनुसार जो मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन नहीं करता वह देश ब्रह्मचारी है। पूर्ण ब्रह्मचारी वह है जो मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन नहीं करता न करवाता है और न करनेवाले का अनुमोदन करता है।

महात्मा गांधी ने एक बार लिखा 'किसी का भी विवाह करने का अथवा उसमें भाग लेने का अथवा उसे उत्तेजन देने का मेरा काम नहीं। पुनः आश्रम की भूमि पर विवाह हो यह आश्रम के आदर्श के साथ मिलती वस्तु नहीं कही जा सकती। मेरा धर्म ब्रह्मचर्य का पालन करने-कराने का रहा है। मैं इस काल को आपत्तिकाल मानता हूं। ऐसे समय में विवाह हो या प्रजावृद्धि हो यह अनिष्ट समझता हूं। ऐसे कठिन समय में समझदार मनुष्य का कार्य भोग कम करने और त्यागवृत्ति बढ़ाने का होना चाहिए'[1]।

इन उद्गारों से महात्मा गांधी का आग्रह पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए ही था यह स्पष्ट है। ऐसा मन इच्छा और आदर्श होने पर भी महात्मा गांधी ने कितने ही विवाह अपने हाथों से कराये। एक बार उन्होंने कहा 'मैं आपसे कहूं कि आप ब्रह्मचारी बन तो क्या वह होनेवाली बात है? वह तो एक आदर्श है, इसलिए मैं तो विवाह भी करा देता हूं। एक आदर्श देते हुए भी यह तो जानता हूं कि ये लोग भोग भी करेंगे[2]।

इस तरह भोगोत्पत्ति की परम्परा को प्रसरण करनेवाले प्रसंगों में महात्मा गांधी भी यदा-कदा भाग लेते हुए देखे जाते हैं।

एक बार महात्मा गांधी से पूछा गया—'पति को उपदंश जैसा कठिन रोग हो तब स्त्री क्या करे?' उन्होंने उत्तर दिया: "ऐसे पति को क्लीव समझ कर उसे दूसरी शादी कर लेनी चाहिए[3]"।

यह उत्तर दो अपेक्षा से ही हो सकता है—(१) भोगी पति की अपेक्षा से जो ऐसे रोग के समय भी संयम नहीं रख पाता। इस अपेक्षा से ऐसा उत्तर 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' ही होगा। (२) भोग की कामना रखनेवाली पत्नी की अपेक्षा से। इस अपेक्षा से यह उत्तर भोग की राह दिखाता है। संयम का मार्ग नहीं।

महात्मा गांधी कहा करते थे: 'स्त्री-पुरुष के पत्नी-पति तरीके के सांसारिक जीवन के मूल में भोग है। एक पति को छोड़कर दूसरे पति के साथ विवाह करने में तो प्रत्यक्षतः यह एक मूल बात है। ऐसी हालत में विवाह का सुझाव अब्रह्म का ही अनुमोदन कहा जा सकता है।

एक बार बलवन्तसिंहजी ने पूछा "कुछ लोग वासना का क्षय करने के लिए विवाह की आवश्यकता मानते हैं। क्या भोग से वासना का क्षय हो सकता है?" बापू ने जवाब दिया—"हरगिज नहीं[4]।"

यह ठीक वैसा ही उत्तर है, जैसा श्री हेमचन्द्राचार्य ने दिया 'जो स्त्री-संभोग से कामज्वर को शान्त करना चाहता है, वह घी की आहुति से अग्नि को शमन करना चाहता है।

स्त्रीसंभोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति।
स हुताशं घृताहुत्या विध्यापयितुमिच्छति[5]॥

१—त्यागमूर्ति अने बीजा लेखो पृ० १७४
२—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ०
३—वही पृ० ६
४—बापु ना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने पृ० १ १
५—बापू की छाया में पृ०
६—योगशास्त्र ८१

इसके उत्तर में महात्मा गान्धी ने जो लिखा, उससे इस प्रयोग के पीछे रही हुई उनकी भावना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उन्होंने लिखा

"सेवक आश्रम में स्त्रियों के प्रति मेरे व्यवहार में उनके मेरे मा-समान स्पर्श में दोष देखते हैं। इस विषय की आश्रम में मैंने अपने साथियों के साथ चर्चा की है। आश्रम में जो मर्यादित छूट पड़ या अनपढ़ बहनें भोगती हैं, वसी छूट अन्य कहीं हिन्द में वे भोगती हों ऐसा मैं नहीं जानता। पिता अपनी पुत्री का निर्दोष स्पर्श सब के सामने करे, उसमें मैं दोष नहीं देखता। मेरा स्पर्श उसी प्रकार का है। मैं कभी एकान्त में नहीं होता। मेरे साथ रोज बालिकाएं घूमने को निकलती हैं तब उनके कंधे पर हाथ रखकर मैं चलता हूं। इस स्पर्श की निरपवाद मर्यादा है, यह वे बालिकाएँ जानती हैं और सब समझती हैं।

"अपनी लड़कियों को हम अपङ्ग बनाते हैं उनमें अयोग्य विकार उत्पन्न करते हैं और जो उनमें नहीं है उसका आरोप करते हैं और फिर हम उन्हें कुचलते हैं और बहु बार व्यभिचार का भाजन बनाते हैं। वे यही मानना सीखती हैं कि वे अपने शील की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इस अपंगता से बालिकाओं को मुक्त करने का आश्रम में भगीरथ प्रयत्न चल रहा है। इस प्रकार का प्रयत्न मैंने दक्षिण अफ्रिका में ही आरंभ किया था। मैंने उसका खराब परिणाम नहीं देखा। किन्तु आश्रम की शिक्षा से कितनी ही बालिकाएँ, बीस वर्ष तक की हो जाने पर भी निर्विकार रहने का प्रयत्न करनेवाली हैं, दिन दिन निर्भय और स्वाश्रयी बनती जाती हैं। कुमारिका मात्र के स्पर्श से या दर्शन से पुरुष विकारमय होता ही है, *ऐसी मान्यता पुरुष के पुरुषत्व को लज्जित करनेवाली है—ऐसा मैं मानता हूं। यह बात अगर सच ही है, तो ब्रह्मचर्य असंभव* ठहरेगा।

"इस संधिकाल के समय इस देश में स्त्री-पुरुष के बीच परस्पर सम्बन्ध की मर्यादा होनी ही चाहिए। छूट में जोखम है। इसका मैं रोज प्रत्यक्ष अनुभव करता हूं। अतः स्त्री-स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए जितनी मर्यादा रखी जा सकती हो उतनी आश्रम में अंकित है। मेरे सिवा कोई पुरुष बालिकाओं का स्पर्श नहीं करता करने का प्रसंग ही नहीं होता। जितना लिखा-लिखा नहीं जा सकता।

"मैं स्पर्श करता हूं उसमें जोखम का जरा भी दावा नहीं है। मुझमें योग्यता बहुत कुछ नहीं है। मैं दूसरों ही की तरह विकारमय माटी का पुतला हूं। पर विकारमय पुरुष भी पितामह में देखने में आये हैं। मेरी अनेक पुत्रियां हैं, अनेक बहिनें हैं। एक पत्नीव्रत से मैं बंधा हुआ हूं। पत्नी भी केवल मित्र रही है। अतः सहज निरन्तर विकारों पर दबाव डालना पड़ता है। माता ने मुझे भर जवानी में प्रतिज्ञा का सौन्दर्य जानना सिखाया। बचपन से भी अधिक अमोघ ऐसी प्रतिज्ञा की दीवाल मुझे सुरक्षित रखती है। मेरी इच्छा के विरुद्ध भी इस दीवाल ने मुझे सुरक्षित रखा है। भविष्य रामजी के हाथ में है।

इस विषय का कुछ प्रभावशाली कंटक ने अपने एक पत्र में जिक्र किया। उसके उत्तर में (१८-८-२२ को) महात्मा गांधी ने लिखा :

"लोकमत जाने जिस समाज के मत की हमको दरकार है, उसका मत। यह मत नीति से विरुद्ध न हो तब तक उसे सम्मान देना धर्म है। धोबी के किस्से पर से शुद्ध निर्णय करना कठिन है। हम लोगों को तो आज यह जरा भी अच्छा नहीं लगेगा। ऐसी टीका को सुनकर अपनी पत्नी का त्याग करनेवाला निर्दय और अन्यायी ही कहलायेगा।

"लड़कियों के साथ मेरी छूट से आश्रमवासियों को आघात पहुँचता हो तो छूट लेना मुझे बन्द कर देना चाहिए, ऐसी मेरी मान्यता है। यह छूट लेने का कोई स्वतंत्र धर्म नहीं और लेने में नीति का भय नहीं। पर ऐसी छूट न लेने से लड़कियों पर बुरा असर होता हो तो मैं आश्रमवासियों को समझाऊंगा और छूट लूंगा। लड़कियाँ ही मुझ न छोड़ें तो फिर क्या करना यह देखना मेरा काम रहा। मैं जो छूट जिस प्रकार से लेता हूं उसकी नकल तो कोई भी न करे। 'आज से मुझ छूट लगी है' इस प्रकार विचार कर कृत्रिम रूप से कोई छूट नहीं ली जा सकती और कोई इस तरह ले तो यह जरा ही कहा जायगा।

"मूल बात यह है कि जो कोई विकार के वश होकर निर्दोष से निर्दोष लगनेवाली छूट भी लेता है, वह खर खाई में गिरता है और दूसरों को भी गिराता है। आज समाज में जब तक स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं होता तब तक *अवश्य देखकर चलने की जरूरत है।* इस सम्बन्ध में सबको लागू पड़े—ऐसा कोई राजमार्ग नहीं। लौकिक मर्यादा मात्र खराब है ऐसा कहकर समाज को आघात नहीं पहुंचाना चाहिए[२]।"

१—नवजीवन १८-७-२१ : त्यागमूर्ति अने बीजा लेखो पृ २१ १४

२—बापुना पत्रो—५ कु प्रभावतीबेन कंटकने (गु) पृ १५६ से संक्षिप्त

महात्मा गांधी ने लिखा है कि उनके मन में विकार शांत नहीं हुए, इसलिए वे ब्रह्मचारी नहीं। श्रमण भगवान महावीर की दृष्टि से उन्होंने मन-वचन-काया से करने कराने रूप भङ्गों का भी सेवन नहीं किया इसलिए भी पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं।

आचार्य भिक्षु ने कहा— भगवन् ! मैंने यह समझा है और इसी तुला से तोला है कि जिसका करना धर्म है, उसका कराना और अनुमोदन करना भी धर्म है और जिसे करना अधर्म है उसका कराना और अनुमोदन करना भी अधर्म है।

'वृक्ष को काटने में पाप है तो उसे काटने के लिए कुल्हाड़ी देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं।

"जीव जलाने में पाप है तो उसे जलाने के लिए अग्नि देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है।

'युद्ध करने में पाप है तो युद्ध करने के लिए शस्त्र देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है'[१]।

इसी तरह किसी भङ्ग से अब्रह्मचर्य का सेवन करनेवाला ही अब्रह्मचारी नहीं पर सेवन करानेवाला और अनुमोदन करानेवाला भी अब्रह्मचारी है।

महात्मा गांधी ने पूर्ण ब्रह्मचारी की एक कसौटी दी है। श्रमण भगवान महावीर और 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' इस तरह भगवान महावीर को माननेवाले स्वामीजी ने भी कसौटी दी है। इन कसौटियों पर अपने को कसता हुआ जो अपने हृदय के एक-एक कोने से अब्रह्म के कूड़े कचरे को दूर करता जायगा वह निश्चय ही एक दिन पूर्ण ब्रह्मचारी हो जायगा इसमें कोई सन्देह की चीज नहीं।

२१-महात्मा गांधी और ब्रह्मचर्य के प्रयोग

(१) कंधे का सहारा और साथ टहलना

सन् १९४२ में महात्मा गांधी ने कहा "ज्यों-ज्यों हम सामान्य अनुभव से आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों हमारी प्रगति होती है। अनेक अच्छी-बुरी खोज सामान्य अनुभव के विरुद्ध जाकर ही हो सकी हैं। चकमक से दियासलाई और दियासलाई से बिजली की खोज इसी एक चीज की आभारी है। जो बात भौतिक वस्तु पर लागू होती है वही आध्यात्मिक पर भी होती है। संयम धर्म कहाँ तक जा सकता है, इसका प्रयोग करने का हम सब को अधिकार है। और ऐसा करना हमारा कर्त्तव्य भी है।[२] इसी भावना से वे ब्रह्मचर्य के विषय में कई प्रकार के प्रयोग करते रहे।

महात्मा गांधी बालिकाओं और स्त्रियों के कंधे का सहारा लेकर घूमा करते। भारतवासियों के लिए यह एक नया प्रयोग ही था। इस प्रयोग की शुरूआत के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने लिखा है

"सन् १८९१ में विलायत से लौटने के बाद मैंने अपने परिवार के बच्चों को करीब करीब अपनी निगरानी में ले लिया और उनके—बालक बालिकाओं के कंधों पर हाथ रखकर उनके साथ घूमने की आदत डाल ली। ये मेरे भाइयों के बच्चे थे। उनके बड़े हो जाने पर भी यह आदत जारी रही। ज्यों-ज्यों परिवार बढ़ता गया त्यों-त्यों इस आदत की मात्रा इतनी बढ़ी कि इसकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होने लगा[३]।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह प्रयोग बाद में आश्रम की बहिनों के साथ भी चला।

सन् १९२९ में एक सज्जन ने उत्तेजित होकर लिखा :

"इस सम्बन्ध में मेरी विनति है कि ऐसा प्रयोग आपको भी नहीं करना चाहिए। काष्ठ की पुतली भी मनुष्य को चंचल करती है तो पराई स्त्रियों के कंधे पर हाथ रख कर फिरना और चाहे जिस तरह स्पर्श करना क्या यह मनुष्य को अधःपतन के रास्ते पर ले जानेवाला नहीं। आपने तो योगाभ्यास ठीक साधा होगा ऐसा मान भी लिया जाय तो दुनिया का बड़ा साधा हुआ नहीं होता। दुनिया आज बोलने के बनिस्बत आप क्या करते हैं यह देखने और उस प्रकार करने के लिए प्रेरित होती है, और बिना विचारे अनुकरण के लिए चल पड़ती है।

१—भिक्षु विचार दर्शन पृ० ७१-८

२—आरोग्य की कुंजी पृ० ३३

३—हरिजन सेवक, २७-१-४७ : ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ६

इसके उत्तर में महात्मा गान्धी ने जो लिखा उससे इस प्रयोग के पीछे रही हुई उनकी भावना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उन्होंने लिखा

"लेखक आश्रम में स्त्रियों के प्रति मेरे व्यवहार में उनके मेरे या-समान स्पर्श में दोष देखते हैं। इस विषय की आश्रम में मैंने अपने साथियों के साथ चर्चा की है। आश्रम में जो मर्यादित छूट पड़ या अनपढ़ बहनें भोगती हैं, वही छूट अन्य कहीं हिन्द में वे भोगती हों ऐसा मैं नहीं जानता। पिता अपनी पुत्री का निर्दोष स्पर्श सब के सामने करे, उसमें मैं दोष नहीं देखता। मेरा स्पर्श उसी प्रकार का है। मैं कभी एकान्त में नहीं होता। मेरे साथ रोज बालिकाएँ घूमने को निकलती हैं तब उनके कंधे पर हाथ रखकर मैं चलता हूँ। उस स्पर्श की निरपवाद मर्यादा है यह वे बालिकाएँ जानती हैं और सब समझती हैं।

'अपनी लड़कियों को हम अपाङ्ग बनाते हैं, उनमें अयोग्य विकार उत्पन्न करते हैं और जो उनमें नहीं है उसका आरोप करते हैं और फिर हम उन्हें कुचलते हैं, और बहु बार व्यभिचार का भाजन बनाते हैं। वे यही मानना सीखती हैं कि वे अपने शील की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इस अपंगता से बालिकाओं को मुक्त करने का आश्रम में भगीरथ प्रयत्न चल रहा है। इस प्रकार का प्रयत्न मैंने दक्षिण अफ्रिका में ही आरंभ किया था। मैंने उसका खराब परिणाम नहीं देखा। किन्तु आश्रम की शिक्षा से कितनी ही बालिकाएँ, बीस वर्ष तक की हो जाने पर भी निर्विकार रहने का प्रयत्न करनेवाली हैं, दिन दिन निर्भय और स्वाश्रयी बनती जाती हैं। *कुमारिका मात्र के स्पर्श से या दर्शन से पुरुष विकारमय होता ही है, ऐसी मान्यता पुरुष के पुरुषत्व को लज्जित करनेवाली है—ऐसा मैं मानता हूँ। यह बात अगर सच ही है तो ब्रह्मचर्य असंभव ठहरेगा।*

"इस सन्धिकाल के समय इस देश में स्त्री-पुरुष के बीच परस्पर सम्बन्ध की मर्यादा होनी ही चाहिए। छूट में जोखम है। इसका मैं रोज प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ। अतः स्त्री-स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए जितनी मर्यादा रखी जा सकती हो उतनी आश्रम में रक्षित है। मेरे सिवा कोई पुरुष बालिकाओं का स्पर्श नहीं करता करने का प्रसंग ही नहीं होता। फिलहाल लिया-दिया नहीं जा सकता।

"*मैं स्पर्श करता हूँ उसमें जोखम का जरा भी दावा नहीं है। मुझमें योगबल जैसा कुछ नहीं है। मैं दूसरों ही की तरह विकारमय* माटी का पुतला हूँ। पर विकारमय पुरुष भी पिताश्रम में देखने में आये हैं। मेरी अनेक पुत्रियाँ हैं, अनेक बहिनें हैं। एक पत्नीव्रत से मैं बंधा हुआ हूँ। पत्नी भी केवल मित्र रही है। अतः सहज विकराल विकारों पर दबाव डालना पड़ता है। माता ने मुझे भर जवानी में प्रतिज्ञा का सौन्दर्य जानना सिखाया। वज्र से भी अधिक अभेद्य ऐसी प्रतिज्ञा की दीवाल मुझे सुरक्षित रखती है। मेरी इच्छा के विरुद्ध भी इस दीवाल ने मुझे सुरक्षित रखा है। भविष्य रामजी के हाथ में है"[1]।

इस विषय का कु० प्रभावहन कंटक ने अपने एक पत्र में जिक्र किया। उसके उत्तर में (१८-८ ११ को) महात्मा गांधी ने लिखा।

"लोकमत याने जिस समाज के मत की हमको दरकार है, उसका मत। वह मत नीति से विरुद्ध न हो तब तक उसे सम्मान देना धर्म है। गांधी के किस्से पर से दृढ़ निर्णय करना कठिन है। हम लोगों को तो आज यह जरा भी अच्छा नहीं लगेगा। ऐसी टीका को सुनकर अपनी पत्नी का त्याग करनेवाला निर्दय और अन्यायी ही कहलायेगा।

"लड़कियों के साथ मेरी छूट से आश्रमवासियों को आघात पहुँचता हो तो छूट लेना मुझे बन्द कर देना चाहिए, ऐसी मेरी मान्यता है। यह छूट लेने का कोई स्वतंत्र धर्म नहीं और लेने में नीति का भंग नहीं। पर ऐसी छूट न लेने से लड़कियों पर बुरा असर होता हो, तो मैं आश्रमवासियों को समझाऊँगा और छूट लूँगा। लड़कियाँ ही मुझ न छोड़ें तो फिर क्या करूँगा यह देखना मेरा काम रहा। मैं जो छूट जिस प्रकार से लेता हूँ उसकी नकल तो कोई भी न करे। 'आज से मुझ छूट लेनी है' इस प्रकार विचार कर कृत्रिम रूप से कोई छूट नहीं ली जा सकती और कोई इस तरह ले तो वह बरा ही कहा जायगा।

"मूल बात यह है कि जो कोई विकार के वश होकर निर्दोष से निर्दोष लगनेवाली छूट भी लेता है वह खुद खाई में गिरता है और दूसरों को भी गिराता है। आगे समाज में जब तक स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं होता तब तक अवश्य देखकर चलना भी *जरूरत है।* इस सम्बन्ध में सबको लागू पड़े—ऐसा कोई राजमार्ग नहीं। लौकिक मर्यादा मात्र खराब है, ऐसा कहकर समाज को आघात नहीं पहुँचाना चाहिए[2]।

१—नवजीवन १८-७-२६ : त्यागमूर्ति अने बीजा लेखो पृ २६ -२४

२—बापुना पत्रो—४ कु० प्रभावहेन कंटकने (गु०) पृ १११ से संक्षिप्त

साबरमती में एक आश्रमवासी ने महात्माजी से कहा कि आप जब बड़ी-बड़ी उम्र की लड़कियों और स्त्रियों के कन्धों पर हाथ रखकर चलते हैं, तब इससे लोक-स्वीकृत सभ्यता के विचार को चोट पहुँचती मालूम देती है। किन्तु आश्रमवासियों के साथ चर्चा होने के बाद यह चीज जारी ही रही। सन् १९३५ में महात्मा गांधी के दो साथी वर्धा आये तब उन्होंने महात्मा गांधी से कहा कि आपकी यह आदत संभव है कि दूसरों के लिए उदाहरण बन जाय।

महात्मा गांधी को यह दलील जँची नहीं। फिर भी वे इन चेतावनियों की अवहेलना करना नहीं चाहते थे और उन्होंने पाँच आश्रम वासियों से इसकी जाँच करके सलाह देने के लिए कहा।

इसी बीच एक निर्णयात्मक घटना घटी। यूनिवर्सिटी का एक तेज विद्यार्थी अकेले में एक लड़की के साथ, जो उसके प्रभाव में थी उसी तरह की मनमानी से काम लेता था और दलील यह दिया करता था कि वह उस लड़की को सगी बहन की तरह प्यार करता है। उसपर कोई अपवित्रता का जरा भी आरोप करता तो वह नाराज हो जाता। वह लड़की उस नौजवान को बिल्कुल पवित्र और भाई के समान मानती। वह उसकी इन चेष्टाओं को पसन्द नहीं करती आपत्ति भी करती। पर उस बेचारी में इतनी ताकत नहीं थी कि वह उन चेष्टाओं को रोक सकती।

इस घटना ने गांधीजी को विचार में डाल दिया। उन्हें साथियों की चेतावनी याद आई। उन्होंने अपने दिल से पूछा कि यदि उन्हें यह मालूम हो कि वह नवयुवक अपने बचाव में उनके व्यवहार की दलील दे रहा है तो वह कैसा लगे? इस विचार के बाद महात्मा गांधी ने उपर्युक्त प्रथा का परित्याग कर दिया। उन्होंने १२ सितम्बर १९३५ के दिन यह निर्णय वर्धा के आश्रमवासियों को सुनाया।

अपनी मानसिक स्थिति को उपस्थित करते हुए महात्मा गांधी ने लिखा था—"जहाँ तक मुझे याद है, मुझे कभी यह पता नहीं चला कि मैं इसमें कोई भूल कर रहा हूँ। यह बात नहीं कि यह निर्णय करते समय मुझे कष्ट न हुआ हो। इस व्यवहार के बीच या उसके कारण कभी कोई अपवित्र विचार मेरे मन में नहीं आया।" उन्होंने फिर लिखा "मेरा आचरण कभी छिपा हुआ नहीं रहा है। मैं मानता हूँ कि मेरा आचरण पिता के जैसा रहा है और जिन अनेक लड़कियों का मैं मार्ग-दर्शक और अभिभावक रहा हूँ उन्होंने अपने मन की बातें इतने विश्वास के साथ मेरे सामने रखीं कि जितने विश्वास के साथ शायद और किसी के सामने न रखती।"

प्रश्न उठ सकता है कि ऐसी शुद्ध मानसिक स्थिति के होने पर भी उन्होंने यह प्रयोग क्यों बन्द किया। इसका कारण महात्मा गांधी ने इस प्रकार बताया है "यद्यपि ऐसे ब्रह्मचर्य में मेरा विश्वास नहीं, जिसमें स्त्री पुरुष का परस्पर स्पर्श बचाने के लिए एक रक्षा की दीवार बनाने की जरूरत पड़े और जो जरा-सी प्रलोभन के आगे भंग हो जाय तो भी जो स्वतंत्रता मैंने ले रखी है, उसके खतरों से मैं अनजान नहीं हूँ। इसलिए मेरे अनुसंधान ने मुझे अपनी यह आदत छोड़ देने के लिए सचेत कर दिया फिर मेरा कन्धों पर हाथ रखकर चलने का व्यवहार चाहे जितना पवित्र रहा हो।"[1] इस परित्याग के समय महात्माजी ने यह भी सोचा "मेरे हरेक आचरण को हजारों स्त्री-पुरुष खूब सूक्ष्मता से देखते हैं। मैं जो प्रयोग कर रहा हूँ उसमें सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है। मुझे ऐसे काम नहीं करने चाहिए जिन का बचाव मुझे दलीलों के सहारे करना पड़े।"

साधारण लोगों को चेतावनी देते हुए महात्मा गांधी ने कहा— "मेरे उदाहरण का कभी यह अर्थ नहीं था कि उसका चाहे जो अनुकरण करने लग जाय। मैंने इस आशा से यह निश्चय किया है कि मेरा यह त्याग उन लोगों को सही रास्ता सुझा देगा जिन्होंने या तो मेरे उदाहरण से प्रभावित होकर गलती की है या यों ही।"

इस त्याग के पीछे दिनों के बाद (२८-९-३५ को) उन्होंने एक बहिन को लिखा—"मेरे त्याग के विषय में जब तू सब जानेगी तब तू भी मुझसे सहमत होगी ऐसा मुझे विश्वास है।" उसी बहिन को उन्होंने पुनः (९-१०-३५ को) लिखा "लड़कियों के कन्धे पर हाथ रखना बन्द किया उसके साथ मेरी विषय-वासना का कोई सम्बन्ध नहीं"[2]।

१—हरिजन सेवक, १० ९ '३५ : ब्रह्मचर्य (प भा) पृ ९०-९१

२—बापूना पत्रो—८ कु प्रेमाबहेन कंटकने पृ २५

३—वही पृ २११

त्याग के उपरान्त भी यह प्रयोग पुनः चालू कर दिया गया। इस सम्बन्ध में भी बलवन्तसिंहजी ने बापू से एक पत्र में प्रकाश चाहा। बापू ने उत्तर देते हुए लिखा है

'तुम्हारा पत्र बहुत ही अच्छा है, निर्मल है। और तुम्हारी सब शंका उचित है। सब भी स्थान पर है। और सावधानी स्वागत योग्य है।

"१९१२ की प्रतिज्ञा लिखी गई है अंग्रेजी में। गुजराती अथवा उसका हिन्दी अनुवाद मैंने पढ़ा नहीं था। मूल अंग्रेजी का अर्थ है—'लड़कों के कन्धे पर हाथ रखने का मुहावरा मैंने रखा है, उसका मैं त्याग करता हूँ'।

'लेकिन लोक-संग्रह की दृष्टि से उसका त्याग किया। दिल में कभी यह अर्थ नहीं था कि मैं कभी किसी लड़की के कन्धे पर हाथ नहीं रखूंगा। मुझे खयाल नहीं है कि सेवाग्राम में कन्धे पर हाथ रखने का मैंने किस लड़की से शुरू किया। लेकिन मुझे इतना खयाल है कि मुझ को १९१२ की प्रतिज्ञा का पूरा स्मरण था और यह स्मरण होते हुए मैंने उस लड़की के कन्धे पर हाथ रखा। हो सकता है उस लड़की के आग्रह को मैं रोक न सका अथवा मुझे उसके कन्धे के टेक की दरकार थी। ऐसा तो मैं कैसे कहूं सकता हूँ कि दुर्बलता के कारण ही मैंने सहारा लिया। और अगर ऐसा भी था तो मैं प्रतिज्ञा के कायम रखने के लिए किसी भाई का सहारा ले सकता था। लेकिन मेरी प्रतिज्ञा का ऐसा व्यापक अर्थ था नहीं मने कभी किया नहीं।

'अब रही अमल की बात। मैंने मेरे निर्णय का अमल शुरू किया उसके बाद ही भाष्य चला। प्रथम भाष्य में जो अमल तीन चार दिन के बाद करने की बात थी उसको मैंने दूसरे ही दिन शुरू कर दिया। जहाँ तक मेरी निर्विकारता अधूरी रहेगी वहाँ तक भाष्य होना ही है। शायद यह आवश्यक भी है। सम्पूर्ण ज्ञान मौन से ज्यादा प्रकट होता है क्योंकि भाषा कभी पूर्ण विचार को प्रकट नहीं कर सकती। अज्ञान विचार की निरंकुशता का सूचक है इसलिए भाषाकारी चाहना चाहिए। इस कारण ऐसा अवश्य समझो कि जहाँ तक मुझे कुछ भी समझाने की आवश्यकता रहती है वहाँ तक मेरे में अपूर्णता भरी है अथवा विकार भी है। मेरा दावा छोटा है और हमेशा छोटा ही रहा है। विकारों पर पूर्ण अंकुश पाने का अर्थात् हर स्थिति में निर्विकार होने का मैं सतत प्रयत्न करता हूं काफी जाग्रत रहता हूं। परिणाम ईश्वर के हाथ में है। मैं निश्चिन्त रहता हूं (११ ९ ३८)।[1]"

(२) स्त्रियों के साथ खुला जीवन :

महात्मा गांधी स्त्रियों के साथ आजादी से मिलते जुलते थे। उन्होंने लिखा है "दक्षिण अफ्रिका में भारतियों के बीच मुझ को काम करना पड़ा उसमें स्त्रियों के साथ आजादी के साथ हिलता-मिलता था। ट्रांसवाल और नेटाल में शायद ही कोई भारतीय स्त्री हो जिसे मैं न जानता होऊं।"

ऐसे घुले-मिले जीवन में भी उन्होंने ब्रह्मचर्य की जिस तरह रक्षा की उसकी कसौटी उन्होंने इस रूप में दी

" 'दुनिया में आजादी से सबके साथ हिलने मिलने पर ब्रह्मचर्य का पालन यद्यपि कठिन है, लेकिन अगर संसार से नाता तोड़ लेने पर ही यह प्राप्त हो सकता है तो इसका कोई विशेष मूल्य ही नहीं है। वैसे भी हो मैंने तो तीस वर्ष से भी अधिक समय से प्रवृत्तियों के बीच रहते हुए, ब्रह्मचर्य का काफी सफलता के साथ पालन किया है।" अपनी दृष्टि के विषय में उन्होंने लिखा है "मेरे लिए तो इतनी सारी स्त्रियां बहनें और बेटियां ही थी। "धार्मिक साहित्य में स्त्रियों को जो सारी बुराई और प्रलोभन का द्वार बताया गया है उसे मैं इतना भी नहीं मानता।" आगे जाकर उन्होंने लिखा है स्त्रियों को मैंने कभी इस तरह नहीं देखा कि कामवासना की तृप्ति के लिए ही वे बनाई गई हैं बल्कि हमेशा उसी श्रद्धा के साथ देखा है जो कि मैं अपनी माता के प्रति रखता हूं[2]।

'सत्याग्रह आश्रम के इतिहास' से पता चलता है कि आश्रम में ब्रह्मचर्य की व्याख्या पूर्ण रखी गयी थी। आश्रम में स्त्री-पुरुष दोनों रहते थे। और उन्हें एक दूसरे के साथ मिलने की काफी आजादी थी। आदर्श यह था कि जितनी स्वतंत्रता माँ-बेटे या बहिन भाई भोगते हैं, वही आश्रमवासियों को मिल सके[3]। इस प्रयोग में जो जोखिम थी उससे महात्मा गांधी परिचित थे और उन्होंने लिखा है

१—बापू की छाया में पृ २५१ ५
२—हरिजन सेवक, २३-७-३८ : ब्रह्मचर्य (प भा) पृ १ ३
३—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ ४२

"स्त्री-पुरुष एक ही आश्रम में रहें, साथ काम करें, एक दूसरे की सेवा करें और ब्रह्मचर्य रखने की कोशिश करें, तो इसमें डर बहुत है। इसमें एक हद तक परिश्रम भी जानबूझ कर बढ़ता है। इस तरह के प्रयोग करने की अपनी योग्यता में मुझे शक है। मगर यह तो मेरे सारे प्रयोगों के बारे में ही कहा जा सकता है। यह शंका बहुत जोरदार है, इसीलिए मैं किसी को अपना शिष्य नहीं मानता। समझबूझ कर जो आश्रम में आये हैं, वे सब जोखमों को जानते हुए भी साथी के रूप में आश्रम में आये हैं। लड़के और लड़कियों को मैं अपने बच्चे मानता हूँ। इसलिए वे सहज ही मेरे प्रयोगों में घसीटे जाते हैं। सब प्रयोग सत्यरूपी परमेश्वर के नाम पर हैं। वह कुम्हार है और हम उसके हाथ में मिट्टी हैं[1]।"

इस तरह जोखम उठाकर ब्रह्मचर्य-पालन करने की कोशिश के प्रयोग में निराशा भरा अनुभव महात्मा गांधी को नहीं हुआ। उनके अनुभव के अनुसार स्त्री-पुरुष दोनों को कुल मिलाकर लाभ ही हुआ। सबसे ज्यादा फायदा स्त्रियों को हुआ। प्रयोग करने में कुछ स्त्री-पुरुष नाकामयाब रहे कुछ गिर कर उठे। महात्मा गांधी ने लिखा है 'प्रयोग मात्र में ठोकर, ठेस तो खानी ही होती है। जिसमें सोलहों आने सफलता है, वह प्रयोग नहीं। वह तो सर्वज्ञ का स्वभाव कहा जायगा[2]।

आश्रमवासियों के बारे में महात्मा गांधी के पास शंकाएं आयीं तब एक बार महात्मा गांधी ने लिखा 'आश्रम में जो कुटुम्ब-भावना के नाम पर अन्दर में विषयों का सेवन करते होंगे वे तो तीसरे अध्यायवाले मिथ्याचारी हैं। हम यहाँ सत्याचारी की बात कर रहे हैं। और यह सोच रहे हैं कि सत्याचारी को क्या करना चाहिए। इसलिए आश्रम में अगर ९९ फीसदी लोग कुटुम्ब भावना का ढोंग करके विषयों का सेवन करते हों तो भी अगर १ फीसदी भी बाहर और भीतर से केवल कुटुम्ब भावना का ही सेवन करते हों तो उससे आश्रम कृतार्थ हो जायगा। इसलिए हमें यह नहीं सोचना है कि दूसरा क्या करता है। हमें तो यही विचार करना है कि अपने लिए क्या हो सकता है।' कुटुम्ब-भावना की पृष्ठ-भूमिका में सिद्धान्त क्या है इस की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा: "उसके साथ ही साथ इतना तो सही है कि किसी का बहम देख कर हम अपनी मोरछी न उतारें। कोई कुटुम्ब भावना से रह सकने का दावा करे, मगर हम अपने में वह शक्ति न पावें तो उसके दावे का स्वीकार करते हुए भी हम तो कुटुम्ब की एक से दूर ही रहें। आश्रम में हम एक नया और इसलिए भयंकर प्रयोग कर रहे हैं। इस कोशिश में सत्य की रक्षा करते हुए जो घुलमिल सकें, वे घुलमिल जायें। जो न घुलमिल सकें वे दूर रहें। हमने ऐसे कम की कल्पना नहीं की है कि आश्रम में सभी सब तरह से स्त्री मात्र के साथ घुलें मिलें। इस तरह घुलने-मिलने की हमने सिर्फ छूट रखी है। धर्म का सेवन करते हुए जो इस छूट को ले सकता है वह ले ले। मगर इस छूट को लेने में जिसे धर्म खो बैठने का डर है वह आश्रम में रहते हुए भी उससे सौ कोस दूर भाग सकता है[3]।" इस प्रयोग में महात्मा गांधी एक वैज्ञानिक की सी दृढ़ता से लगे थे "हाइड्रोजन और आक्सीजन को मिलाने पर धड़ाका होना सम्भव है यह जानते हुए भी रसायनशास्त्री इस प्रयोग को छोड़ थोड़े ही देंगे। हमारे यहाँ ऐसे धड़ाके होते रहेंगे किन्तु इससे क्या हुआ[4]।" ...सौ में पाँच प्रयोग गलत साबित हुए हों तो उससे क्या हुआ? हमें भूल करने का अधिकार है। जहाँ से भूल होगी, वहाँ से फिर गिरेंगे और आगे बढ़ेंगे[5]।

(३) बहिनों से पत्र-व्यवहार

महात्मा गांधी का पत्र व्यवहार विवाहित अविवाहित अनेक बहिनों के साथ चलता रहा। पत्रों द्वारा वे बहिनों को अनेक प्रकार की शिक्षाएं देते उनकी समस्याओं का हल करते और धार्मिक उन्नति की बातें बतलाते। जब कभी बहन ब्रह्मचर्य अथवा ऋतु सम्बन्धी विषयों पर प्रश्न पूछती तब वे उन्हें पूरा उत्तर देते। बहिनों के पत्रों में ऐसे प्रश्नों को पूछना नाजुक था और भारत भूमि में यह एक नया प्रयोग ही कहा

१—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४३
२—वही पृ० ४३
३—वही पृ० ४४
४—महादेव भाई की डायरी (पहला भाग) पृ० १८
५—वही (तीसरा भाग) पृ० ११
६—वही (पहला भाग) पृ० १९

जायेगा। महात्मा गांधी के साथ बहिनों के पत्र-व्यवहार के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और वे बड़े प्रभावक हैं। बहिनों के साथ ब्रह्मचर्य सम्बन्धी प्रश्नों पर भी कैसे खुलकर बात चीत होती थी उसका नमूना कुछ पत्रों के निम्न उद्धरणों से पाठकों के सामने आ सकेगा।

" 'रक्तपित आदि रोग जिसके हुए हैं, उसे जबरदस्ती से नपुंसक करने की प्रथा को पसन्द करने में अनेक रुकावट आती हैं। इससे अनेक प्रकार के अनर्थ होने की संभावना है। पुनः किसी भी रोग को असाध्य मान लेना भी उचित नहीं। संयम का प्रचार कर जितना फल प्राप्त किया जा सके उतने से संतुष्ट रहना, इसीमें मुझे सही-सलामत लगती है। पद-पद पर मुझ कायरता की गंध आती है। कायर कांटने वाला सूवे में पड़ी हुई मुर्गी को चाकू से निकालेगा। कुशल काटनेवाला धीरज से और कला से उसे सुलझायेगा और सूवे को अविच्छिन्न रखेगा। ऐसा ही कुछ अहिंसक मनुष्य असाध्य मानी जानेवाली व्याधि से पीड़ित लोगों के लिए ढूंढेगा (२-१ ३२)[1]।"

"महाराष्ट्र के पत्र की बात बिल्कुल सत्य है। पर उसकी कल्पना बिल्कुल असत्य है। लड़कियों के कंधों पर हाथ रखकर मैं अपनी विषय-वृत्ति का पोषण करता था ऐसा इस लिखनेवाले के पत्र का अर्थ किया जा सकता है। इसका कथन तो बुरा ही था। पर बात यह है कि लड़कियों के कंधों पर हाथ रखना बन्द किया उसके साथ मेरी विषय-वासना का कोई सम्बन्ध नहीं।

'इसकी उत्पत्ति[2] केवल निकम्मे पड़े रहकर खाते रहने में थी। मुझे स्राव हुआ पर मैं जाग्रत था और मन अंकुश में था। कारण समझ गया और तब से डाक्टरी आराम लेना बन्द कर दिया। और अब तो मेरी जो स्थिति थी उससे अधिक सरल की कल्पना की जा सके तो सरल है। इस विषय में तुझे विशेष पूछना हो तो पूछ सकती हो क्योंकि तुम से मैंने बड़ी आशाएं रखी हैं। अतः तू मुझसे मेरे विषय में जो जानना हो वह जान ले।

'जननेन्द्रिय विषय के लिए है ही नहीं यदि यह स्पष्ट हो जाय तो समूची दृष्टि ही न पलट जाय ? जैसे कोई रास्ते में सब रोगी के अंगार को मणि समझकर उसे हाथ में लेने के लिए उत्सुक होता है, पर अंगार है, ऐसा समझते ही वह शान्त हो जाता है। उसी प्रकार जननेन्द्रिय के उपयोग के विषय में है। बात यह है कि यह मान्यता ऐसी दृढ़ और स्पष्ट कभी भी नहीं। और अब तो नया शिक्षण इस मत की निंदा करता है, मर्यादित विषय-सेवन को सद्‌गुण मानने को कहता है, और उसकी आवश्यकता है ऐसा सुझाता है। इन सब पर विचार कर देखना (१-२ ३९)[3]।"

जब इस बहिन ने महात्मा गांधी से उन्हें स्वप्न होते हैं या नहीं यह जानने की इच्छा की तो उन्होंने लिखा

"तूने प्रश्न उचित पूछा है। अब भी और अधिक स्पष्टता से पूछ सकती है। मुझे (स्वप्न में) स्खलन तो हमेशा हुए हैं। दक्षिण अफ्रिका में वर्षों का अन्तर पड़ा होगा मुझे पूरा याद नहीं। यहाँ महीने के अन्तर होता है। स्खलन होने का उल्लेख मैंने अपने दो चार लेखों में किया है। यदि मेरा ब्रह्मचर्य स्खलन रहित होता तो आज मैं जगत के सम्मुख बहुत अधिक वस्तु रख सकता। पर जिसे १५ वर्ष की उम्र से लेकर ३ वर्ष की उम्र तक फिर चाहे अपनी स्त्री के विषय में ही रहा हो विषयभोग किया है वह ब्रह्मचारी होकर वीर्य को सर्वथा रोक सके यह लगभग असंभव जैसा मालूम होता है। जिसकी संग्राहक शक्ति १२ वर्ष तक दिन प्रतिदिन क्षीण होती रही है वह एकाएक इस शक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। उसका मन और शरीर दोनों शिथिल हो चुके होते हैं। अतः अपने स्वयं को मैं बहुत अपूर्ण ब्रह्मचारी मानता हूं। पर जिस तरह जहाँ वृक्ष नहीं होता वहाँ एरंड ही प्रधान होता है वही मेरी स्थिति है। यह मेरी अपूर्णता संसार को मालूम है।"

बम्बई में जो अनुभव हुआ उसको विशेष रूप से जानने की जिज्ञासा का उत्तर उन्होंने उपरोक्त पत्र में ही इस प्रकार दिया

'जिस अनुभव ने मुझे बम्बई में तंग किया वह तो विचित्र और दुःखदायी था। मेरे सारे स्खलन स्वप्नों में रहे उन्होंने मुझे सताया नहीं। उन्हें मैं भूल सका हूं। पर बम्बई का अनुभव तो जाग्रत स्थिति में था। इस इच्छा को पूरी करने की तो मुझ में ही वृत्ति न थी मूर्च्छा जरा भी न थी। शरीर पर काबू पूरा था। पर प्रयत्न होने पर भी इन्द्रिय जाग्रत रही यह अनुभव नया था और शोभा न दे ऐसा था। उसका कारण तो मैंने बताया ही है। वह कारण दूर होने पर जागृति बंद हुई। अर्थात् जाग्रत अवस्था में बन्द।

इसके बाद पत्र में आत्मशुद्धि और ब्रह्मचर्य की साध्यता के विषय पर एक सुन्दर प्रवचन-सा ही है।

१—बापुना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने पृ० ३५

२—इसका सम्बन्ध बीमारी के समय की उस सेक्सीएल घटना से है जिसका उल्लेख पीछे पृ० ६८ पर आया है।

३—बापुना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने पृ० २३१ ७

में इतना साहस है कि मैं उसको कबूल कर लेता।

उन्होंने अपने खुले जीवन के बारे में लिखा है

"जब मेरे अन्दर अपनी पत्नी के साथ विषय-संबन्ध रखने की अरुचि काफी बढ़ गई, और इस सम्बन्ध में मैंने काफी परीक्षा कर ली तभी मैंने १९०६ में ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था। उसी दिन से मेरा खुला जीवन शुरू हो गया। सिर्फ उस अवसर को छोड़ कर, जिसका कि मैंने 'यंगइण्डिया' और 'नवजीवन' के अपने लेखों में उल्लेख किया है, और कभी मैं अपनी पत्नी या अन्य स्त्रियों के साथ दरवाजा बंद करके सोया या रहा होऊं, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता। और वे रातें मेरे लिए सचमुच काली रातें थीं। लेकिन जैसा कि मैंने बार-बार कहा है अपने बावजूद ईश्वर ने मुझे बचाया है।

"जिस दिन से मैंने ब्रह्मचर्य शुरू किया उसी दिन से हमारी स्वतंत्रता का प्रारंभ हुआ है। मेरी पत्नी मेरे स्वामित्व के अधिकार से मुक्त हो गई, और मैं अपनी उस वासना की दासता से मुक्त हो गया जिसकी पूर्ति उसे करनी पड़ती थी।

"जिस भावना से मैं अपनी पत्नी के प्रति अनुरक्त था उस भावना से और किसी स्त्री के प्रति मेरा आकर्षण नहीं रहा है। पति के रूप में उसके प्रति मैं बहुत वफादार था और अपनी माता के सामने किसी अन्य स्त्री का दास न बनने की मैंने जो प्रतिज्ञा की थी उसके प्रति भी मैं वैसा ही वफादार था।

"जिस तरह मेरे अन्दर ब्रह्मचर्य का उदय हुआ उसके कारण अदम्य रूप से स्त्रियों को मैं मातृभाव से देखने लगा। स्त्रियां मेरे लिए इतनी पवित्र हो गईं कि मैं उनके प्रति कामुकतापूर्ण प्रेम का ख्याल ही नहीं कर सकता। इसलिए तत्काल हरेक स्त्री मेरे लिए बहन या बहन की तरह हो गयी।

"फिनिक्स में मेरे आसपास काफी स्त्रियां रहती थीं। दक्षिण अफ्रिका में अंग्रेज व हिंदुस्तानी अनेक बहनों का विश्वास प्राप्त था। भारत लौटने पर यहां भी जल्दी ही मैं भारतीय स्त्रियों में हिलमिल गया। दक्षिण अफ्रिका की तरह यहां भी मुसलमान स्त्रियों ने मुझसे कभी पर्दा नहीं किया। आश्रम में मैं स्त्रियों से घिरा हुआ सोता हूं क्योंकि मेरे साथ वे अपने को हर तरह सुरक्षित महसूस करती हैं। मुझे यह भी याद दिला देनी चाहिए कि सेगांव-आश्रम में कोई पेचाकशी नहीं है।

"अगर स्त्रियों के प्रति मेरा कामुकतापूर्ण झुकाव होता तो अपने जीवन के इस काल में भी मुझमें इतना साहस है कि मैंने कई पत्नियां रख ली होतीं।

"गुप्त या खुले स्वतंत्र प्रेम में मेरा विश्वास नहीं है। उन्मुक्त प्रेम को मैं तो कुत्तों का प्रेम समझता हूं। और गुप्त प्रेम में तो इसके अलावा कायरता भी है'।[1]

(५) अन्तिम और सब से बड़ा प्रयोग

सन् १९४७ के साम्प्रदायिक दंगे के समय महात्मा गान्धी नोआखाली गये। मनु बहन गान्धी श्रीरामपुर में उनके साथ हुई। उस समय बहिन की उम्र १८-१९ वर्ष की रही।

मनु बहिन रिश्ते में महात्मा गांधी की पोती होती थी। उनकी माता का देहान्त उस समय हो गया जब वह केवल बारह साल की थी। बा ने कभी इन्हें माँ की कमी महसूस न होने दी। आगाखान महल में बा की अस्वस्थता के समय मनु बहन सरकार द्वारा उनकी परि चर्या के लिए नागपुर जेल से वहां भेजी गई। तेरह महीने तक मनु बहन बा की अनन्य सेवा करती रहीं। बा का मनु बहन पर असीम स्नेह था। सन् ४४ की २२ फरवरी को बा का देहावसान हुआ। उसी रात को बा के अग्निदाह के बाद बापू ने मनु बहन को अपने पास बुलाया और बा की कई चीजें उसके हाथ में दीं। उनमें बा की हाथी दांत की दो पुरानी चूड़ियाँ भी थीं। उस समय बापू ने कहा "अब तुम्हारा काम यह है कि जैसे भरत ने राम के बदले राम की पादुका को गादी पर पधराकर उनसे प्रेरणा ली थी वैसे ही तुम भी इन चीजों से प्रेरणा लो। और बा सती रानी थी। उसका सबूत यह है कि उसकी ये चूड़ियाँ मर्दों लकड़ियों की राख में से भी सही सलामत निकली हैं।" बापू मनु बहन को प्यार में 'मनुड़ी' कहते। और इस १४-१५ साल की बच्ची की देख-भाल करते। वे बार-बार कहा करते— मैं तो तुम्हारी माँ बन चुका

1—हरिजन-सेवक ४-११-'३९ महादेव (दू० भा०) पृ० ११-११ का सारांश

गांधीजी इस राय के थे कि लड़कियाँ भी मन हो तो ब्रह्मचारिणी रह सकती हैं, पर मन में विकार का पोषण करते हुए विवाह न करने के हिमायती नहीं थे। यदि इस बात की सच्ची जाँच हो सके कि मनु की क्या स्थिति है, तो एक समस्या का हल हो सकता था[1]। महात्मा गांधी ने एक बार कहा "मैं इस समय तुम्हारी माँ के रूप में हूँ मैं तुम्हारे जरिये इस बात का साक्षी बनना चाहता हूँ कि एक पुरुष भी माँ बन कर बेटी की हर तरह की गुत्थी को सुलझा सकता है[2]।"

२—उनकी यह धारणा थी कि यदि मनु बहन का दावा सत्य नहीं है, तो वह माँ से छिपा नहीं रह सकता। यदि कोई कमी होगी तो वह प्रकट होकर ही रहेगी। यदि उसमें कोई कमी नहीं होगी तो सत्य साहस और बुद्धि में उसका क्रमशः विकास होता चला जायगा[3]।

३—साथ ही प्रासंगिक रूप से महात्मा गांधी यह भी जानना चाहते थे कि वे पूर्ण ब्रह्मचर्य की दिशा में कहाँ तक बढ़े हुए हैं[4]। इस प्रयोग के पीछे केवल निदान की दृष्टि ही नहीं थी पर एक दृष्टि और भी थी। योगशास्त्र में कहा है 'पूर्ण अहिंसक के सम्मुख वैर नहीं टिक सकता'। इसी तरह महात्मा गांधी की धारणा थी कि पूर्ण ब्रह्मचारी के सम्मुख विषय-विकार दूर हो जाना चाहिए[5]।

होरेस एलेक्जेण्डर के साथ हुआ निम्न वार्तालाप उपर्युक्त बातों को स्पष्ट करता है।

महात्माजी से उन्होंने कहा : "ब्रह्मचर्य की जाँच के लिए ऐसे अन्तिम छोर के कदम की आवश्यकता नहीं थी। यह जाँच तो अन्य तरीके से भी की जा सकती थी। *सीम्योन स्टाइलिट स्तंभ पर चढ़कर अपनी आत्म-संयम की शक्ति का प्रदर्शन किया करता था।* मैंने कभी इसकी प्रशंसा नहीं की। 'सब बातों में नम्रता'—यह एक अच्छा गुण है।"

गांधीजी ने उत्तर में कहा—"यह ठीक है। सीम्योन स्टाइलिट वास्तव में कोई अनुकरणीय आदर्श नहीं क्योंकि वह अहंभावी और क्रोधी था। मैंने जो यह कदम उठाया है वह यह दिखाने के लिए नहीं कि मैं क्या कर सकता हूँ वरन् यह तो पोथी की शिक्षा की दिशा में जरूरी कदम है। यह तो मनु ने जो मुझ विश्वास किया है, उसकी परीक्षा है और आनुषंगिक रूप में यह मेरी भी एक जाँच है। यदि मेरी सच्चाई उस पर असर डाल सकी और उसमें उन खूबियों का विकास कर सकी जिसको मैं चाहता हूँ तो इससे यह प्रमाणित होगा कि मेरी सत्य की खोज सफल हुई है। तब मेरी सच्चाई मुसलमान मुस्लिम लीग के मेरे विरोधी और जिन्ना पर भी असर डाल सकेगी जो कि मेरी *सत्यता पर सन्देह करते रहे, तथा उसके द्वारा अपना तथा भारतवर्ष का नुकसान करते रहे[6]।*"

४—वे मनु बहन का एक आदर्श नारी के रूप में निर्माण करना चाहते थे। जब महात्मा गांधी के सामने प्रश्न आया कि ऐसे समय में जब कि आप ऐसे महत्त्व के काम में लगे हुए हैं ऐसे कार्य में ध्यान कैसे दे सकते हैं? तब उन्होंने मनु बहन से कहा था "लोग इसे मोह समझते हैं। उनके अज्ञान पर मुझे हँसी आती है। उनमें समझ का अभाव है। मैं तुम पर समय और शक्ति लगा रहा हूँ वह सार्थक है। यदि भारत की करोड़ों लड़कियों में से मैं एक को भी आदर्श माँ बनकर, आदर्श स्त्री बना सकूँ तो मैं स्त्री-जाति की अपूर्व सेवा कर सकूँगा। पूर्ण ब्रह्मचारी होकर ही कोई स्त्रियों की सेवा कर सकता है[7]।

५—मनु बहन को एक बार उन्होंने कहा था "यह न समझना कि मैंने तुम्हें यहाँ केवल अपनी सेवा के लिए ही बुलाया है। मेरी सेवा तो तुम करोगी ही। परन्तु जहाँ छोटी-सी लड़की या वृद्ध स्त्री भी सुरक्षित नहीं वहाँ तुम्हें १६ १७ वर्ष की जवान लड़की को मैंने अपने पास रखा है। यदि कोई भी गुण्डा तुम्हें तंग करे और तुम उसका सामना बहादुरी के साथ कर सको अथवा सामना करते-करते मर जाओ तो मैं खुशी से नाचूँगा। तुम्हें बुलाने में यह भी एक प्रयोग है।"

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol I pp 575-76

२—अकेला चलो रे पृ १

३—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol. I, P 576

४—वही पृ ५७६

५—वही पृ ५७७

६—वही पृ० ५८

७—वही पृ ५७८

८—अकेला चलो रे पृ ११

६—महात्मा गांधी यह भी देखना चाहते थे कि उनमें नपुंसकत्व की सिद्धि कहाँ तक है। उन्होंने एक बार लिखा था—"जिसकी विषयासक्ति जलकर खाक हो गई है उसके मन में स्त्री-पुरुष का भेद मिट जाता है और मिट जाना चाहिए। उसकी सौंदर्य की कल्पना भी दूसरा रूप ले लेगी है। वह बाहर के आकार को देखता ही नहीं। इसलिए सुन्दर स्त्री को देखकर वह विह्वल नहीं बन जायेगा। उसकी जननेन्द्रिय भी दूसरा रूप ले लेगी अर्थात् वह सदा के लिए विकार रहित बन जायगी। ऐसा पुरुष वीर्यहीन होकर नपुंसक नहीं बनेगा मगर उसके वीर्य का परिवर्तन होने के कारण वह नपुंसक-सा लगेगा। सुना है कि नपुंसक का रस नहीं जलता। जो रस मात्र के भस्म हो जाने से ऊर्ध्वरेता हो गया है, उस का नपुंसकपना बिलकुल अलग ही किस्म का होता है। वह सबके लिए इष्ट है। ऐसा ब्रह्मचारी विरला ही देखने में आता है'[1]।"
महात्मा गांधी ऐसे नपुंसकत्व के कामी थे और उनमें ऐसा नपुंसकत्व है या नहीं इसकी जाँच वे इस कठोर आँच में करना चाहते थे।

७—महात्मा गांधी जानना चाहते थे कि उनकी अहिंसा कहीं ब्रह्मचर्य की कमी के कारण तो निस्तेज नहीं है।

एक कांग्रेस-नेता ने बातचीत के सिलसिले में १६३८ में गांधीजी से कहा— 'यह क्या बात है कि कांग्रेस अब नैतिकता की दृष्टि से वसी नहीं रही जसी कि वह १६२० से १६२५ तक थी? उससे तो इसकी बहुत नैतिक अवनति हो गई है। क्या आप इस हालत को सुधारने के लिये कुछ नहीं कर सकते?" इसका उत्तर गांधीजी ने इस प्रकार दिया

'अहिंसा की योजना में जबर्दस्ती का कोई काम नहीं है। उसमें तो इसी बात पर निर्भर रहना पड़ता है कि लोगों की बुद्धि और हृदय तक—उसमें भी बुद्धि की अपेक्षा हृदय पर ही ज्यादा—पहुँचने की क्षमता प्राप्त की जाय।

"इसका अभिप्राय हुआ कि सत्याग्रह के सेनापति के शब्द में ताकत होनी चाहिये—वह ताकत नहीं जो कि असीमित अस्त्र-शस्त्रों से प्राप्त होती है बल्कि वह जो जीवन की शुद्धता दृढ़ जागरूकता और सतत आचरण से प्राप्त होती है। यह ब्रह्मचर्य का पालन किये बगैर असम्भव है। इसका इतना सम्पूर्ण होना आवश्यक है, जितना कि मनुष्य के लिए संभव है।

'जिसे अहिंसात्मक कार्य के लिए मनुष्य-जाति के विशाल समूहों को संगठित करना है उसे तो इन्द्रियों के पूर्ण निग्रह को प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना ही चाहिए।

"इस बात का मैंने कभी दावा नहीं किया कि मैं अपनी परिभाषा के अनुसार पूरा ब्रह्मचारी बन गया हूँ। अब भी मैं अपने विचारों पर उतना नियंत्रण नहीं रख सकता हूँ जितने नियंत्रण की अपनी अहिंसा की खोजों के लिये मुझे आवश्यकता है, लेकिन अगर मेरी अहिंसा ऐसी हो जिसका दूसरों पर असर पड़े और वह उनमें फैले तो मुझे अपने विचारों पर और अधिक नियमन करना ही चाहिए। इस लेख के प्रारंभिक वाक्यों में नेतृत्व की जिस प्रत्यक्ष असफलता का उल्लेख किया गया है उसका कारण शायद कहीं-न-कहीं किसी कमी का रह जाना ही है" (हरिजन सेवक २३-७-३८)।

इसी तरह उन्होंने फिर कहा था—"जब तक यह ब्रह्मचर्य प्राप्त नहीं हो जाता मनुष्य उतनी अहिंसा तक जितनी कि उसके लिए संभव है, पहुँच नहीं सकता" (हरिजन सेवक २८ १ ३६)[2]।

गांधीजी की यह धारणा नोआखाली में रहने के समय भी रही। उनकी ब्रह्मचर्य की साधना में कोई कमी तो नहीं—यह वे जानना चाहते थे। यदि वे उच्च ब्रह्मचारी हैं तो उनका असर वातावरण पर पड़े बिना नहीं रह सकता—यह उनका विश्वास था।

ठक्कर बापा से उनकी जो बातचीत हुई वह इस सम्बन्ध में यथेष्ट प्रकाश डालती है :

ठक्कर बापा ने पूछा— यह प्रयोग यहाँ क्यों?

गान्धीजी ने उत्तर दिया—"बापा! भूल कर रहे हो। यह प्रयोग नहीं है पर मेरे यज्ञ का आवश्यक अंग है। प्रयोग बाद दिया जा सकता है पर कोई अपना कर्तव्य को नहीं छोड़ सकता। अब यदि मैं किसी बात को अपने यज्ञ—पवित्र कर्तव्य का अंग मानता हूँ तो सार्वजनिक मत मेरे विपरीत होने पर भी मैं उसका त्याग नहीं कर सकता। मैं तो आत्मशुद्धि प्राप्त करने में लगा हुआ हूँ। पांच महाव्रत मेरे आध्यात्मिक प्रयत्नों

१—आरोग्य की कुंजी पृ० ३१-२
२—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० १ १ १ २ १ ४५
३—ब्रह्मचर्य (दूसरा भाग) पृ० ७

के पांच आधार हैं। ब्रह्मचर्य इन्हीं में से एक है। ये पांचों अविभाज्य हैं तथा परस्पर सम्बन्धित और अन्योन्याश्रित हैं। यदि उनमें से एक का भङ्ग किया जाता है तो पांचों का भङ्ग हो जाता है। ऐसा होने से यदि मैं किसी को प्रसन्न करने के लिए ब्रह्मचर्य की साधना में फिसलूं तो मैं ब्रह्मचर्य को ही जोखिम में नहीं डालता पर सत्य अहिंसा और सब महाव्रतों को भी जोखिम में डालता हूं। मैं दूसरे व्रतों के सम्बन्ध में व्यवहार और सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं आने देता। यदि मैं केवल ब्रह्मचर्य के विषय में ही ऐसा करूं तो क्या इससे मैं ब्रह्मचर्य की धार को मन्द नहीं करूंगा? सत्य की मेरी साधना को दूषित नहीं करूंगा? जब से मैं नोआखाली में आया हूं मैं अपने से यह प्रश्न पूछता रहा हूं कि वह कौन-सी बात है जो मेरी अहिंसा को कार्यकारी होने से रोक रही है। यह मंत्र काम क्यों नहीं कर रहा है? कहीं मैंने ब्रह्मचर्य के बारे में तो गलती नहीं की कि जिसका यह परिणाम हो।"

बापा बोले— *'आपकी अहिंसा असफल नहीं है। विचार करें—यदि आप यहां नहीं आते तो नोआखाली के भाग्य में क्या बदा होता?* दुनिया ब्रह्मचर्य के बारे में उस रूप में नहीं सोचती जिस रूप में आप सोच रहे हैं।"

गान्धीजी बोले— 'यदि मैं आपकी बात को मान लूं तो उसका अर्थ यह हुआ कि दुनिया को नाराज करने के भय से मैं उस बात को छोड़ दूं, जिसे मैं ठीक समझता हूं। अगर मैं अपने जीवन में इस तरह से आगे बढ़ता तो न मालूम मैं कहां होता? मैं अपने को किसी गड्ढे के तले में पाता। बापा! आप इसका कोई अनुमान नहीं लगा सकते पर मैं इसका दृश्य अपने लिए आंक सकता हूं। मैंने अपने वर्तमान साहस पूर्ण कार्य को यज्ञ—रूप कहा है। इसका अर्थ है—परम आत्म-शुद्धि। ऐसी आत्म-शुद्धि कैसे हो सकती है, यदि मैं अपने मन में एक बात रखूं और उसे खुल्लम-खुल्ला व्यवहार में लाने की हिम्मत नहीं कर सकूं? क्या उस बात के करने के लिए भी जिसे व्यक्ति अपने हृदय से कर्तव्य समझता है, किसी की सलाह या स्वीकृति की आवश्यकता रहती है? ऐसी परिस्थिति में मित्रों के लिए दो ही मार्ग खुले हैं या तो वे मेरे शुद्ध रूप की पवित्रता में विश्वास रखें फिर भले ही वे मेरे विचारों को समझने में असमर्थ हों या उनसे असहमत हों अथवा वे मुझसे ही हट जायें। बीच का कोई रास्ता नहीं। उस हालत में जब कि मैं एक यज्ञ में उतरा हूं जिसका अर्थ है सत्य का पूर्ण प्रयोग मैं उस बात का साहस नहीं कर सकता कि मेरे तर्क-सिद्ध विश्वासों को काम में परिणत न करूं। न यही उचित है कि मैं आन्तरिक विश्वासों को छिपाऊं या अपने तक ही रखूं। यह तो मेरी मित्रों के प्रति अवफादारी होगी। मैं इस जोखिम से कैसे दूर भाग सकता हूं? मैंने अपने मन को स्थिर कर लिया है। ईश्वर के एकाकी मार्ग पर जिस पर कि मैं चल रहा हूं, मुझे किसी पार्थिव साथी की आवश्यकता नहीं। 'हजारों हिन्दू-मुसलिम स्त्रियां मेरे पास आती हैं। वे मेरे लिए अपनी मां बहन और पुत्रियों की तरह हैं। यदि ऐसा अवसर आ जाय जिससे आवश्यक हो जाय कि मैं उनके साथ अपनी शय्या का उपयोग करूं तो मुझे जरा भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। यदि मैं वैसा ब्रह्मचारी हूं जैसा कि मेरा दावा है। यदि मैं इस परीक्षा से अलग होऊं तो मैं अपने को डरपोक और धोखेबाज साबित करूंगा।"

बापा— 'और यदि आपका कोई अनुकरण करने लगे तो?'

गांधीजी 'यदि मेरे उदाहरण का कोई अन्धानुकरण करे अथवा उसका अनुचित लाभ उठावे तो समाज उसे सहन नहीं करता और न उसे सहन करना ही चाहिए। पर यदि कोई सच्चा और ईमानदारीपूर्ण प्रयत्न करता हो तो समाज को उसका स्वागत करना चाहिए और यह उसकी भलाई के लिए ही होगा। जैसे ही मेरी यह खोज पूर्ण होगी मैं खुद ही उसका परिणाम सारी दुनिया के सामने रखूंगा।"

बापा—"कम-से-कम मैं तो आपमें कोई बुरी बात होने की कल्पना नहीं करता। आखिर मनु तो आपकी पोती ही है। मैं यह स्वीकार करता हूं कि प्रारंभ में मेरे मन में कुछ विचार थे। मैं नम्रता के साथ अपनी शंका को आपके सामने जोर से रखने के लिए आया था। मैं समझ नहीं पाया था। आपके साथ आज जो बातचीत हुई उसके बाद ही मैं गहराई से समझ सका हूं कि आप जिस बात के करने के प्रयत्न में हैं उसका अर्थ क्या है।"

गांधीजी बोले "क्या इससे कोई वास्तविक अन्तर पड़ता है? कोई अन्तर नहीं पड़ता और न पड़ना चाहिए। आप मनु और अन्य बालाओं में भेद करना चाहते हैं। मेरे मन में ऐसा भेद नहीं है। मेरे लिए तो सब पुत्रियां हैं।"

ठक्कर बापा के साथ महात्मा गांधी की जो बातचीत हुई, उसके बाद मनु बहन गांधीजी के पास आकर बोली "यद्यपि प्रारम्भ में ठक्कर बापा को कार्य के औचित्य के बारे में शंका थी। परन्तु अपने इन दिनों के निकट सम्पर्क और निरीक्षण से उनकी शंकाएं पूर्णरूप से दूर हो गई

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase pp 585-87

६—महात्मा गांधी यह भी देखना चाहते थे कि उनमें नपुंसकत्व की सिद्धि कहाँ तक है। उन्होंने एक बार लिखा था— 'जिसकी विषयासक्ति जलकर खाक हो गई है उसके मन में स्त्री-पुरुष का भेद मिट जाता है और मिट जाना चाहिए। उसकी सौंदर्य की कल्पना भी दूसरा रूप ले लेती है। वह बाहर के आकार को देखता ही नहीं। इसलिए सुन्दर स्त्री को देखकर वह विह्वल नहीं बन जायेगा। उसकी जननेन्द्रिय भी दूसरा रूप ले लेगी अर्थात् वह सदा के लिए विकार रहित बन जायगी। ऐसा पुरुष वीर्यहीन होकर नपुंसक नहीं बनेगा मगर उसके वीर्य का परिवर्तन होने के कारण वह नपुंसक-सा बनेगा। सुना है कि नपुंसक का रस नहीं जलता। जो रस मात्र के भस्म हो जाने से ऊर्ध्वरेता हो गया है, उस का नपुंसकपना बिलकुल अलग ही किस्म का होता है। वह सबके लिए इष्ट है। ऐसा ब्रह्मचारी विरला ही देखने में आता है'[1]। महात्मा गांधी ऐसे नपुंसकत्व के कामी थे और उनमें ऐसा नपुंसकत्व है या नहीं इसकी जाँच वे इस कठोर जाँच में करना चाहते थे।

७—महात्मा गांधी जानना चाहते थे कि उनकी अहिंसा कहीं ब्रह्मचर्य की कमी के कारण तो निस्तेज नहीं है।

एक कांग्रेस-नेता ने बातचीत के सिलसिले में १९३८ में गांधीजी से कहा— 'यह क्या बात है कि कांग्रेस अब नैतिकता की दृष्टि से वैसी नहीं रही जैसी कि वह १९२० से १९२५ तक थी? उससे तो इसकी बहुत नैतिक अवनति हो गई है। क्या आप इस हालत को सुधारने के लिये कुछ नहीं कर सकते?' इसका उत्तर गांधीजी ने इस प्रकार दिया

'अहिंसा की योजना में जबर्दस्ती का कोई काम नहीं है। उसमें तो इसी बात पर निर्भर रहना पड़ता है कि लोगों की बुद्धि और हृदय तक—उसमें भी बुद्धि की अपेक्षा हृदय पर ही ज्यादा—पहुँचने की क्षमता प्राप्त की जाय।

'इसका अभिप्राय हुआ कि सत्याग्रह के सेनापति के शब्द में ताकत होनी चाहिये—वह ताकत नहीं जो कि असीमित अस्त्र-शस्त्रों से प्राप्त होती है बल्कि वह जो जीवन की शुद्धता दृढ़ जागरूकता और सतत आचरण से प्राप्त होती है। यह ब्रह्मचर्य का पालन किये बगैर असम्भव है। इसका इतना सम्पूर्ण होना आवश्यक है, जितना कि मनुष्य के लिए संभव है।

जिसे अहिंसात्मक कार्य के लिए मनुष्य-जाति के विशाल समूहों को संगठित करना है उसे तो इन्द्रियों के पूर्ण निग्रह को प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना ही चाहिए।

'इस बात का मैंने कभी दावा नहीं किया कि मैं अपनी परिभाषा के अनुसार पूरा ब्रह्मचारी बन गया हूँ। अब भी मैं अपने विचारों पर उतना नियन्त्रण नहीं रख सकता हूँ जितने नियंत्रण की अपनी अहिंसा की खोजों के लिये मुझे आवश्यकता है लेकिन अगर मेरी अहिंसा ऐसी हो जिसका दूसरों पर असर पड़े और वह उनमें फैले तो मुझे अपने विचारों पर और अधिक नियन्त्रण करना ही चाहिए। इस लेख के प्रारंभिक वाक्यों में नेतृत्व की जिस प्रत्यक्ष असफलता का उल्लेख किया गया है उसका कारण शायद कहीं-न-कहीं किसी कमी का रह जाना ही है" (हरिजन सेवक २३-७-३८)[2]।

इसी तरह उन्होंने फिर कहा था—"जब तक यह संयम प्राप्त नहीं हो जाता मनुष्य उतनी अहिंसा तक जितनी कि उसके लिए संभव है पहुँच नहीं सकता" (हरिजन सेवक २८-१-३९)[3]।

गांधीजी की यह धारणा नोआखाली के दंगे के समय भी रही। उनकी ब्रह्मचर्य की साधना में कोई कमी तो नहीं—यह वे जानना चाहते थे। यदि वे सच्चे ब्रह्मचारी हैं तो उसका असर वातावरण पर पड़े बिना नहीं रह सकता—यह उनका विश्वास था।

ठक्कर बापा से उनकी जो बातचीत हुई वह इस सम्बन्ध में यथेष्ट प्रकाश डालती है :

ठक्कर बापा ने पूछा— 'यह प्रयोग यहाँ क्यों?

गान्धीजी ने उत्तर दिया—"बापा! भूल कर रहे हो! यह प्रयोग नहीं है पर मेरे यज्ञ का आवश्यक अंग है। प्रयोग बाद दिया जा सकता है, पर कोई अपने कर्तव्य को नहीं छोड़ सकता। अब यदि मैं किसी बात को अपने यज्ञ—पवित्र कर्तव्य का अंश मानता हूँ तो सार्वजनिक मत मेरे खिलाफ होने पर भी मैं उसका त्याग नहीं कर सकता। मैं तो आत्मशुद्धि प्राप्त करने में लगा हुआ हूँ। पांच महाव्रत मेरे आध्यात्मिक प्रयत्नों

१—आरोग्य की कुंजी पृ० ३१-२

२—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० १ १ १ ३ १ ३ ५

३—ब्रह्मचर्य (दूसरा भाग) पृ० ७

के पांच आधार हैं । ब्रह्मचर्य इन्हीं में से एक है । ये पांचों अविभाज्य हैं तथा परस्पर सम्बन्धित और अन्योन्याश्रित हैं । यदि उनमें से एक का भङ्ग किया जाता है तो पांचों का भङ्ग हो जाता है । ऐसा होने से यदि मैं किसी को प्रसन्न करने के लिए ब्रह्मचर्य की साधना में फिसलूं तो न ब्रह्मचर्य को ही जोखिम में नहीं डालता पर सत्य अहिंसा और सब महाव्रतों को भी जोखिम में डालता हूं । मैं दूसरे व्रतों के सम्बन्ध में व्यवहार और सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं आने देता । यदि मैं केवल ब्रह्मचर्य के विषय में ही ऐसा करूं तो क्या इससे मैं ब्रह्मचर्य की धार को मन्द नहीं करूंगा ? सत्य की मेरी साधना को दूषित नहीं करूंगा ? जब से मैं नोआखाली में आया हूं मैं अपने से यह प्रश्न पूछता रहा हूं कि वह कौन-सी बात है, जो मेरी अहिंसा को कार्यकारी होने से रोक रही है । यह मंत्र काम क्यों नहीं कर रहा है ? कहीं मैंने ब्रह्मचर्य के बारे में तो गलती नहीं की कि जिसका यह परिणाम हो ।"

बापा बोले— 'आपकी अहिंसा असफल नहीं है । विचार करें—यदि आप यहां नहीं आते तो नोआखाली के भाग्य में क्या बदा होता ? दुनिया ब्रह्मचर्य के बारे में उस रूप में नहीं सोचती जिस रूप में आप सोच रहे हैं ।"

गान्धीजी बोले— 'यदि मैं आपकी बात को मान लूं तो उसका अर्थ यह हुआ कि दुनिया को नाराज करने के भय से मैं उस बात को छोड़ दूं, जिसे मैं ठीक समझता हूं । अगर मैं अपने जीवन में इस तरह से आगे बढ़ता तो न मालूम मैं कहां होता ? मैं अपने को किसी गड्ढे के तले में पाता । बापा ! आप इसका कोई अनुमान नहीं लगा सकते पर मैं इसका दृश्य अपने लिए आंक सकता हूं । मैंने अपने वर्तमान साहस पूर्ण कार्य को यज्ञ—तप कहा है । इसका अर्थ है—परम आत्म-शुद्धि । ऐसी आत्म-शुद्धि कैसे हो सकती है, यदि मैं अपने मन में एक बात रखूं और उसे खुल्लम-खुल्ला व्यवहार में लाने की हिम्मत नहीं कर सकूं ? क्या उस बात के करने के लिए भी जिसे व्यक्ति अपने हृदय से कर्तव्य समझता है किसी की सलाह या स्वीकृति की आवश्यकता रहती है ? ऐसी परिस्थिति में मित्रों के लिए दो ही मार्ग खुले हैं या तो वे मेरे उद्देश्य की पवित्रता में विश्वास रखें फिर भले ही वे मेरे विचारों को समझने में असमर्थ हों या उनसे असहमत हों अथवा वे मुझसे ही हट जायं । बीच का कोई रास्ता नहीं । इस हालत में जब कि मैं एक यज्ञ में उतरा हूं जिसका अर्थ है सत्य का पूर्ण प्रयोग मैं उस बात का साहस नहीं कर सकता कि मेरे तर्क-सिद्ध विश्वासों को काम में परिणत न करूं । न यही उचित है कि मैं आन्तरिक विश्वासों को छिपाऊं, या अपने तक ही रखूं । यह तो मेरी मित्रों के प्रति गद्दारी होगी । मैं इस जांच से कैसे दूर भाग सकता हूं ? मैंने अपने मन को स्थिर कर लिया है । ईश्वर के एकाकी मार्ग पर जिस पर कि मैं चल रहा हूं, मुझे किसी पार्थिव साथी की आवश्यकता नहीं । हमारी हिन्दू-मुसलिम स्त्रियां मेरे पास आती हैं । वे मेरे लिए अपनी मां बहन और पुत्रियों की तरह हैं । यदि ऐसा अवसर आ जाय जिससे आवश्यक हो जाय कि मैं उनके साथ अपनी शय्या का उपयोग करूं तो मुझे जरा भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए ? यदि मैं वैसा ब्रह्मचारी हूं जैसा कि मेरा दावा है । यदि मैं इस परीक्षा से अलग होऊं, तो मैं अपने को डरपोक और धोखेबाज साबित करूंगा ।"

बापा— "और यदि आपका कोई अनुकरण करने लगे तो ?"

गांधीजी 'यदि मेरे उदाहरण का कोई दम्भाचरण करे अथवा उसका अनुचित फायदा उठावे तो समाज उसे सहन नहीं करता और न उसे सहन करना ही चाहिए । पर यदि कोई सच्चा और ईमानदारीपूर्ण प्रयत्न करता हो तो समाज को उसका स्वागत करना चाहिए और यह उसकी भलाई के लिए ही होगा । जैसे ही मेरी यह खोज पूर्ण होगी मैं खुद ही उसका परिणाम सारी दुनिया के सामने रखूंगा ।

बापा—"कम-से-कम मैं तो आपमें कोई बुरी बात होने की कल्पना नहीं करता । आखिर मनु तो आपकी पोती ही है । मैं यह स्वीकार करता हूं कि आरंभ में मेरे मन में कुछ विचार थे । मैं नम्रता के साथ अपनी शंका को आपके सामने जोर से रखने के लिए आया था । मैं समझ नहीं पाया था । आपके साथ आज जो बातचीत हुई उसके बाद ही मैं गहराई से समझ सका हूं कि आप जिस बात के करने के प्रयत्न में हैं, उसका अर्थ क्या है ?

गांधीजी बोले "क्या इससे कोई वास्तविक अन्तर पड़ता है ? कोई अन्तर नहीं पड़ता और न पड़ना चाहिए । आप मनु और अन्य बालाओं में भेद करना चाहते हैं । मेरे मन में ऐसा भेद नहीं है । मेरे लिए तो सब पुत्रियां हैं ।

ठक्कर बापा के साथ महात्मा गांधी की जो बातचीत हुई उसके बाद मनु बहन गांधीजी के पास आकर बोली 'यद्यपि प्रारम्भ में ठक्कर बापा को कार्य के औचित्य के बारे में शंका थी । परन्तु अपने छह दिनों के निकट सम्पर्क और निरीक्षण से उनकी शंकाएं पूर्णरूप से दूर हो गई

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase pp 585-87

है। और उनको इस बात की तसल्ली हो गई है कि आप जो कर रहे हैं, उसमें कोई बुराई या अनौचित्य नहीं है और न इससे सम्बन्धित व्यक्तियों में। उन्होंने अपने मित्रों को भी यह बात लिखी है। उन्होंने यह भी कहा है कि उनके विचारों में परिवर्तन सब से अधिक यह देख कर हुआ है कि इस सेवा की नींद निर्दोष और गहरी होती है। तथा मैं एकाग्रता और अखण्ड श्रद्धा के साथ कर्तव्य का पालन करती रहती हूं। ऐसी हालत में यदि बापू को स्वीकार हो तो मैं इस बात में कोई हानि नहीं देखती कि ठक्कर बापा का यह सुझाव कि इस प्रयोग को फिलहाल स्थगित कर दिया जाय स्वीकार कर लिया जाय। मनु बहन ने यह भी स्पष्ट किया कि जहाँ तक विचारों का प्रश्न है, वह महात्मा गांधी के विचारों से सहमत है। और वह एक इंच भी पीछे नहीं हट रही है। गान्धीजी ने इस बात को स्वीकार किया।

प्रयोग को स्थगित करने का निश्चय हैमचर में हुआ। जबतक महात्मा गांधी बिहार में रहे तब यह प्रयोग स्थगित रहा। बाद में जब दिल्ली पहुँचे तब वह पुनः चालू कर दिया गया और महात्माजी की मृत्यु तक जारी रहा[1]।

महात्मा गांधी ता० २४-२-४७ को हैमचर पहुँचे। उनसे ठक्कर बापा की बातचीत केवल आध घंटा ता० २५-२-'४७ को हुई। उसी का परिणाम ऐसा निकला। मनु ने अपना निवेदन संभवतः २-३-'४७ को महात्मा गांधी के सामने रखा था[2]। मई के अन्तिम सप्ताह में गांधीजी ने पटना छोड़ा और दिल्ली के लिए प्रस्थान किया[3]। इस तरह लगभग तीन महीना प्रयोग स्थगित रहा।

महात्मा गांधी ने इस प्रयोग को अपने जीवन का सब से बड़ा और अन्तिम प्रयोग कहा था[4]। उन्होंने कहा : "मैंने खूब विचार किया है। चाहे मुझे सारी दुनिया छोड़ दे पर मेरे लिए जो सत्य है उसे मैं छोड़ने की हिम्मत नहीं कर सकता। यह एक धोखा और मोह-जाल हो सकता है। पर मुझे खुद को वह ऐसा मालूम होना चाहिए। इसके पहले भी मैं खतरे मोल ले चुका हूं। अगर यह प्रयोग खतरा ही होगा तो होकर रहे[5]।" इसके पहले उन्होंने मीरा बहिन को लिखा था : 'सत्य का मार्ग खन्दकों से ढका हुआ रहता है जिस पर हिम्मत से साथ चलना पड़ता है[6]।' इसी तरह उन्होंने लिखा : 'तुम रास्ते में बिछे कांटे, पत्थर और कङ्कड़ से घबराओगे तो ब्रह्मचर्य के रास्ते पर नहीं चल सकोगे। यह संभव है कि हम ठोकर खा जायं हमारे पैरों से खून बहने लगे यहाँ तक कि हमारे प्राण भी चले जाय। पर हम सच से मुड़ नहीं सकते[7]।"

महात्मा गांधी ने यह प्रयोग ता० १९-१२-'४६ को प्रारंभ किया था[8]। थोड़े ही दिनों में आस-पास कानाफूसियाँ होने लगीं। बाहर से भी आपत्तियाँ आईं।

महात्मा गांधी १-२-'४७ की प्रार्थना सभा में अपने प्रयोग का जिक्र करते हुए बोले : "मैं इतने सन्देह और अविश्वास के बीच में हूँ कि मैं नहीं चाहता कि मेरे अत्यन्त निर्दोष कार्य इस तरह उलटे समझे जाय और उनका उलटा प्रचार किया जाय। मेरी पोती मेरे साथ है। वह मेरे साथ मेरे बिछौने पर सोती है।

पैगम्बर [illegible] के द्वारा नपुंसकत्व प्राप्त करने की शिक्षा करते थे। ईश्वर की भावना के बल पर जो नपुंसक होते थे उनका वे स्वागत करते थे। मेरी भावना भी ऐसे ही नपुंसकत्व की प्राप्ति की है। इस तरह एक ईश्वर-कृत नपुंसक की भावना से मैं कर्तव्य में लगा हूं।

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol. I pp 587 591 598
—एकलो जाने रे पृ० १७
३—वही पृ० १०८ (पहली पंक्ति)
४—बिहारनी कोमी आगमां पृ० ३६८
५—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol I p 591
६—वही पृ० ५९१
७—वही
८—वही पृ० ५८४
९—My days with Gandhi p 11

यह तो मेरे यज्ञ का एक अविभाज्य अङ्ग है। मुझे सब कोई आशीर्वाद दें। मैं जानता हूँ कि मेरे मित्रों में भी मेरे कार्य की आलोचना है, परन्तु अत्यन्त अभिन्न मित्रों के लिए भी कर्त्तव्य को नहीं छोड़ा जा सकता[1]।"

ता० २-२-४७ के प्रार्थना-प्रवचन में उन्होंने कहा— "मैंने जानबूझ कर खानगी जीवन की बातें कही हैं क्योंकि मैं यह कभी नहीं मानता कि मनुष्य का खानगी जीवन उसके सार्वजनिक कार्यों पर कोई असर नहीं डालता। मैं यह नहीं मानता कि अपने जीवन में अनैतिक रहते हुए भी मैं जनता का सच्चा सेवक रह सकूंगा। अपने खानगी चरित्र का असर सार्वजनिक कार्यों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। खानगी और सार्वजनिक जीवन में भ्रम के कारण बहुत बुराई हुई है। मेरे जीवन में अहिंसा की जाँच का यह सर्वोपरि अवसर है। ऐसे अवसर पर मैं ईश्वर और मनुष्य के सम्मुख अपने आन्तरिक और सार्वजनिक दोनों कार्यों के योगफल के आधार पर जाँचा जाना चाहता हूँ। मैंने वर्षों पूर्व कहा था कि अहिंसा का जीवन फिर चाहे वह व्यक्ति का हो चाहे समूह का हो चाहे एक राष्ट्र का आत्म-परीक्षा और आत्मशुद्धि का होता है[2]।

ता० १-२-४७ के प्रवचन में महात्माजी ने कहा "मैंने अपने खानगी जीवन के बारे में जो बातें कही हैं वह अन्धानुकरण के लिए नहीं है। मैंने यह दावा नहीं किया कि मुझ में कोई असाधारण शक्ति है। मैं जो कर रहा हूँ वह सबके करने योग्य है, यदि वे उन शर्तों का पालन कर जिन का मैं करता हूँ। ऐसा नहीं करते हुए जो मेरे अनुकरण का बहाना करेंगे वे पछाड़ खाये बिना नहीं रह सकते। मैं जो कर रहा हूँ वह अवश्य खतरे से भरा हुआ है। पर यदि शर्तों का कठोरता से के साथ पालन किया जाय तो यह खतरा नहीं रहता[3]।"

उपर्युक्त उद्गारों से स्पष्ट है कि महात्मा गांधी इस प्रयोग को अपने यज्ञ का अविभाज्य अंग मानते रहे। वे इसे इतना पवित्र मानते रहे कि उन्होंने जनता को इसकी सफलता के लिए आशीर्वाद देने को आमन्त्रित किया।

इस प्रयोग का विवरण दो पुस्तकों में प्राप्त है (१) श्री प्यारेलालजी लिखित—'महात्मा गांधी—दी लास्ट फेज' और (२) श्री निर्मल बोस लिखित—'माई डेज विद गांधी'। महात्मा गांधी ने जिस प्रयोग की खुले में चर्चा की है, उसी प्रयोग के बारे में उपर्युक्त दोनों विवरणों में अत्यन्त रहस्यपूर्ण ढंग से और गोपनीयता के साथ चर्चा की गई है। सम्मान और नम्रता के साथ कहना होगा कि दोनों विवरण पूरे तथ्यों को उपस्थित नहीं करते और ऐतिहासिक दृष्टि से दोषपूर्ण हैं।

श्री प्यारेलालजी ने महात्मा गांधी की पौत्री श्री मनु तक परिमित रख कर ही इस प्रयोग की चर्चा की है। श्री बोस के अनुसार यह प्रयोग अन्य बहनों को साथ लेकर भी किया गया था और प्रथम बार ही नहीं था[4]। और उनके अनुसार महात्मा गांधी ने ऐसा स्वीकार भी किया था[5]। महात्मा गांधी का यह प्रयोग सीमित था या व्यापक इसका स्वयं उनकी लेखनी से कोई विवरण न मिलने पर भी यह तो निश्चित ही है कि इस प्रयोग को वे ऐसा समझते थे कि जिसमें पौत्री मनु और अन्य बहन का अन्तर नहीं किया जा सकता[6]। ऐसी परिस्थिति में इस प्रयोग को व्यापक प्रयोग समझ कर ही उसकी चर्चा की जाती तो सत्य के प्रति न्याय होता।

१—अमिशापाड़ा का प्रार्थना-प्रवचन। देखिए—My days with Gandhi p 155 Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol 1 p 580

२—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol. I, p 581

३—दसकरिया का प्रवचन। देखिए—My days with Gandhi p 155 Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol. I p 581

४—My days with Gandhi pp 134 154 174 178

५—वही पृ० १३४ १७८

६—(क) वही पृ० १७४

The distinction between Manu and others is meaningless for our discussion. That she is my grand-daughter may exempt me from criticism But I do not want that advantage.

(ख) देखिए पृ० ८१

जहाँ तक पता चला इस विषय में पहली आपत्ति नोआखाली में गांधीजी के टाइपिस्ट श्री परशुराम की तरफ से आई। उन्होंने तीन बार महात्मा गांधी से बातचीत की और चौथी बार में फुलस्केप साइज के १ पेज जितने लम्बे पत्र में अपनी भावना महात्मा गांधी के सामने रखी[1]। श्री प्यारेलालजी इस सब की तौल तक नहीं गये। श्री बोस ने भी न बातचीत का सार दिया है और न उस पत्र की बातों का उल्लेख किया है। एक बातचीत में श्री परशुराम के विचार जिस रूप में फूट पड़े उसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है "गांधीजी की दृष्टि चाहे जो भी हो पर एक साधारण मनुष्य की तरह मुझे कहना चाहिए कि गांधीजी को ऐसा मौका नहीं देना चाहिए कि जिस से उनके प्रति कोई गलत धारणा बन जाय। यदि गांधीजी के व्यक्तिगत आचरण पर आक्षेप आते हैं तो जिस उद्देश्य के लिए वे खड़े हुए हैं, वह खतिग्रस्त होता है। यह एक ऐसी बात है जो मुझसे सहन नहीं होती। जब मैं स्कूल में था तब मैं अपने साथियों के साथ इसी बात पर मुक्कामुक्की करने लगा था कि उन्होंने महात्मा गांधी के आचरण के प्रति दोषारोपण किया था। और भी अधिक, क्या उन्होंने अपने सेवाग्राम के साथियों से यह प्रतिज्ञा नहीं की थी कि वे स्त्रियों को अपने संसर्ग से दूर रखेंगे[2]?"

महात्मा गांधी ने अपनी स्थिति को परिष्कृत करते हुए कहा "यह सत्य है कि मैं स्त्री कार्यकर्त्रियों को अपनी शय्या का व्यवहार करने देता हूँ। समय-समय पर यह आध्यात्मिक प्रयोग किया गया है। मुझ में विकार नहीं ऐसी मेरी धारणा है। फिर भी यह असंभव नहीं कि कुछ गलती बच गयी हो और इससे उस लड़की के लिए संकट उपस्थित हो सकता है जो प्रयोग में शरीक हो। मैंने यह पूछा है कि कहीं बिना इच्छा भी मैं उनके मन में थोड़ा भी विकार उत्पन्न करने का निमित्त तो नहीं हुआ? मेरे सुप्रसिद्ध साथी नरहरि (परीख) और किशोर लाल (मशरूवाला) ने इस प्रयोग पर आपत्ति उठाई थी और उनकी एक शिकायत यह थी कि मुझ जैसे उत्तरदायित्ववाले नेता का उदाहरण दूसरों पर क्या असर डालेगा[3]?"

इस वार्तालाप से पता चलता है कि यह प्रयोग पहले भी हुआ और यह अन्य स्त्रियों के साथ रहा।

श्री परशुराम ने जो सुझाव रखे वे महात्मा गांधी को स्वीकार नहीं हुए अतः साथ छोड़ कर चले गये। यह ता० २ जनवरी १९४७ की घटना है।

इसके बाद अपने एक मित्र को महात्मा गांधी ने पत्र लिखा जिसमें श्री परशुराम के चले जाने का मुख्य कारण बताया गया था उनका गांधीजी के सिद्धान्तों में विश्वास न होना और मनु का उनके साथ एक शय्या पर सोना। इस पर टिप्पणी करते हुए श्री बोस लिखते हैं कि गांधीजी का ऐसा लिखना परशुराम के प्रति अन्याय था। उनका कहना है—गांधीजी के सिद्धान्तों में परशुराम की पूर्ण श्रद्धा थी। श्री परशुराम की मुख्य शंका मनु बहन के साथ के प्रयोग को लेकर नहीं थी बल्कि अन्य स्त्री-पुरुषों की स्थिति के विषय को लेकर थी। उनके यह समझ में नहीं आ रहा था कि साधारण स्तर पर रहे हुए स्त्री-पुरुषों का स्पर्श किस तरह एक आध्यात्मिक आवश्यकता हो सकती है[4]।

श्री बोस के विवरण से पता चलता है कि इस बार भी श्री मशरूवाला और श्री नरहरि परीख आपत्ति करनेवालों में थे। जनवरी '४७ के अन्तिम सप्ताह में उनका आपत्तिकारक पत्र पहुँचा[5]। श्री मशरूवाला के पत्र का उत्तर महात्मा गांधी ने तार से दिया जिस में लिखा गया था कि वे ता० १-२-'४७ के सार्वजनिक वक्तव्य को देखें। पत्र लिखा जा रहा है[6]। इसके बाद किशोरलाल मशरूवाला और नरहरि परीख का तार आया जिसमें उन्होंने ता० १-२-४७ के पत्र की पहुँच देते हुए लिखा था कि वे हरिजन पत्रों के कार्यभार से मुक्त हो रहे हैं। पत्र देखें[7]। फरवरी के अन्तिम सप्ताह में श्री मशरूवाला का पत्र था। श्री बोस के अनुसार उस पत्र का सार यह था कि स्त्रियों के साथ के व्यवहार

१—My days with Gandhi pp 127 131 134
२—वही पृ० १३३-३४
३—वही पृ० १३४
४—My days with Gandhi p 137 Only his point of view was the point of view of the common man he did not realise how contact with men and women on a common level might be a spiritual need for Gandhiji
५—वही पृ० १५४
६—वही पृ० १५५
७—वही पृ० १५८

में गांधीजी मोहभाव से ग्रस्त थे[१] ।

इनके प्रश्न थे : (१) बीमारी के कारण परिचर्या की आवश्यकता न होते हुए भी अथवा परवशता के अन्य अवसरों को छोड़कर भी क्या कोई बिना जरूरत नग्न अवस्था में मनुष्य अथवा स्त्री के सामने आ सकता है जब कि वह ऐसे समाज का व्यक्ति नहीं जिस में नग्नता एक प्रथा हो ? (२) जिनमें पति-पत्नी का सम्बन्ध न हो अथवा जो मुक्त रूप में ऐसा व्यवहार न रखते हों ऐसे स्त्री-पुरुष क्या एक शय्या का साथ उपयोग कर सकते हैं[२] ?

श्री प्यारेलालजी इस सारे पत्र-व्यवहार का जिक्र नहीं करते और न विरोध में आए हुए पत्रों का सार ही देते हैं। हरिजन पत्र के सम्पादन कार्य से दो साथियों के हटने का वे उल्लेख करते हैं पर वे साथी कौन थे इस बात से भी वे पाठकों को अंधेरे में रखते हैं।

श्री प्यारेलालजी इस बात का उल्लेख अवश्य करते हैं कि महात्मा गांधी ने इस विषय में अनेक पत्र लिखे और राय जाननी चाही पर नाम उन्हीं के प्रकाशित किए हैं, जिन्हें कोई आपत्ति न थी अथवा जिनको बाद में कोई आपत्ति नहीं रही। जिनकी अन्त तक आपत्ति रही उनके नामों को तो उन्होंने सयत्न ही बाद दिया है।

फरवरी के अन्तिम सप्ताह में जब श्री किशोरलाल मशरूवाला का एक पत्र आया तब गांधीजी ने श्री बोस को अपने पास बुलाया और उनमें तथा उनके निकट के साथियों में किस तरह मतभेद हो गया है यह बतलाया। गांधीजी ने साथियों द्वारा उठाई गई आपत्तियों के विषय में श्री बोस के विचार जानने चाहे। मनु बहन ने श्री मशरूवाला का पत्र अनुवाद कर बताया और फिर प्रयोग का पूरा विवरण बताया[३]। श्री बोस को जो जानकारी हुई, उसके अनुसार महात्मा गांधी अपनी शय्या पर बहिनों को सुलाते। ओढ़ने का कपड़ा एक ही होता। और फिर गांधीजी इस बात को जानना चाहते कि उनमें या उनके साथी में क्या अल्प-मात्र भी विकार उत्पन्न हुआ[४] ?

इस तरह अपनी परीक्षा के लिए स्त्रियों का सहारा लेना श्री बोस को नागवार मालूम दिया। उनके मत से गांधीजी जो कर्मियों द्वारा निजी सम्पत्ति माने जाने लगे थे उसका कारण यही था। उनकी दृष्टि से कर्मियों का व्यवहार स्वस्थ मानसिक सम्बन्ध का परिचय नहीं देता था। इस प्रयोग का मूल्य खुद गांधीजी के जीवन में कितना ही क्यों न हो उसका असर उन दूसरों के व्यक्तित्व के लिए घातक था जो कि नैतिक स्तर में उतने हस्तिवाले नहीं थे और जिनके लिए इस प्रयोग में शरीक होना कोई आध्यात्मिक आवश्यकता नहीं थी। मनु की बात दूसरी थी जो रिश्ते में पोती थी[५]।

कई आलोचकों ने कहा— 'हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि आप इस साधना से आध्यात्मिक प्रगति कर सकते हैं, पर यह तो सम्मुख पक्ष के बलिदान पर होगा जिसमें आप की तरह का संयम नहीं है।'

महात्मा गांधी ने कहा— 'नहीं ऐसा नहीं हो सकता। यह तो परस्पर टकरानेवाली बात है। दूसरे के नुकसान पर अपनी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। साथ ही उचित खतरा उठाना ही होगा अन्यथा मनुष्य जाति प्रगति नहीं कर सकती।' उन्होंने एक दृष्टान्त दिया— 'जब एक कुम्हार मिट्टी का बर्तन बनाने लगता है, तब वह यह नहीं जानता कि भट्टी में देने पर उनमें तरेड़ पड़ जायगी अथवा अच्छी तरह पक कर बाहर निकलेंगे। यह अनिवार्य है कि उनमें से कई टूट जायें किन्हीं में तरेड़ें पड़ उठें और थोड़े ही पक कर सख्त हो अच्छे बर्तन के रूप में बाहर आयें। मैं तो एक कुम्हार की तरह हूँ। मैं आशा और श्रद्धापूर्वक कार्य करता हूँ। अमुक बर्तन टूटेगा या उसमें दरार होगी —यह एक कुदरत और भाग्य की ही बात होगी। कुम्हार को चिन्ता नहीं करनी चाहिए। अगर कुम्हार ने इतनी चौकसी ले ली हो कि मिट्टी अच्छी किस्म की है और उसमें मिलावट या कूड़ा-कर्कट नहीं है और उसे ठीक आकार दिया गया है तो इसके बाद भी उसे चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। मैंने जानबूझ कर अपने जीवन में कोई गलत कार्य नहीं किया है। यदि कभी अनजाने में कोई मुझसे गलत

१—My days with Gandhi p 160 : The main charge seemed to have been that Gandhiji was obviously suffering from a sense of self-delusion in regard to his relation with the opposite sex.

२—वही पृ० १८६

३—वही पृ० १५६ ६

४—वही पृ० १७४

५—वही पृ० १७४-५

कार्य हो गया हो तो मैंने तुरन्त उसे जनता के सामने स्वीकार किया और पता चलते ही उसका उचित प्रायश्चित किया। इसी तरह इस बात में भी किसी भी समय मुझ मिट्टी में अगर कोई अशुद्धि या मिलावट दिखाई देगी अथवा मुझमें मालूम देगी तो मुझे उसका त्याग करने में एक क्षण भी नहीं लगेगा और सारी दुनिया के सामने अपनी अयोग्यता स्वीकार कर लूंगा[1]।"

श्री बोस के अनुसार स्वामी आनन्द और श्री केदारनाथजी भी विरोधी मत रखते थे। श्री प्यारेलालजी यह तो लिखते हैं कि महात्मा गांधी बिहार में आये तब दो मित्रों ने उनसे लगातार पाँच दिन तक[2] बातचीत की। पर ये दोनों स्वामी आनन्द और श्री केदारनाथजी थे, इसको गोपनीय रखते हैं। महात्मा गांधी और इनमें जो वार्तालाप हुआ उसका सार इस प्रकार है :

प्रश्न—"इस नये प्रयोग को आरम्भ करते समय आपने अपने साथियों से क्यों नहीं कहा और उन्हें अपने साथ क्यों नहीं रखा? यह गुप्ताचरण क्यों?"

गान्धीजी "इस बात को गुप्त रखने का इरादा नहीं था। सारी बात स्पष्ट थी। जैसी यह बात है उसमें मित्रों की पूर्व सलाह की तो कोई बात ही नहीं थी पूर्व स्वीकृति अनावश्यक थी। फिर भी आरंभ में ही इस बात के अच्छी तरह प्रचार के लिए कुछ जोर देना चाहिए था। अगर मैंने ऐसा किया होता तो आज जो संकट और हलचल है, वह बहुत कुछ बचाई जा सकती। ऐसा न करना एक बड़ी त्रुटि हुई। जब ठक्कर बापा मेरे पास आये तब मैं सोच रहा था कि इसका समुचित प्रायश्चित क्या है। बाद की बात तो आप जानते ही हैं।"

प्रश्न "यदि आप नैतिक संस्कारों की नींव को जिस पर कि समाज टिका हुआ है और जो कि एक लम्बे और कष्टपूर्ण अनुशासन से निर्मित है, ढीला करेंगे तो उससे जो अपूरणीय क्षति होगी वह स्पष्ट है। जमे हुए संस्कारों का इस तरह भंग करने से ऐसा कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं दिखाई देता जो उसके औचित्य को सिद्ध करे। आपका जवाब क्या है? हम आपको नीचा दिखाने के लिए नहीं आये हैं और न आप पर विजय पाने के लिए ही आये हैं। हम तो केवल समझना चाहते हैं।"

गान्धीजी "यदि कोई कट्टर संस्कारों के बाहर आने को तैयार न हो तो कोई नैतिक उन्नति या सुधार की संभावना नहीं। सामाजिक रूढ़ियों के शिकंजों में अपने का जकड़ कर हम सोदा मे अन्धा ही है। ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित भी बातों की जो कठिन कल्पना है वह मेरे विचारों से अपर्याप्त और दोषपूर्ण है। मैंने अपने लिए कभी इसे स्वीकार नहीं किया। मेरे मत से इन बातों की आड़ में रहकर सच्चे ब्रह्मचर्य का प्रयत्न भी संभव नहीं। मैं बीस वर्ष तक दक्षिण अफ्रिका में पश्चिमी लोगों के साथ गहरे सम्पर्क में रह चुका हूं। हैवलॉक एलिस और बर्टरेंड रसल जैसे ख्यातनामा लेखकों की कृतियों को और उनके सिद्धान्तों को मैंने जाना है। वे सभी प्रसिद्ध विचारक खरे और अनुभवी हैं। अपने विचारों के कारण और उन्हें प्रकाशित करने के कारण उन्हें कष्ट उठाने पड़े हैं। विवाह और प्रचलित नैतिक आचार-विधि की सम्पूर्ण आवश्यकता को न मानते हुए भी (यहाँ मेरा उनसे मतभेद ही है) वे ऐसी संस्था और रीति-रिवाजों के बिना ही स्वतंत्ररूप से जीवन में पवित्रता लाना सम्भव है और उसे लाना आवश्यक है ऐसा मानते हैं। पश्चिम में ऐसे स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में आया हूं जो कि पवित्र जीवन बिताते रहे हैं, हालांकि वे प्रचलित प्रथाओं और सामाजिक विश्वासों को वे नहीं मानते और न उनका पालन करते हैं। मेरी खोज कुछ-कुछ उसी दिशा में है। यदि आप कहीं आवश्यक हो पुरानी बात को दूर कर सुधार करने की आवश्यकता और इच्छा रखते हों और वर्तमान युग के साथ मेल खाते हुए आध्यात्म और नैतिकता के आधार पर एक नई पद्धति का निर्माण करना चाहते हों तो उस हालत में दूसरों की इजाजत लेने अथवा उन्हें समझाने का प्रश्न ही नहीं उठता। एक सुधारक उस समय तक नहीं ठहर सकता जब तक कि सब में परिवर्तन हो जाय। उसे सुधारक कोई ही करनी होगी और सारे संसार के विरोध के सम्मुख अकेले चलने का साहस करना होगा। मैं अपने अनुभव अध्ययन और सूझ के प्रकाश में ब्रह्मचर्य की उस वर्तमान परिभाषा की जांच करना चाहता हूं और उसे विस्तृत तथा संशोधित करना चाहता हूं। जब जब भी अवसर आता है तब मैं उससे बच कर नहीं निकलता और न उससे दूर ही भागता हूं। इसके विपरीत मैं अपना यह कर्तव्य—धर्म मानता हूं कि मैं उसका सामना करूं। और इसका पता लगाऊं कि वह कहाँ लजाकर छोड़ता है। और मैं कहाँ पर खड़ा हूं। स्त्री के स्पर्श से बचना और अवसर उससे दूर भाग जाना मेरी दृष्टि में सच्चे ब्रह्मचर्य की कामना करनेवाले के लिए अयोग्य है। मैंने काम

---

[1]—Mahatma Gandhi—The Last Phase pp 593-84

[2]—श्री बोस और मनु बहन के अनुसार यह बात दो ही दिन हुई। पाँच दिन सम्भवतः भूल से लिखा गया है। वे दोनों ता० १२-३-४७ को बिहार आये। ता० १ और ११ को बातचीत हुई। —देखिए My days with Gandhi पृ० १७१ बिहारकी कौमी आगमां पृ० ३८४ ११ १४

वासना की तृप्ति के लिए स्त्रियों से सम्पर्क साधने की कभी चेष्टा नहीं की। मैं इस बात का दावा नहीं करता कि मैं अपने में से काम विकार को सम्पूर्णतः दूर कर सका हूं पर मेरा यह दावा है कि मैं इसे काबू में रख सकता हूं।

प्रश्न "हम लोगों को यह जानकारी नहीं है कि आपने जनता के सामने अपने इन विचारों को रखा है। इसके विपरीत आपने जनता के सामने ऐसे ही विचार रखे हैं, जिनके साथ हम लोग परिचित हैं। आपके प्रयत्न के साथ उन विचारों को ही समझा है। आपका क्या कहना है?

गान्धीजी "आज भी मैं जहाँ तक सर्वसाधारण का सवाल है उन्हीं विचारों को उनके सामने रखता हूँ, जिनको आप मेरे पुराने विचार कहते हैं। साथ ही जैसा कि मैंने कहा है मैं आधुनिक विचारों से बहुत गहराई तक प्रभावित हूं। हम लोगों में तांत्रिक विचार धारा भी है जिसने कि न्यायाधीश सर जोन वुडरफ जैसे पश्चिमी विद्वानों को भी प्रभावित किया है। मैंने यरवदा जेल में उनकी कृतियों का अध्ययन किया। आप रूढ़िगत संस्कारों में पले-पुसे हैं। मेरी परिभाषा के अनुसार आप ब्रह्मचारी नहीं माने जा सकते। आप जब-तब बीमार पड़ जाते हैं। सब तरह की शारीरिक व्याधियों से ग्रसित हैं। मैं यह दावा करता हूं कि सच्चे ब्रह्मचर्य का प्रतिनिधित्व मैं आपसे अच्छा करता हूं। आप सत्य अहिंसा अस्तेय के भङ्ग को इतनी गम्भीर दृष्टि से नहीं देखते। पर ब्रह्मचर्य का—स्त्री और पुरुष के बीच के सम्बन्ध का— काल्पनिक भङ्ग भी आप को पूर्णतः विचलित कर देता है। ब्रह्मचर्य की इस कल्पना को मैं संकुचित प्रतिगामी और रूढ़िग्रस्त मानता हूं। मेरे लिए सत्य अहिंसा और ब्रह्मचर्य के आदर्श समान महत्व रखते हैं। और सबके सब हमारी ओर से समान प्रयत्न की अपेक्षा रखते हैं। उनमें से किसी का भी भङ्ग मेरे लिए समान चिन्ता का विषय होता है। मैं यह मानता हूं कि मेरा आचरण ब्रह्मचर्य के सच्चे आदर्श से दूर नहीं गया है। इसके विपरीत वह ब्रह्मचर्य का जो क्या करना और क्या नहीं करना वहीं तक सीमित रहता है, असर समाज पर बुरा ही पड़ता है। उसने आदर्श को नीचे गिरा दिया है। और उसके सच्चे तत्व को छीन लिया है। यह मैं अपना उच्चतम कर्तव्य समझता हूं कि मैं इन नियमों और बन्धनों को समुचित स्थान में रखूं और ब्रह्मचर्य के आदर्श को उन रूढ़ियों से मुक्त कर दूं जिनसे कि वह जकड़ दिया गया है।

प्रश्न "यदि आपके विचार और आचार आत्म-संयम के पालन में इतने आगे बढ़ गये हैं तो इनका आपके चारों ओर के वातावरण पर लाभकारी असर क्यों नहीं दिखाई देता? हम आपके चारों ओर इतनी अशान्ति और दुःख को क्यों पाते हैं? आपके साथी विकारों से मुक्त क्यों नहीं हुए?

गान्धीजी—"मैं अपने साथियों के गुण और कमियों को अच्छी तरह जानता हूं। आप उनके दूसरे पक्ष को नहीं जानते। ऊपरी निरीक्षण के आधार पर तुरन्त किसी निर्णय पर पहुंच जाना सत्य-शोधक के लिए अशोभनीय है। आप लोग सोचते हैं वैसा मैं गिरा नहीं गया हूं। मैं तो आपसे इतना ही कह सकता हूं कि आप लोग मुझ में विश्वास रखें। मैं आपके कहने पर उस बात को नहीं छोड़ सकता जो मेरे लिए गहरे विश्वास का विषय है। मुझे खेद है मैं असहाय हूं।

प्रश्न "हम नहीं कह सकते कि आपने हमें समझा दिया। हम संतुष्ट नहीं हैं। हम लोग इस बात को यहीं नहीं छोड़ सकते। हम लोग आपके साथ निरन्तर प्रयास करते रहेंगे। यदि आप बनी हुई मर्यादा के खिलाफ फिर जाने को प्रेरित हों तो अपने दुःखित मित्रों का भी खयाल करें।

गान्धीजी—"मैं जानता हूं। पर मैं क्या कर सकता हूं जब कि मैं कर्तव्य भावना से प्रेरित हूं। मैं ऐसी परिस्थिति की कल्पना कर सकता हूं जब कि मैं स्थापित नियमों के विरुद्ध जाना अपना स्पष्ट कर्तव्य समझूं। ऐसी परिस्थितियों में मैं अपने को किसी भी वायदे के द्वारा बंधन में डालना नहीं चाहता।

इस वार्तालाप के बाद ता० १६. ३. '४७ को डायरी में महात्मा गांधी ने लिखा

"ब्रह्मचर्य की मेरी परिभाषा के अनुसार आज के इतने ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विचार दूषित अथवा अधूरे लगे। उनमें मेरे मार्ग के अनुसार सुधार की अति आवश्यकता है। मैंने विकार पोसने के लिए कभी भी जानबूझ कर स्त्री-संग का सेवन नहीं किया। एक अपवाद बतलाया है। अपने आचार से मैं आगे बढ़ा हूं और अभी अधिक की आशा करता हूं ।"[1]

1—बिहारनी कोमी आगमां पृ० ११

इसके बाद भी पत्र-व्यवहार चलता ही रहा। अन्त में महात्माजी के सामने यह सुझाव आया कि चूंकि दोनों ही पक्ष एक दूसरे को नहीं समझा सके हैं, अतः स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध और स्त्री-पुरुष-व्यवहार के सम्बन्ध में वर्तमान स्थितियों के अनुकूल मर्यादा स्थिर करने का प्रश्न जिम्मे ही व्यक्तियों पर छोड़ा जाय।

१—गान्धीजी का मत रहा—प्रस्तावक पुराने परम्परा के नियमों से दूर जाना नहीं चाहते और मैं सत्य की अनन्त खोज में उन कड़ों से बद्ध नहीं हो सकता जो उस खोज में बाधक हो। उन्होंने लिखा—आप ही की स्वीकृति के अनुसार नया विधान आप पर लागू नहीं होगा। जहां तक मेरा सवाल है, वहां तक मैं अपनी ही मर्यादाओं से बंधा रहूंगा। इस तरह दोनों जहां हैं, वहीं रहेंगे। ऐसी परिस्थिति में कोई लाभ नहीं कि हम लोग भूसी में से धान निकालने के काम में लोगों को लगावें।

उपर्युक्त वार्तालाप के दो दिन बाद (ता० १८-३-४७ को) महात्मा गांधी ने श्रीमती अमृतकौर को जो पत्र लिखा वह इस प्रकार है :

"तुम्हें मेरे इस वक्तव्य को मंजूर करने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि इस लोगों में से ब्रह्मचर्य की पूरी कीमत और उसका अर्थ कोई नहीं जानता और इस मूर्खों में मैं ही कम मूर्ख हूं और अधिक से अधिक अनुभवी। मैंने हजारों स्त्रियों का स्पर्श किया है परन्तु मेरे स्पर्श का अर्थ कभी भी विकार-भाव नहीं रहा। मेरा स्पर्श दोनों के हित के लिए रहा। जिनका अनुभव इससे भिन्न हो, वे मेरे विरुद्ध अपने सबूत पेश करें। ब्रह्मचर्य का मेरा अर्थ यह है—वह ब्रह्मचारी है जिसके मन में कभी भी विकार नहीं होता। और जो ईश्वर के प्रति अपनी निरन्तर सौजन्यता के द्वारा ऐसा संयमी हो गया है कि वह नग्न स्त्रियों के साथ नग्नावस्था में सो सकता है, चाहे वह कितनी भी सुन्दर क्यों न हो और ऐसा करने पर भी जिसमें किसी तरह की विषय-भावना की जागृति नहीं होगी। ऐसा व्यक्ति कभी झूठ नहीं बोलेगा। दुनिया में किसी भी स्त्री व पुरुष के प्रति किसी तरह की हानि नहीं करेगा व क्रोध और द्वेष से मुक्त होगा और भगवद्गीता की परिभाषा के अनुसार स्थितप्रज्ञ होगा। ऐसा पुरुष पूर्ण ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचारी का शाब्दिक अर्थ है—वह व्यक्ति जो कि ईश्वर की ओर क्रमशः हमेशा बढ़ता जाता है और जिसका प्रत्येक कार्य इसी ध्येय से किया जाता है और किसी अभिप्राय से नहीं।[१]

प्रयोग स्थगित करने के पहले और बाद में महात्मा गांधी की जो भावना रही वह उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है। प्रयोग स्थगित किया गया उसका कारण ठक्कर बापा के अनुरोध की रक्षा और लोगों को इस प्रयोग के मर्म को समझने के लिए कुछ अवकाश देना मात्र था[२]। इस प्रयोग के विषय में निम्न बातें चिन्तनीय हैं :

महात्मा गांधी ने इस प्रयोग पर विचार जानने के लिए अनेक मित्र और साथियों से पत्र-व्यवहार किया। उपर्युक्त दोनों पुस्तकों में जो पत्र सामने आते हैं उनमें प्रयोग के साथ उनकी पोती मनु बहन का ही नामोल्लेख है[३]। सार्वजनिक भाषण में भी उन्होंने मनु बहिन का ही उल्लेख किया[४]। जिन्होंने इस प्रयोग में कोई दोष नहीं देखा उनके विचार भी प्रायः इसी बात पर आधारित थे अथवा महात्मा गांधी के प्रति अनन्य श्रद्धा पर अवलम्बित थे। उनके दो नमूने नीचे दिये जाते हैं :

(१) श्री सत्यन नारायणजी ने एक बार कहा : "उनमें तो साधारण समुज्ज भी नहीं। वे यह क्यों नहीं देखते हैं कि मनु तो उनके लिए एक ६ महीने की बच्ची के तुल्य है। मनु उनके साथ एक ही बिछौने पर सोती है इसमें मैं जरा भी दोष नहीं देखता। मैं समझ नहीं पाता कि एक विचारशील व्यक्ति ऐसी साधारण बात भी क्यों नहीं समझ सकता[५]।"

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase p 591

२—Mahatma Gandhi—The Last Phase p 587 : The concession was only to feelings and sentiments of those who could not understand his stand and might need time for new ideas to sink into their minds

३—My days with Gandhi p 130 (Letter to a friend name not mentioned) वही पृ० १५५ (श्री सतीश चन्द्र दासजी के नाम पत्र) Mahatma Gandhi—The Last Phase p 581 (श्री आचार्य कृपलानी के नाम पत्र) वही पृ० ५८८ (होरेस अलेक्जेण्डर के नाम पत्र)।

४—My days with Gandhi p 151 Mahatma Gandhi—The Last Phase p 580

५—Mahatma Gandhi—The Last Phase p 592

इसमें प्रयोग पर सार्वभौम दृष्टि से विचार नहीं है।

(२) आचार्य कृपलानी ने महात्मा गांधी के ता २४ २ ४७ के पत्र[1] का उत्तर देते हुए ता० १ १ ४७ के पत्र में उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा व्यक्त करते हुए लिखा

"ऐसे प्रश्न मेरे बूते के बाहर हैं। दूसरों का न्याय करने बढ़ूँ—खास कर उनका जो नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से मुझसे अनेक कोस दूरी पर हैं—उसके पहले अपने को नैतिक दृष्टि से सीधा रखने के लिए मुझे बहुत कुछ करना है। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि मुझे आपमें पूर्ण विश्वास है। कोई भी पापी मनुष्य आपकी तरह कार्य नहीं कर सकता। अगर कोई सन्देह होता भी तो मैं अपनी आँखों और कानों का ही अविश्वास करता। क्योंकि मैं मानता हूँ कि मेरी इन्द्रियाँ मुझे अधिक धोखा दे सकती हैं, बनिस्बत आप अत मैं तो निश्चित हूँ। कभी मैं सोचा करता हूँ आप कहीं मनुष्यों का प्रयोग साध्य के रूप में न कर, साधन के रूप में तो नहीं कर रहे हैं। पर मैं यह विचार कर अर्थ ग्रहण कर लेता हूँ कि आप अवश्य ही ऐसा ऊहापोह रखते होंगे। यदि आप स्वयं अपने विषय में निश्चित हैं तो दूसरों को इससे हानि नहीं हो सकेगी। मुझे आश्चर्य हुआ कहीं आप गीता के लोक-संग्रह का भंग तो नहीं कर रहे हैं। परन्तु इस प्रयोग में यह विचार भी आप की दृष्टि से ओझल नहीं होगा। मैं जानता हूँ स्त्रियों के प्रति आपकी जो भावना है वही सही है। क्योंकि आप उनमें से हैं, जो स्त्री को साध्य मानते हैं केवल साधन नहीं। आपने कभी स्त्री-जाति से अनुचित लाभ नहीं उठाया[2]।

यह उत्तर श्रद्धा भावना से प्रेरित है और प्रकारान्तर से उसमें आपत्तियाँ दिखा ही दी गयी हैं।

२—महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में इस प्रयोग के पीछे जो दृष्टियाँ बतलायी हैं वे ऐसी नहीं जो सहज हृदयंगम हो सकें। मनु बहिन के मन की स्थिति के परीक्षण के लिए ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी। मनु बहिन जैसी सच्ची निश्छल स्त्री अपने पितामह को अपने मनोभाव बिना प्रयोग के ही सही-सही कह देती ऐसा महात्मा गांधी को विश्वास होना चाहिए था। जो बात बातचीत से जानी जा सकती थी उसके लिए ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी। सम्पर्क में आनेवाली बहिनों के मनोभावों को जानने के लिए ऐसे प्रयोग की सार्वभौम प्रयोजनीयता सिद्ध नहीं होती फिर भले ही ऐसा प्रयोग कोई ब्रह्मचारी ही करे।

३—योगसूत्र में यह अवश्य कहा है कि—"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग"—अहिंसक के सान्निध्य में वैर नहीं टिकता पर यहाँ सान्निध्य का अर्थ खूब सन्निकटता नहीं है। दूर या समीप अहिंसक का ऐसा प्रभाव पड़ता है। ब्रह्मचारी के समीप भी विकार शान्ति को प्राप्त होते हैं यह सत्य है, पर इसके लिए क्या एक शय्या के सान्निध्य की आवश्यकता होगी? पतञ्जलि का सूत्र ऐसी बात नहीं कहता।

४—यह नीति मनु के शिक्षण की दिशा में उठायी कदम किस दृष्टि से था यह भी स्पष्ट नहीं है। ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में किसी भी बहिन के शिक्षण के साथ इस प्रयोग का सीधा सम्बन्ध कैसे बैठता है, यह समझ में नहीं आता। नोआखाली जैसे भयंकर क्षेत्र में अपनी पौत्री के साथ स्थित हो वहाँ की जनता में अदम्य साहस लाने और परिस्थिति का निर्भयता के साथ-साथ मुकाबिला करने का अनुपम आदर्श जरूर रखा गया था पर बहिनों के सह शय्या-शयन के साथ उसका सम्बन्ध नहीं बैठता।

५—नपुंसकत्व-प्राप्ति की साधना के लिए भी ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नहीं। बिना ऐसे प्रयोग के नपुंसकत्व सिद्ध हुआ है, ऐसा इतिहास बतलाता है। कोई स्वयं ब्रह्मचर्य में कहाँ तक बढ़ा हुआ है, इस बात को जानने के लिए ऐसा प्रयोग उन्हीं आपत्तियों को सामने लाता है, जो आचार्य कृपलानी द्वारा प्रस्तुत हुई थीं।

६—मनु बहिन का एक आदर्श नारी के रूप में निर्माण करने की भावना के साथ भी सह-शय्या के प्रयोग का सीधा सम्बन्ध नहीं बैठाया जा सकता। इस प्रयोग के न करने से वह कैसे रुकता यह बुद्धिगम्य नहीं होता।

७—सह-शय्या-शयन नोआखाली यज्ञ का आवश्यक अङ्ग कैसे था इस पर महात्मा गांधी का कथन स्पष्ट नहीं है।

१—इस पत्र में बात इस रूप में रखी हुई है—Manu Gandhi my grand-daughter as we consider blood relation, shares the bed with me, strictly as my very blood......as part of what might be called my last yajna.

२—Mahatma Gandhi The Last Phase pp 582 3

८—महात्मा गांधी को मानव-मात्र का प्रतीक मानें और मनु बहिन को बहिन-मात्र का तो इस प्रयोग का सार यह हो सकता है कि सब मनुष्य स्त्री-मात्र को अपनी बहिनें समझें और स्त्रियाँ पुरुष-मात्र को अपना पितामह। यह प्रयोग ऐसे पदार्थ-बोध के लिए हो तो भी उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा आदर्श महापुरुष हमेशा देते आए हैं, पर ऐसा करने के लिए उन्हें कभी ऐसा प्रयोग करना पड़ा हो, ऐसा इतिहास नहीं बताता।

२२-बाड़े और महात्मा गांधी

ऊपर महात्मा गांधी के प्रयोगों का जो उल्लेख आया है उससे स्पष्ट है कि महात्मा गांधी ने प्रथम तीन बाड़ों की अवगणना की है। निर्विकार संस्पर्श स्नान, एक शय्या-शयन और एकान्त में अकेली स्त्री को धर्मोपदेश—यह उनके जीवन में चलते रहे। महात्मा गांधी शील की नव बाड़ों के सम्बन्ध में अपना स्वयं का चिन्तन रखते थे। वे इस विषय में मौलिक दृष्टि से चलते रहे। नीचे काल क्रम से उनके विचारों को दिया जा रहा है

१—एक भाई ने पूछा—"मेरी दशा दयनीय है। दफ्तर में रास्ते में रात में पढ़ते समय काम करते हुए और ईश्वर का नाम लेते समय भी वही विचार मन में आते रहते हैं। विचारों को किस तरह काबू में रखूं? स्त्री-मात्र के प्रति मातृ-भाव कैसे पैदा हो?" महात्मा गांधी ने जवाब दिया—"यह स्थिति हृदय द्रावक है। यह स्थिति बहुतों की होती है। पर जब तक मन उन विचारों से लड़ता रहे तब तक डरने का कोई कारण नहीं। आँखें दोष करती हों तो उन्हें बन्द कर लेना चाहिए। कान दोष करें तो उनमें रुई भर लेनी चाहिए। आँखों को सदा नीची रख कर चलने की रीति अच्छी है। इससे उन्हें और कुछ देखने का अवकाश ही नहीं रहता। जहाँ गन्दी बातें होती हों या गन्दे गीत गाये जा रहे हों वहाँ से तुरन्त उठ जाना चाहिए। जीभ पर पूरा काबू हासिल करना चाहिए। पर विषय-वासना को जीतने का रामबाण उपाय तो रामनाम या ऐसा ही कोई मंत्र है। (२५ ४ २४)

२—ब्रह्मचर्य का यह अर्थ नहीं है कि मैं स्त्री-मात्र का, अपनी बहन का भी स्पर्श न करूं। ब्रह्मचारी होने का यह अर्थ है कि जैसे कागज को छूने से मेरे मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता वैसे ही स्त्री का स्पर्श करने से भी नहीं होना चाहिए। मेरी बहन बीमार हो और ब्रह्मचर्य के कारण मुझे उसकी सेवा करने में हिचकना पड़े तो वह ब्रह्मचर्य कौड़ी काम का नहीं। मुर्दे को छूकर हम जिस अविकार दशा का अनुभव कर सकते हैं उसी अविकार दशा का अनुभव जब किसी परम सुन्दरी युवती को छूकर भी कर सकें तभी हम सच्चे ब्रह्मचारी हैं[1]।(२९-५-'२५)

३—विवाहित जीवन में ब्रह्मचर्य पालन के उपाय बताते हुए महात्मा गांधी ने लिखा है

(१) विवाहित पुरुष को अपनी स्त्री के साथ एकान्त में मिलना जुलना बन्द करना होगा। थोड़ा विचार करने से हर आदमी देख सकता है कि संभोग के सिवा और किसी काम के लिए अपनी स्त्री से एकान्त में मिलने की जरूरत नहीं होती।

(२) रात में पति-पत्नी को अलग अलग कमरों में सोना चाहिए।

(३) दिन में दोनों को अच्छे कामों और अच्छे विचारों में लगे रहना चाहिए।

(४) जिनसे अपने सद्विचार को उत्तेजना मिले ऐसी पुस्तकें पढ़ें। ऐसे स्त्री पुरुषों के चरित्रों का मनन करें। और विषय भोग में दुःख है यह बात स्मरण रखें[2]।

जो [illegible] जीवन की तमाम शक्ति खर्च कर देने से [illegible] गुणों का [illegible] होगा ही होगा। और इस [illegible] गुण [illegible]। [illegible] पर उसका [illegible]। उसका भोजन उसका काम धन्धा उसके काम करने का समय उसके मनबहलाव के साधन उसका साहित्य जीवन के प्रति उसकी दृष्टि सभी साधारण जन समाज से भिन्न होंगे। ([illegible] २६)

१—अनीति की राह पर [illegible]

—वही [illegible]

३ वही [illegible]

४—वही [illegible]

४—आज मेरे ५६ साल पूरे हो चुके हैं फिर भी उसकी कठिनता का अनुभव तो होता ही है। यह असि-धारा व्रत है—इस बात को दिन-दिन अधिकाधिक समझ रहा हूं। निरन्तर जाग्रत रहने की आवश्यकता देख रहा हूं।

ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रिय— जीभ को वश में करना ही होगा। हमारी खुराक थोड़ी सादी और बिना मिर्च मसाले की होनी चाहिए। ब्रह्मचर्य का आहार वनपक्व फल है। दुग्धाहार से यह कष्ट-साध्य हो जाता है।

बाह्य उपचारों में जैसे आहार के प्रकार और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है वैसे ही उपवास का भी समझना चाहिए। इन्द्रियां इतनी बलवान हैं कि उन पर चारों ओर से ऊपर और नीचे से दसों दिशाओं से घेरा डाला जाय तभी काबू में रहती हैं। आहार के बिना वे काम नहीं कर सकतीं। उपवास से इन्द्रियों को काबू में लाने में मदद मिलती है। उपवास का सच्चा उपयोग वहीं है जहां मन भी देह-दमन में साथ देता है। मन में विषय भोग के प्रति विरक्ति हो जानी चाहिए। विषय-वासना की जड़ें तो मन में ही होती हैं। उपवास के बिना विषयासक्ति का जड़ मूल से जाना संभव नहीं। अतः उपवास ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य अङ्ग है।

संयमी और स्वच्छंद त्यागी और भोगी के जीवन में भेद होना ही चाहिए। दोनों का भेद स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। आंख का उपयोग दोनों करते हैं। पर ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है। भोगी नाटक सिनेमा में लीन रहता है। कान से दोनों काम लेते हैं। पर एक भगवद् भजन सुनता है दूसरे को विलासी गाने सुनने में आनन्द आता है। जागरण दोनों करते हैं। पर एक जाग्रत अवस्था में हृदय-मन्दिर में विराजनेवाले राम को भजता है, दूसरे को नाच रंग की धुन में सोने का खयाल ही नहीं रहता। खाते दोनों हैं। पर एक शरीररूपी तीर्थ क्षेत्र की रक्षाभर देह को भोजनरूपी भाड़ा देता है दूसरा जबान के मज़े की खातिर देह में बहुत सी चीजों को ठूसकर उसे दुर्गन्धमय बना देता है। यों दोनों के आचार-विचार में भेद रहा ही करता है और यह अंतर दिन दिन बढ़ता जाता है घटता नहीं।

ब्रह्मचर्य के मानी हैं, मन-वचन-काय से सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम। इस संयम के लिए ऊपर बताये हुए त्यागों की आवश्यकता है यह मुझ आज भी दिखाई दे रहा है।

प्रयत्नशील ब्रह्मचारी तो अपनी कमियों को हर वक्त देखता रहेगा। अपने मन के कोने में छिपे हुए विकारों को पहचान लेगा और उन्हें निकाल बाहर करने की कोशिश सदा करता रहेगा।

जब तक विचारों पर यह काबू न मिल जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार मन में न आये, तब तक ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण नहीं। उन्हें वश में करने का मानी है मन को वश में करना।

जो लोग ईश्वर साक्षात्कार के उद्देश्य से जिस ब्रह्मचर्य की व्याख्या मैंने ऊपर की है, वैसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, वे अपने प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले होंगे तो उनके निराश होने का कोई कारण नहीं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते[1] ॥

अतः रामनाम और रामकृपा यही आत्मार्थी का अन्तिम साधन है इस सत्य का साक्षात्कार मैंने हिन्दुस्तान आने पर किया। आत्म कथा खं १ अ ८

५—विषय-मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्संदेह, जो अन्य इन्द्रियों को जहां-तहां भटकने देकर एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कान से विकारी बातें सुनना आंख से विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना जीभ से विकारोत्पादक वस्तु का स्वाद लेना हाथ से विकारों को उभारनेवाली चीज को छूना और फिर भी जननेंद्रिय को रोकने का इरादा रखना तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है। इसलिए जननेंद्रिय को रोकने का निश्चय करनेवाले के लिए इंद्रिय-मात्र का उनके विकारों से रोकने का निश्चय होना ही चाहिए। (५ ८ १)

६—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अपनी या परायी स्त्री के लिए विकारवश होने में उन्हें विकारी बनकर छूने में ब्रह्मचर्य का भंग नहीं

१—निराहार रहनेवाले के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं पर रस बना रहता है। ईश्वर के दर्शन से रस भी चला जाता है। गीता २ ५९
२—ब्रह्मचर्य (पहला भाग)। पृ ७

१३—ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक मानी जानेवाली बाड़ को मैंने हमेशा के लिए आवश्यक नहीं माना है। जिसे किसी बाह्य रक्षा की जरूरत है, वह पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं। इसके विपरीत जो बाड़ को तोड़ने के योग से प्रलोभनों की खोज में रहता है, वह ब्रह्मचारी नहीं किन्तु मिथ्याचारी है।

ऐसे निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन कैसे हो? मेरे पास इसका कोई अचूक उपाय नहीं क्योंकि मैं पूर्ण दशा को नहीं पहुँचा हूँ। पर मैंने अपने लिए जिस वस्तु को आवश्यक माना है, वह यह है

विचारों को खाली न रहने देने की खातिर निरन्तर उन्हें शुभ चिन्तन में लगाये रहना चाहिए।

रामनाम का इकतारा तो चौबीसों घंटे सोते हुए भी, श्वास की तरह स्वाभाविक रीति से चलता रहना चाहिए।

वाचन हो तो शुभ और विचार किया जाय तो अपने पारमार्थिक कार्य का।

विवाहितों को एक-दूसरे के साथ एकान्त-सेवन नहीं करना चाहिए।

एक कोठरी में एक चारपाई पर नहीं सोना चाहिए।

यदि एक दूसरे को देखने से विकार पैदा होता हो तो, अलग-अलग रहना चाहिए।

यदि साथ-साथ बातें करने में विकार पैदा होता हो तो बातें नहीं करनी चाहिए।

जो मनुष्य कान से बीभत्स या अश्लील बातें सुनने में रस लेते हैं आँख से स्त्री की तरफ देखने में रस लेते हैं, वे ब्रह्मचर्य का भंग करते हैं।

अनेक [1]ब्रह्मचर्य-पालन में हताश हो जाते हैं, इसका कारण यह है कि वे श्रवण दर्शन वाचन भाषण आदि की मर्यादा नहीं जानते। [2]जो पुरुष स्त्री के चाहे जिस अङ्ग का सविकार स्पर्श करता है, उसने ब्रह्मचर्य का भङ्ग किया है यह समझना चाहिए।

जो ऊपरी मर्यादा का ठीक-ठीक पालन करता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य सुलभ हो जाता है।

आलसी मनुष्य कभी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। वीर्य-संग्रह करनेवाले में एक अमोघ-शक्ति पैदा होती है। उसे अपने शरीर और मन को निरंतर कार्यरत रखना ही चाहिए।

हर एक साधक को ऐसा सेवा-कार्य खोज लेना चाहिए कि जिससे उसे विषय-सेवन करने के लिए रंचमात्र भी समय न मिले।

साधक को अपने आहार पर पूरा काबू रखना चाहिए। वह जो कुछ खाये वह केवल औषधिरूप में शरीर रक्षा के लिए, स्वाद के लिए कदापि नहीं। इसलिए मादक पदार्थ मसाले वगैरह उसे खाना ही नहीं चाहिए। ब्रह्मचारी मिताहारी नहीं किन्तु अल्पाहारी होना चाहिए।

सब अपनी मर्यादा को बांध लें।

उपवासादि के लिए ब्रह्मचर्य-पालन में अवश्य स्थान है।

'क्षणिक रस के लिए मैं क्यों तेजहीन होऊँ? जिस वीर्य में प्रजोत्पत्ति की शक्ति भरी हुई है, उसका पतन क्यों होने दूँ?' इस विचार का मनन यदि साधक नित्य करे, और रोज ईश्वर-कृपा की याचना करे तो संभवतः वह इस जन्म में ही वीर्य पर काबू प्राप्त कर ब्रह्मचारी बन सकता है। (८ १० ३८)

१४—पर मेरा ब्रह्मचर्य उसका पालन करने के लिए बने हुए कट्टर नियमों के बारे में कुछ नहीं जानता। मैंने तो जब जैसी जरूरत देखी उसके अनुसार नियम बना लिये। लेकिन मेरा यह विश्वास कभी नहीं रहा कि ब्रह्मचर्य का उपयुक्त रूप में पालन करने के लिए स्त्रियों के किसी भी तरह के संसर्ग से बिल्कुल बचना चाहिए। जो संयम अपने विपरीत वर्ग के सब संसर्गों से फिर वह कितना ही निर्दोष क्यों न हो बचने के लिए कहे, वह बलात् संयम है, जिसका कोई महत्त्व नहीं। इसलिए सेवा या काम-काज के लिए स्वाभाविक संसर्गों पर कभी कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा। (४ ११ ३८)

१—ब्रह्मचर्य (दू भा) पृ ७१

—वही पृ ६११

१५—एक भाई ने गांधीजी से प्रश्न किया : "मैं जानना चाहता हूं कि क्या आप पुरुष और स्त्री सत्याग्रहियों का स्वच्छन्दतापूर्वक मिलना जुलना और उनका एक साथ काम करना पसन्द करेंगे अथवा अलग इकाइयों के रूप में उनका संगठन करना ।"

गांधीजी ने उत्तर दिया : "मैं तो अलग इकाइयां रखना ही पसन्द करूंगा । औरतों के पास औरतों के बीच करने के लिए काफी से ज्यादा काम है । सिद्धान्त की दृष्टि से भी मैं स्त्री-पुरुष दोनों के अलग-अलग अपना काम करने में विश्वास रखता हूं । लेकिन इसके लिए कोई कठोर नियम नहीं बना सकता । दोनों के बीच के सम्बन्ध पर विवेक का नियंत्रण होना चाहिए । दोनों के बीच कोई अंतराय न होना चाहिए । उनका परस्पर का व्यवहार प्राकृतिक और स्वेच्छापूर्ण होना चाहिए[1] । (१ ९ '४)

१६— जो ब्रह्मचर्य-पालन के सामान्य नियमों की अवगणना करके वीर्य-संग्रह की आशा रखते हैं उन्हें निराश होना पड़ता है, और कुछ तो दीवाने जैसे बन जाते हैं । दूसरे निस्तेज देखने में आते हैं । वे वीर्य-संग्रह नहीं कर सकते और केवल स्त्री-संग न करने में सफल हो जाने पर अपने आपको कृतार्थ समझते हैं । (११ १ ४०)

१७—ब्रह्मचर्य स्त्रियों के साथ पवित्र सम्बन्ध रखने से या उनके आवश्यक स्पर्श से अपूर्ण नहीं हो जायगा । ब्रह्मचारी के लिए स्त्री और पुरुष का भेद नहीं-सा हो जाता है । इस वाक्य का कोई अनर्थ न करे । इसका उपयोग स्वेच्छाचार का पोषण करने के लिए कभी नहीं होना चाहिये[3] । (१ ११ ४२)

१८—अगर मन कमजोर है तो बाहर की सब सहायता बेकार है और मन पवित्र है तो सब अनावश्यक है । इसका यह मतलब कदापि नहीं समझना चाहिए कि एक पवित्र मनवाला आदमी सब तरह की छूट लेते हुए भी बेदाग बचा रह सकता है । ऐसा आदमी खुद ही अपने साथ कोई छूट न लेगा । उसका सारा जीवन उसकी अन्दरूनी पवित्रता का सच्चा सबूत होगा[4] । (२ ५ '४६)

१९—"मैं पुरानी धारणा से कहां कि हम उसे जानते हैं, आगे जाता हूं । मेरी परिभाषा ढिलाई को स्थान नहीं देती । मैं उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहता—जिसका अर्थ है स्त्री का स्पर्श न करना । मैं जो आज करता हूं वह मेरे लिए नया नहीं है । जहां तक मैं अपने को जानता हूं मैं आज वही विचार रखता हूं जो कि मैं ४५ वर्ष पूर्व जब कि मैंने व्रत ग्रहण किया था रखता था । व्रत लेने के पहले जब मैं इंग्लैण्ड में विद्यार्थी था तब भी मैं स्वतंत्रता पूर्वक स्त्रियों से मिलता जुलता था और फिर भी वहां रहते समय मैं अपने को ब्रह्मचारी कहता था । मेरे लिए, ब्रह्मचर्य वह विचार और चर्या है, जो कि ब्रह्म के साथ सम्पर्क कराता है और उस तक ले जाता है । दयानन्द इस अर्थ में ब्रह्मचारी नहीं थे । निश्चय ही मैं भी नहीं हूं परन्तु मैं उस दशा को पहुंचने की चेष्टा कर रहा हूं और मेरे विचार से मैंने काफी प्रगति की है ।

मैं उस अर्थ में आधुनिक नहीं हूं जिस अर्थ में आप समझते हैं । मैं उतना ही पुराना हूं जितनी कल्पना की जा सकती है । और अपने जीवन के अन्त तक वैसा ही रहने की आशा करता हूं[5] । (१७-१ '४७)

२०—जिस ब्रह्मचर्य की चर्चा की है, उसके लिए क्या रक्षा होनी चाहिए ? जवाब तो सीधा है । जिसे रक्षा की जरूरत हो वह ब्रह्मचर्य ही नहीं । मगर यह कहना आसान है । उसे समझना और उस पर अमल करना बहुत मुश्किल है । यह बात पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए ही सच्ची है । जो ब्रह्मचारी बनने की कोशिश कर रहा है उसके लिए तो अनेक बंधनों की जरूरत है । आम के छोटे पेड़ को सुरक्षित रखने के लिए उसके चारों तरफ बाड़ लगानी पड़ती है । छोटा बच्चा पहले मां की गोद में सोता है फिर पालने में और फिर चालन-गाड़ी लेकर चलाता है । जब बड़ा होकर खुद चलने फिरने लगता है तब सहारा छोड़ देता है । न छोड़े तो उसे नुकसान होता है । ब्रह्मचर्य पर भी यही चीज लागू होती है ।

ब्रह्मचर्य की मर्यादा या बाड़ एकादश व्रतों का पालन है । मगर एकादश व्रतों को कोई बाड़ न माने । बाड़ तो किसी खास हालत

१—ब्रह्मचर्य (दू भा) पृ ४

—आरोग्य की कुंजी पृ ३

३—वही पृ ११ १०

४—ब्रह्मचर्य (दू भा)पृ ४५ ४६

५—My days with Gandhi pp 176-77

के लिए ही होती है। हालत बदली और बाढ़ भी गई। मगर एकादश व्रत[1] का पालन तो ब्रह्मचर्य का जरूरी हिस्सा है। उसके बिना ब्रह्मचर्य पालन नहीं हो सकता।

आखिर में ब्रह्मचर्य मन की स्थिति है। बाहरी आचार या व्यवहार उसकी पहचान उसकी निशानी है। जिस पुरुष के मन में जरा भी विषय-वासना नहीं रही वह कभी विकार के वश नहीं होगा। वह किसी औरत को चाहे जिस हालत में देखे चाहे जिस रूप-रंग में देखे तो भी उसके मन में विकार पैदा नहीं होगा। यही स्त्री के बारे में भी समझना चाहिए। मगर जिसके मन में विकार उठा ही करते हैं, उसे तो सगी बहन या बेटी को भी नहीं देखना चाहिए। मैंने अपने कुछ मित्रों को यह नियम पालन करने की सलाह दी थी। इसका पालन किया उन्हें फायदा हुआ है। अपने बारे में मेरा तजरबा है कि जिन चीजों को देखकर दक्षिणी अफ्रीका में मेरे मन में कभी विकार पैदा नहीं हुआ था उन्हीं से दक्षिणी अफ्रीका से वापस आने पर मेरे मन में विकार पैदा हुआ। और, उसे शांत करने में मुझ काफी मेहनत करनी पड़ी।

ब्रह्मचर्य की जो मर्यादा हम लोगों में मानी जाती है, उसके मुताबिक ब्रह्मचारी को स्त्रियों पशुओं और नपुंसकों के बीच नहीं रहना चाहिए। ब्रह्मचारी अकेली स्त्री या स्त्रियों की टोली को उपदेश न करे। स्त्रियों के साथ, एक आसन पर न बैठे। स्त्रियों के शरीर का कोई हिस्सा न देखे। दूध दही घी वगैरह चिकनी चीजें न खावे। स्नान-लेपन न करे। यह सब मैंने दक्षिणी अफ्रीका में पढ़ा था। वहीं जननेन्द्रिय का संयम करनेवाले पश्चिम के स्त्री-पुरुषों के बीच में मैं रहता था। मैं उन्हें इन सब मर्यादाओं को तोड़ते देखता था। खुद भी उनका पालन नहीं करता था। यहाँ आकर भी न कर सका।

मुझे लगता है कि जो ब्रह्मचारी बनने की सच्ची कोशिश कर रहा है, उसे भी ऊपर बताई हुई मर्यादाओं की जरूरत नहीं है। ब्रह्मचर्य जबरदस्ती से यानी मन से विरुद्ध जा कर पालने की चीज नहीं। वह जबरदस्ती से नहीं पाला जा सकता। यहाँ तो मन को वश में करने की बात है। जो जरूरत पड़ने पर भी स्त्री को छूने से भागता है, वह ब्रह्मचारी बनने की कोशिश नहीं करता।

इस लेख का मतलब यह नहीं कि लोग मनमानी करें। इसमें तो सच्चा संयम पालने की बात बताई गई है। दम या ढोंग के लिए यहाँ कोई जगह हो ही नहीं सकती।

जो छुपे तौर से विषय-सेवन के लिए इस लेख का इस्तेमाल करेगा वह दंभी और पापी गिना जायगा।

ब्रह्मचारी को नकली बातों से भागना चाहिए। उसे अपने लिए मर्यादा बना लेनी चाहिए। जब उसकी जरूरत न रहे, तब तो उसे तोड़ना चाहिए। (८-१-'४७)

२१—ब्रह्मचर्य क्या है, यह बताते हुए मैंने लिखा था कि ब्रह्म यानी ईश्वर तक पहुँचने का जो आचार होना चाहिए, वह ब्रह्मचर्य है। ईश्वर मनुष्य नहीं है। इसलिए वह किसी मनुष्य में उतरता है या अवतार लेता है, ऐसा कहें तो यह निरा सत्य नहीं है। सच बात तो यह है कि ईश्वर एक शक्ति है तत्त्व है शुद्ध चैतन्य है, सब जगह मौजूद है। मगर हैरानी की बात यह है कि ऐसा होते हुए भी सब को उसका सहारा या फायदा नहीं मिलता या यों कहें कि सब उसका सहारा पा नहीं सकते।

बिजली एक बड़ी शक्ति है। मगर सब उससे फायदा नहीं उठा सकते। उसे पैदा करने का अटल कानून है। उसके अनुसार काम किया जाय तभी बिजली पैदा की जा सकती है। बिजली जड़ है बेजान चीज है, उसके इस्तेमाल का फायदा चेतन मनुष्य मेहनत करके जान सकता है। जिस चैतन्यमय बड़ी भारी शक्ति को हम ईश्वर कहते हैं, उसके प्रयोग का भी नियम तो है ही। "उस नियम का नाम है ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य को पालने का सीधा रास्ता रामनाम है। यह मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ।

इस तरह विचार करते हुए मैं कह सकता हूँ कि ब्रह्मचर्य की रक्षा के जो नियम माने जाते हैं, वे तो खेल ही हैं। सच्ची और अमर रक्षा तो रामनाम ही है"[2]। (१४-६-'४७)

२२—विलायत में अच्छी तरह शिक्षाप्राप्त एक हिन्दुस्तानी भाई ने अपनी एक उलझन गांधीजी के सामने इस प्रकार रखी:
एक तरफ से लगता है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को ज्यादा कुदरती बनाने से बुराई और पापाचार कम होगा। दूसरी तरफ से लगता है कि

१—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन।
सर्वधर्मी-समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना ही एकादश सेवावी नम्रत्व व्रतनिश्चये॥

२—ब्रह्मचर्य (दू भा) पृ ४१-४६

३—वही पृ ४७-४८

एक-दूसरे को छूने से बुराई पैदा हुए बिना रह नहीं सकती। मुझे लगता है कि स्पर्श-सुख की वजह से आदमी बदमाश हो तो एक महीने या एक हफ्ते में और मजा हो तो धीरे-धीरे १ बरस में भी पाप की तरफ झुके बिना नहीं रह सकता। यह भी खयाल आता है कि स्पर्श-मात्र-छोड़ देने से क्या काम चल सकेगा ?"

महात्मा गांधी ने उत्तर दिया "बहुतेरे नौजवान लड़के-लड़कियों की यही हालत होती है। उनके लिए सीधा रास्ता यही है उन्हें स्पर्शमात्र का त्याग करना ही चाहिए। किताबों में लिखी हुई मर्यादाएँ उस समय में होनेवाले अनुभव से बनाई गई हैं। लेखकों के लिए वे जरूरी भी थीं। साधक को अपने लिए उनमें से कुछ मर्यादाएँ या दूसरी कुछ नई मर्यादाएँ बना लेनी होंगी। अन्तिम मंजिल को बीच में रखकर उसके आसपास एक दायरा खींचें तो मंजिल तक पहुँचने के कई रास्ते दिखाई देंगे। उनमें से जिसे जो आसान हो उसपर चले और मंजिल पर पहुँचे। जिस साधक को अपने-आप पर भरोसा नहीं वह अगर दूसरों की नकल करने लगे तो जरूर ठोकर खायगा।

जिसका राम दिल में बसता है, ऐसे साधक के लिए सारी स्त्रियां बहन या मां हैं। उसे कभी यह खयाल भी नहीं आता कि स्पर्श-मात्र बुरा है। उसमें से दोष पैदा होने का डर नहीं रहता। वह सारी स्त्रियों में उसी भगवान को देखता है, जिसे व अपने में पाता है।

"ऐसे लोग हमने नहीं देखे, इसलिए यह मानना कि वे हो ही नहीं सकते घमंड की निशानी है। इसमें ब्रह्मचर्य की महिमा घटती है। " (२९-९ ४७)

२१— सबको अपनी कमजोरी पहचाननी चाहिए। जान-बूझकर उसे जो छिपाता है और बलवान की नकल करने जाता है, वह ठोकर खायेगा ही। इसलिए मैंने तो कहा है कि हरेक को अपनी मर्यादा खुद बांधनी चाहिए।

मुझे नहीं लगता कि किशोरलाल भाई जिस चटाई पर स्त्री बैठी हो उस पर बैठने से इनकार करेंगे। ऐसा हो तो मुझ ताज्जुब होगा। मैं तो ऐसी मर्यादा को समझ नहीं सकता। मैंने उनके मुँह से ऐसा कभी नहीं सुना। स्त्री की निर्दोष संगति की तुलना सांप के बिल से करना मैं तो अज्ञान ही मानता हूं। इसमें स्त्री-जाति का और पुरुष का अपमान है। क्या जवान लड़का अपनी मां के पास नहीं बैठेगा ? बहन के पास नहीं बैठेगा ? रेल में उसके साथ एक पटरी पर नहीं बैठेगा। ऐसे संग से भी जिसका मन चंचल होता हो उसकी हालत कितनी दयाजनक मानी जायगी !

यह मैं मानता हूँ कि लोक-संग्रह के लिए बहुत कुछ छोड़ना चाहिए। मगर इसमें भी समझ से काम लेना होगा। यूरोप में नंगों का एक संघ है। उन्होंने मुझे इसमें खींचने की कोशिश की। मैंने साफ इनकार कर दिया।

नंगों की मिसाल की न लोक-संग्रह की आवश्यकता में गिनूंगा। मगर लोक-संग्रह की दलील देकर मुझ पर दबाव डाला गया कि मैं छुआछूत मिटाने की बात छोड़ दूं। लोक-संग्रह की दृष्टि से तो बरस की लड़की की शादी करने का रिवाज चालू रखने की बात कही गई है। लोक-संग्रह की खातिर दरिया पार जाने से रोका जाता था। ऐसी और भी कई मिसालें दी जा सकती हैं। मगर कर के कुए में हम तैरें, डूब न मरें।

बन्धन ऐसे तो नहीं होने चाहिए कि जिससे स्त्री-पुरुष का भेद हम भूल ही न सकें। हमें याद रखना चाहिए कि हमारे अनेक कामों में इस फर्क के लिए कोई जगह नहीं है। दरअसल इस भेद को याद करने का मौका एक ही होता है, वह तब जब काम सवार करता है। जिन स्त्री पुरुषों पर सारे दिन ही काम सवार रहता है, उनके मन सड़े हुए हैं। मैं मानता हू ऐसे लोग लोक-कल्याण नहीं कर सकते। इन्सान की हालत आमतौर पर ऐसी नहीं होती। करोड़ों देहाती अगर सारे दिन इसी चीज का खयाल किया करें तो वे किसी भी शुभ काम के लायक नहीं रह सकते। (१३-८- ४७)

महात्मा गांधी के बीच प्रयोगों का विस्तृत वर्णन ऊपर आया है। इन प्रयोगों में स्त्रियों के साथ एक-स्थान में वास एकशय्या-शयन एकान्त वास और स्त्री-स्पर्श होते रहे। सर्दी की मौसम में महात्मा गांधी को कभी-कभी कंपन होने लगता। वह बड़े जोरों से होता और कुछ समय तक रहता। उस समय जो नजदीक में होते वे महात्मा गांधी के शरीर को अपने शरीर से सटा कर रखते जिससे कि उनके कांपते हुए

१—हरिजन (हि० सा०) १९-१०-४७
२—वही १४-११

शरीर को गर्मी पहुंच सके। ऐसे अवसरों पर बहनें भी होती[1]। प्रश्न हो सकता है—ऐसी स्थितियों में महात्मा गांधी को ब्रह्मचारी कहा जा सकता है या नहीं? ऐसा प्रश्न उठा। इस प्रश्न का उत्तर कभी एकांतदृष्टि से नहीं दे सकता। महात्मा गांधी ने इन सारे प्रयोगों के अवसर पर अपनी मानसिक स्थिति को सम्पूर्णत: निर्विकार बतलाया है। उन्होंने कहा है— 'पिता अपनी पुत्री का निर्दोष स्पर्श सब के सामने करे, उसमें दोष नहीं देखता। मेरा स्पर्श उस प्रकार का है[2]। "इस व्यवहार के बीच अथवा उसके कारण कभी कोई अपवित्र विचार मेरे मन में नहीं आया। 'मेरा आचरण कभी छिपा नहीं रहा है। 'मेरा आचरण पिता के समान रहा है[3]।" 'मेरे लिए तो इतनी सारी स्त्रियां बहिनें और बच्चियां ही थीं[4]। अगर महात्मा गांधी की मानसिक वाचिक और कायिक स्थिति ऐसी ही थी तो कोई भी उन्हें अब्रह्मचारी कहने का साहस नहीं कर सकेगा। पर उनके मन में जरा भी मोह रहा होगा अगर ये प्रवृत्तियां मोह-वश ही होती रही होंगी तो महात्मा गांधी अपनी तुला में ही पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं ठहरेंगे। उन्होंने स्वयं ही कहा था—"जिस बात की जांच करना आवश्यक है, वह है मेरी मानसिक वृत्ति—वह ठीक है अथवा उसमें काम-वासना का अवशेष है[5]। अगर उसमें 'अज्ञातभाव से भी काम-वासना' का अवशेष रहा तो उन्हें ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकेगा।

स्थूलिभद्र ने कोशा गणिका के यहाँ चातुर्मास किया। स्पर्श और एक-शय्या-शयन से दूर रहे पर वहाँ तक अन्य बातों का प्रश्न था उनकी स्थिति वहाँ नहीं ही कही जा सकती है। रागवती वेश्या के घर में वास था। एकांत था। वेश्या अनुगत थी। षट्रसयुक्त भोजन था। सुन्दर महल था। वेश्या का सुन्दर रूप-दर्शन था। युवावस्था थी। वर्षाऋतु थी। मधुर संगीत था। नाना प्रकार का अनुपम विभव था। ये सब होने पर भी स्थूलिभद्र दुष्कर, दुष्कर-दुष्कर महा दुष्कर करनेवाले कहे गये हैं। महात्मा गांधी ने स्पर्श और एक-शय्या-शयन का प्रयोग किया। उन्होंने स्थूलिभद्र से भी आगे का कदम उठाया। यदि कसौटी ठीक है, यदि स्थूलभद्र कई बातों की अनवस्थिति में भी आत्मबल मनजय के कारण आदर्श ब्रह्मचारी हो सके तो वसी ही स्थिति में महात्मा गांधी ब्रह्मचारी नहीं हो सकते ऐसा कोई भी जनी नहीं कह सकता।

इस दिशा में सुदर्शन का प्रसंग भी एक प्रकाश देता है। सुदर्शन चम्पा नगरी के बारह व्रत धारी श्रावक थे। इस नगरी के अधिपति धात्रीवाहन राजा का मंत्री कपिल सुदर्शन का मित्र था। उसकी पत्नी का नाम कपिला था। एक बार प्रसंग वश सुदर्शन अपने मित्र कपिल के घर ठहरे। कपिला उसके सौंदर्य को देखकर मुग्ध हो गयी। एक दिन कपिल घर पर नहीं थे। कपिला ने दासी के द्वारा सुदर्शन को कहलाया— "कपिल बीमार है और आप की याद कर रहे हैं।" मित्र के स्नेहवश सुदर्शन कपिल के घर पहुंचा। दासी उसे महल में ले गई। कपिला ने द्वार बन्द कर दिया और सुदर्शन से भोग की याचना करने लगी। सुदर्शन निर्विकार रहे। कपिला काम-विह्वल हो उनके शरीर से लिपट गई। फिर भी सुदर्शन निर्विकार रहा। कपिला बोली: "क्या आप में पुरुषत्व नहीं?" सुदर्शन बोले "हाँ मैं नपुंसक हूं।"

मनोरमा के अतिरिक्त सब स्त्रियां सुदर्शन के लिए माँ-बहिन के समान थीं। वह वास्तव में उन सब के प्रति नपुंसक-से थे। कपिला उनसे दूर हुई। सुदर्शन घर लौटे।

एक बार राजा ने नगरी में वसन्त-महोत्सव रचा। सब का जाना अनिवार्य था। सुदर्शन की पत्नी मनोरमा भी अपने पुत्रों सहित उत्सव में उपस्थित हुई। महारानी अभया ने मनोरमा के देवकुमार सदृश पुत्रों को देखकर दासी से पूछा—"ये पुत्र किस के हैं?" दासी ने कहा— "यह नगर के सुदर्शन सेठ के पुत्र हैं। मनोरमा इनकी माँ है'। अभया सुदर्शन के प्रति मोहित हो गई।

एक बार सुदर्शन चतुर्दशी के दिन पौषध कर रात्रि में श्मसान में ध्यानस्थ थे। रानी के कहने से दास सुदर्शन को उसी अवस्था में उठा कर महल में ले आई। अभया सुदर्शन को आकर्षित करने लगी पर वह तो मिट्टी के से पुतले बने रहे। वे अभया के समीप भी उसी तरह समाधिस्थ रहे जैसे श्मसान में हों। अन्त में रानी कुपित हो चिल्लाने लगी— "बचाओ! बचाओ!! सुदर्शन मुझ पर अत्याचार कर

१—My days with Gandhi p 204

२—पृ० ७३

३—पृ० ७४

४—पृ० ७५

५—Mahatma Gandhi—The Last Phase p 591

रहा है।" द्वारपालों ने सुदर्शन को कैद कर लिया। धात्रीवाहन राजा ने सुदर्शन को शूली पर चढ़ाने का आदेश दिया। सुदर्शन शांत रहे। नमुक्कारमंत्र का ध्यान करने लगे। शूली सिंहासन के रूप में परिणत हुई।

इसके बाद सुदर्शन धर्मघोष स्थविर के उपदेश से गृह-त्याग कर मुनि हुए। अब एक हरदत्ती नामक वेश्या मुनि सुदर्शन के रूप पर मोहित हो गयी। उसने श्राविका का रूप बनाया। मुनि सुदर्शन आहार के लिए उसके घर आये। वेश्या ने गृह-द्वार बन्द कर लिया और मुनि को अपने वश में करने का प्रयत्न करने लगी। मुनि उस सुन्दरी वेश्या के सम्मुख भी निर्विकार रहे। वेश्या ने आखिर उन्हें छोड़ दिया। मुनि सुदर्शन ने अपनी साधना से मोक्ष प्राप्त किया[1]।

महात्मा गांधी ने जितने गुण ब्रह्मचारी के बतलाये हैं, वे सारे के सारे सुदर्शन में देखे जाते हैं। उनमें नपुंसकत्व की सिद्धि थी। वे ऐसी स्थिति में आ गये जब स्पर्शादि की बाड़ें स्वयं नहीं रहीं फिर भी अपनी मानसिक, वाचिक और शारीरिक स्थिति के कारण वे ब्रह्मचारी के आदर्श उदाहरण समझे जाते हैं।

स्थूलिभद्र और सुदर्शन की स्तुति में कवियों की लेखनी झंकृत हो उठी

> न दुक्करं अंबयलुंबतोडणं न दुक्करं सिरसव नच्चियाए।
> तं दुक्करं तं च महाणुभावं जं सो मुणी पमयवणंमि वुच्छो॥
> गिरौ गुहायां विजने वनान्तरे, वासं श्रयंतो वशिनः सहस्रशः।
> हर्म्यतिरम्ये युवतीजनान्तिके वशी स एकः शकडालनन्दनः॥
> श्रीनंदिषेणरथनेमिमुनीश्वराद्यैः बुद्ध्वा त्वया मदन रे मुनिरेष दृष्टः।
> बालं न वेमि शकडालसुतं मुनीनाम्, दर्पो भविष्यति विहस्य रथोपगमे मार॥
> श्रीनेमितोऽपि शकडालसुतं विचार्य मन्यामहे वयममुं मदनैकवीरं।
> देवोऽद्रिदुर्गमधिरुह्य जिगाय मोहं यन्मोहमन्दिरगतस्तु वशी प्रवीर॥

महात्मा गांधी ने स्वयं अपने लिए ऐसी स्थिति उत्पन्न की जिसमें बाड़ें नहीं रहीं। अगर उनकी स्थिति बहिनों के सम्पर्क में भी विशुद्ध रही तो स्थूलिभद्र और सुदर्शन की तरह वे भी ब्रह्मचारी क्यों न कहे जा सकेंगे? यह एक प्रश्न है जिस पर ज्ञानियों को गंभीर विचार करना है।

मुनि स्थूलिभद्र ने आचार्य संभूतिविजय से वेश्या के यहाँ चातुर्मास करने की आज्ञा ली। स्थूलिभद्र का यह प्रयोग इस बात का प्रमाण बन गया कि ब्रह्मचर्य की साधना में एक मुनि कितना आगे बढ़ा हुआ हो सकता है। महात्मा गांधी के स्वप्रयोग भी इसी दृष्टि से थे। वह इस बात की खोज में थे कि 'संयम धर्म कहाँ तक जा सकता है[2]।

जैसे स्थूलिभद्र का प्रयोग उनके गुरुभाई सिंहगुफावासी मुनि के लिए एक धर्म के रूप में नहीं हुआ था और उनके अनुकूल नहीं पड़ा वैसे ही महात्मा गांधी ने भी कहा था 'निर्दोष स्पर्श की छूट लेना कोई स्वतंत्र धर्म नहीं[3]।

मुनि स्थूलिभद्र और महात्मा गांधी के दृष्टान्त केवल इसी दृष्टि से अनुकरणीय हैं कि मनुष्य को अपने ब्रह्मचर्य की आराधना में कितना दृढ़ होना चाहिए और कितनी ऊँचाई तक पहुँचा हुआ होना चाहिए। वे इस बात का आदर्श नहीं रखते कि सब को ऐसा करना चाहिए। महात्मा गांधी अपने प्रयोगों में रहे हुए खतरों से अच्छी तरह अवगत थे। उनके निम्न शब्द हर समय साधक के कानों में गूंजते रहने चाहिए "स्त्री-पुरुष के बीच परस्पर सम्बन्ध की मर्यादा होनी ही चाहिए। छूट में जोखम है इसका मैं रोज प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ। जो कोई विकार के वश होकर निर्दोष से निर्दोष लगनेवाली भी छूट लेता है, वह खुद खाई में गिरता है और दूसरों को भी गिराता है[4]।" 'मेरे उदाहरण का

१—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर खं० २ ढाल १९ पृ० ३३१ से ३३९
२—पृ० ७२
३—वही
४—पृ० ७३

कभी यह अर्थ नहीं कि उसका चाहे जो अनुसरण करने लग जाय[१]।

आचार्य तुलसी ने अनुभव-वाणी में कहा है "सभी स्त्रियों को माता की दृष्टि से देखें। माता पूज्य होती है। उसमें विकार की दृष्टि नहीं बनती।" मातृस्वसृसुतातुल्यं दृष्ट्वा स्त्रीत्रिकमसकम्—ब्रह्मचर्य-पालन में सबसे बड़ी चीज स्त्रीमात्र में माता बहिन और पुत्री-भाव का साक्षात्कार करना है। महात्मा गांधी के अनुसार उन्होंने इसी भावना को सम्पूर्णरूप से उत्पन्न कर लिया था। अत असाधारण प्रयोगों में भी वे सम्पूर्ण निर्विकार रह सके ऐसा उनका स्वयं का आत्मनिरीक्षण उन्हें कहता था।

गांधीजी के बाड़ विषयक विचार ऊपर में विस्तार से दिये गये हैं। उनमें— 'ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित नौ बाड़ों की जो कल्पित कल्पना है वह मेरे विचारों से अपर्याप्त और दोषपूर्ण है। मैंने अपने लिए कभी इसे स्वीकार नहीं किया। मेरे मत से इन बाड़ों की आड़ में रह कर सच्चे ब्रह्मचर्य का प्रयत्न भी संभव नहीं' (पृ ८८), 'मुझे लगता है कि जो ब्रह्मचारी बनने की सच्ची कोशिश कर रहा है उसे भी ऊपर बताई हुई मर्यादाओं की जरूरत नहीं" (पृ ९७) जैसे वाक्य मिलते हैं। ऐसे वाक्यों को एक बार दूर रखा जाय तो देखा जायगा कि प्रारंभ से अन्त तक महात्मा गांधी बाड़ों की आवश्यकता का ही प्रतिपादन कर सके हैं, उनके खण्डन का नहीं। उन्होंने समय-समय पर वैसे ही नियम बतलाये हैं जो जैन धर्म की बाड़ों में मिलते हैं।

सन् १९१२ में महात्मा गांधी ने कहा "ब्रह्मचारी की अपनी व्याख्या का अर्थ पूरी तरह स्पष्ट तो आज भी नहीं हुआ। जब मैं उस स्थिति में (निर्विकार स्थिति में) पहुँच जाऊँगा तब इसी व्याख्या को नयी आँखों से देखूँगा[२]।"

सन् १९४७ में उन्होंने लिखा "मैंने ब्रह्मचर्य-पालन का व्रत १९०६ में लिया था अर्थात् मेरा इस दिशा में चालीस वर्ष का प्रयत्न है। मेरे कितने ही प्रयोग समाज के सामने रखने की स्थिति को प्राप्त नहीं हुए। जहाँ तक मैं चाहता हूँ वहाँ तक वे सफल हो जायं तो मैं उन्हें समाज के आगे रखने की आशा रखता हूँ। क्योंकि मैं मानता हूँ कि उनकी सफलता से पूर्ण ब्रह्मचर्य शायद प्रमाण में कुछ सहज बन जाय[३]।

महात्मा गांधी के इस दिशा के प्रयोग कौन-से थे और उनमें वे पूर्ण सफल हुए या नहीं खोज करने पर भी इसका पता नहीं लग सका। ब्रह्मचर्य प्रमाण में कुछ सहज बन जाय ऐसा कोई नया नियम उनकी ओर से सामने नहीं आया। क्योंकि उन्होंने ब्रह्मचर्य-पालन के लिए वही नियम अन्त तक बतलाये जो उन्होंने शुरू-शुरू में बतलाये थे। उनके सन् १९४७ में बतलाये हुए नियम वे ही हैं जो उन्होंने सन् १९२ में बतलाये।

ब्रह्मचर्य के समाधि-स्थानों का जैसा सुव्यवस्थित रूप जैन धर्म में मिलता है वैसा अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं है। गांधीजी द्वारा बताये हुए नियम भगवान महावीर द्वारा वर्णित समाधि-स्थानों से जरा भी भिन्न नहीं और न कोई नयी बात सामने रखते हैं।

महात्मा गांधी कहते हैं—"मैं उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहता जिसका अर्थ है—स्त्री का स्पर्श न करना।" "स्त्री का स्पर्श न करना ब्रह्मचर्य है"—ब्रह्मचर्य की ऐसी परिभाषा जैन आगम अथवा अन्य ग्रंथों में नहीं मिलती। जैन धर्म में कहा गया है कि स्त्री-स्पर्श न करने से ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है। पर ऐसा नहीं कहा गया है कि स्त्री-स्पर्श न करना ही ब्रह्मचर्य है। जब साधक पूछता है कि ब्रह्मचर्य-पालन की सुगमता के लिए मेरा रहन-सहन कैसा हो तब ज्ञानी गुरु कहते हैं—वह स्त्री-संसर्ग आदि का वर्जन करता हुआ रहे :

१—साधक स्त्री-संसक्त नपुंसक-संसक्त, पशु-संसक्त स्थान में रहनेवाला न हो।

२—वह शृंगार-पूर्ण विकारी स्त्री-कथा करनेवाला न हो।

३—एक शय्या आसन आदि का सेवन करनेवाला न हो।

४—स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियादि की ओर ताकनेवाला न हो।

५—अतीतभोगी न हो।

१—पृ ७१

२—पथ और पाथेय पृ ४

३—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ ३१

४—आरोग्य की कुंजी पृ ३१

६—अतिमात्रा में आहार करनेवाला न हो।

७—पूर्व रति क्रीडाओं का स्मरण करनेवाला न हो।

८—शब्दानुपाती रूपानुपाती और श्लोकानुपाती न हो।

९—सुखाभिलाषी न हो।

१०—शरीर-विभूषा करनेवाला न हो[1]।

महात्मा गांधी ने भी प्रश्नकर्ताओं को ठीक ऐसे ही उत्तर दिये हैं जो उद्धृत ग्रंथों में जगह-जगह प्राप्त हैं। महात्मा गांधी के चिन्तन स्वयं अस्थिर से लगते हैं। कभी उन्होंने बाड़ों की अत्यन्त आवश्यकता महसूस करते हुए उनके पालन पर अत्यन्त बल दिया और कभी जब उन्होंने स्वतंत्र प्रयोग किये और आलोचना हुई तब बाड़ों की निरर्थकता पर काफी जोर दिया। कभी साधक के लिए उन्हें जरूरी बताया और कभी उसके लिए भी उनकी जरूरत न होने की बात कह दी।

ऐसा होते हुए भी महात्मा गांधी बाड़ों का खण्डन नहीं कर पाये। पर उन्होंने स्वयं वही बातें दी हैं जो श्रमण भगवान महावीर ने दीं। नीचे तुलनात्मक तालिका दी जाती है जिससे यह बात स्पष्ट होगी :

१—ब्रह्मचारी स्त्री-नपुंसक-पशु-संसक्त स्थान में न रहे।	१—पति और पत्नी को अलग-अलग कमरों में रहना चाहिए[2]। अलग-अलग कमरों में सोना चाहिए[3]।
२—वह मोहोत्पादक स्त्री-कथा न करे, एकान्त में स्त्री के साथ बात न करे।	२—यदि साथ-साथ बातें करने में विकार पैदा हों तो बातें नहीं करनी चाहिए ।
३—वह स्त्री के साथ एक शय्या एक आसन पर न बैठे।	३—पति-पत्नी को एकांत से बचना चाहिए[5]। उन्हें एक-दूसरे के साथ एकान्त-सेवन नहीं करना चाहिए। एक कोठरी में एक चारपाई पर नहीं सोना चाहिए[6]।
४—वह स्त्री की मनोहर इन्द्रियों पर टकटकी न लगाये।	४—आँखें दोष करती हों तो उन्हें बन्द कर लेना चाहिए। आँखों को सदा नीची रखकर चलने की रीति अच्छी है।
५—वह कामुक शब्दों को न सुने।	५—अनेक ब्रह्मचर्य-पालन में हताश हो जाते हैं, इसका कारण यह है कि वे श्रवण दर्शन भाषण आदि की मर्यादाएँ नहीं जानते। कान दोष करें तो उनमें रूई भर लेनी चाहिए। जहाँ गन्दी बातें हों या गन्दे गीत गाये जा रहे हों वहाँ से तुरन्त रास्ता लेना चाहिए[9]।

१—(क) देखिए पृ० १२६

(ख) उपदेशमाला गा० ३३७-३३९ :

इत्थिपसुसंकिलिट्ठं वसहिं इत्थीकहं च वज्जंतो। इत्थिजणसंनिसिज्जं निरूवणं अंगुवंगाणं ॥
पुव्वरयाणुस्सरणं इत्थीजणविरहरुयविलवं च। अइबहुयं अइबहुसो विवज्जंतो अ आहारं ॥
वज्जंतो अ विभूसं जइज्ज इह बंभचेरगुत्तीसु। साहू तिगुत्तिगुत्तो निहुओ दंतो पसंतो अ ॥

२—अनीति की राह पर पृ० ५५

३—देखिए वही पृ० ६१

४—देखिए वही पृ० ६५

५—अनीति की राह पर पृ० ५५

६—देखिए वही पृष्ठ ६५

७—देखिए वही पृ० ६१

८— पृ० ६५

९— पृ० ६

६—वह पूर्व क्रीड़ा का स्मरण न करे।

६—जो शरीर को तो वश में रखता हुआ जान पड़ता है पर मन में विकार का पोषण करता वह मूढ़ मिथ्याचारी है। जहाँ मन होता है वहाँ शरीर अन्त में घसिटाए बिना नहीं रहता[1]।

७—वह विषयवर्द्धक गरिष्ठ आहार का वर्जन करे

७—दूध का आहार ब्रह्मचर्य के लिए विघ्नकारक है, इस विषय में मुझे तनिक भी शंका नहीं है[2]। मेरी अपनी राय यह है कि जो अपने विकारों को शान्त करना चाहता हो उसे घी-दूध का इस्तेमाल थोड़ा ही करना चाहिए। विकारोत्तेजक वस्तुएँ खाने-पीनेवाले को तो ब्रह्मचर्य निभा सकने की आशा ही न रखनी चाहिए[3]। ब्रह्मचारी को मिर्च-मसाले जैसी गरमी और उत्तेजना पैदा करनेवाले और मिठाइयाँ तली भुनी चीज़ों जैसे पाचन में भारी पड़नेवाले पदार्थों से परहेज करना चाहिए[4]।

८—वह अति आहार न करे

८—मित आहारी बनिए, सदा थोड़ी भूख रहते ही चौके पर से उठ जाइए[5]। ब्रह्मचारी मित आहारी नहीं किन्तु अल्पाहारी होना चाहिए[6]।

९—वह शरीर-विभूषा और शृंगार को दूर रखे

९—पुरुष के आगे अपनी देह की सुन्दरता दिखाना क्या उसे पसन्द होगा!

१०—पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन से दूर रहे

१०—पहला काम है ब्रह्मचर्य की आवश्यकता को समझ लेना। दूसरा काम है इन्द्रियों को क्रमशः वश में लाना। ब्रह्मचारी को (क) अपनी जीभ को तो वश में लाना ही चाहिए। उसे जीने के लिए खाना चाहिए—रसना-सुख के लिए नहीं (ख) आँख से वही चीज देखनी चाहिए जो शुद्ध निष्पाप हों गन्दी चीज़ोंकी ओर से उसे अपनी आँखें बन्द कर लेनी चाहिए। निगाह नीची कर के चलना—उसे इधर-उधर नचाने न रखना विशुद्ध संस्कारवान होने की पहिचान है (ग) ब्रह्मचारी को अश्लील बातें सुनने और (घ) नाक से तीव्र उत्तेजक गंध सूंघने से भी परहेज रखना होगा। (ङ) अपने हाथ-पैरों को किसी-न-किसी अच्छे काम में लगावे[7]। कान से विकारी बातें सुनना आँख से विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना हाथ से विकारों को उभारनेवाली चीज को छूना और फिर भी अपने वीर्य रोकने का इरादा रखना तो आग में हाथ डाल कर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है[8]।

१—ब्रह्मचर्य (श्री) पृ ८
२—आत्मकथा ३ ८
३—अनीति की राह पर पृ ११६
४—वही पृ ५५
५—वही पृ ११
६—पृ ६५
७—अनीति की राह पर पृ ७
८—ब्रह्मचर्य (द भा) पृ ७

महात्मा गांधी ने कहा है कि साधक अपनी बाड़ें खुद बना लें। इसमें जैन धर्म का मतभेद नहीं। ब्रह्मचर्य की समाधि के लिए जो दस नियम दिये गये हैं वे अन्तिम संख्या के सूचक नहीं हैं। आगमों में स्पष्ट उल्लेख है कि—जो भी ब्रह्मचर्य में विघ्न डालनेवाली बातें हैं, उनका ब्रह्मचारी वर्जन करे[1]।

महात्मा गांधी ने सूत्ररूप में कही हुई बाड़ों के अभ्याहारों को पूरे रूप से जाने बिना ही उनके त्रुटित रूप को उपस्थित कर उनकी आलोचना की है।

भगवान महावीर ने संघ में श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका—इन चारों को स्थान दिया। हजारों वर्षों से यह संघ-पद्धति चली आ रही है। श्रमण श्रमणियों अथवा गृहस्थ बहिनों का स्पर्श नहीं करते और न श्रमणियाँ अथवा गृहस्थ बहनें श्रमणों का। फिर भी संघ में सेवा-कार्य अबाध रूप से चलता रहा है। परस्पर वैयावृत्त्य करते हुए भी स्पर्श की आवश्यकता ही नहीं आती। सेवा के लिए स्पर्श आवश्यक होगा ही ऐसी कोई बात नहीं। महात्मा गांधी ने जो प्रयोग किये वे स्वयं स्पर्शमूलक रहे। वे सेवा के लिए स्पर्श के प्रसंग न थे। कंधों का सहारा लेना, नग्न अवस्था में बहिनों से सर्व-अङ्ग स्नान करना, एक शय्या पर सोना सेवा के लिए स्पर्श नहीं, पर स्पर्शमूलक प्रवृत्तियाँ हैं। कौन कह सकता है कि स्पर्श मोहमूलक न हों?

श्रमण श्रमणियों का आदर्श है कि वे एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते पर शुद्ध सेवा के अवसर पर एक दूसरे का स्पर्श नहीं करना ऐसा महावीर अथवा उनकी बाड़ों का विधान ही नहीं। वास्तविक वैयावृत्त्य की स्थितियों के अतिरिक्त जैन धर्म में श्रमण-श्रमणी का परस्पर स्पर्श पिता-पुत्री, माता-पुत्र, भाई-बहिन में भी निरपवाद वर्जित रहा।

बृहत्कल्प सूत्र में निम्न सूत्र मिलते हैं :

१—यदि निर्ग्रन्थ के पैर में तीखा काँटा, काँच का टुकड़ा या कंकड़ गड़ गया हो और वह गड़कर टूट गया हो और वह स्वयं उसे निकालने में अथवा उपशान्त करने में असमर्थ हो तो उसे निकालती हुई अथवा विशोधन करती हुई निर्ग्रन्थी तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती ॥ ३ ॥

२—यदि निर्ग्रन्थ की आँख में कोई जीव, बीज या रज पड़ जाय और वह उसे स्वयं निकालने में अथवा विशोधन करने में असमर्थ हो तो उसे निकालती हुई अथवा विशोधन करती हुई निर्ग्रन्थी तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती ॥ ४ ॥

३—यदि निर्ग्रन्थी के पैर में तीखा काँटा, काँच या कंकड़ गड़ गया हो और गड़ कर टूट गया हो और वह स्वयं उसे निकालने में या विशोधन करने में असमर्थ हो तो उस काँटे को निकालता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ ५ ॥

४—यदि निर्ग्रन्थी की आँख में कोई जीव, बीज या रज पड़ जाय और वह उसे स्वयं निकालने में या विशोधन करने में असमर्थ हो तो उसे निकालता हुआ अथवा विशोधन करता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ ६ ॥

५—यदि निर्ग्रन्थी दुर्ग—कठिन विषम—ऊँचे-नीचे अथवा पर्वतीय स्थानों में चल रही हो और वह गति के स्खलन से गिर रही हो या गिरनेवाली हो तो ऐसी स्थिति में अपनी भुजाओं से उसके अंग को पकड़ता हुआ या उसकी भुजा अथवा सम्पूर्ण शरीर को पकड़ कर उसे अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ ७ ॥

६—यदि निर्ग्रन्थी पङ्क-कीचड़ों से युक्त जलाशय में, पंक में, तीव्र कीचड़वाले जलाशय में, उदक की प्रतीति होनेवाले जलाशय में डूब रही हो तो ऐसी स्थिति में उसको पकड़ कर अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ ८ ॥

७—जिस समय निर्ग्रन्थी नाव में चढ़ रही हो या नाव से उतर रही हो उस समय उसे पकड़ता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ ९ ॥

८—निर्ग्रन्थी के क्षिप्त-चित्त होने पर उसे ग्रहण करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १० ॥

९—यदि निर्ग्रन्थी दीप्तचित्त—सम्मानादि के मद से परवशीभूत हृदय हो गई हो तो उसे ग्रहण करता—पकड़ता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ ११ ॥

१—उत्तराध्ययन १६ : १४ : संकाठाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं

१०—निर्ग्रन्थी के यक्षाविष्ट होने पर उसे ग्रहण करता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १२ ॥

११—उन्मादप्राप्ता निर्ग्रन्थी को पकड़ता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १३ ॥

१२—उपसर्ग को प्राप्त हुई निर्ग्रन्थी को पकड़ता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १४ ॥

१३—यदि निर्ग्रन्थी साधिकरण—क्लेशपूर्ण स्थिति में हो तो उसे पकड़ता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १५ ॥

१४—प्रायश्चित्त के आ जाने पर ग्लाना या विषण्णवदना निर्ग्रन्थी को पकड़ता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १६ ॥

१५—भात—अन्न-पानी का प्रत्याख्यान करनेवाली निर्ग्रन्थी (यदि मूर्च्छित हो रही हो) को पकड़ता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १७ ॥

१६—यदि अर्थजात—द्रव्य से उत्पन्न होनेवाले कारणों से निर्ग्रन्थी मूर्च्छित हो जाय तो उस स्थिति में उसे ग्रहण करता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १८ ॥

पाठक देखें कि जैन धर्म का बाड़ विधान शुद्ध सेवा-कार्य के अवसर उपस्थित होने पर उससे पराङ्मुख होना नहीं सिखाता। विकट स्थितियों में श्रमण-श्रमणी भी निर्विकार भाव से एक दूसरे के स्पर्श-प्रसंगों में आ जा सकते हैं। पर ऐसी स्थितियाँ जीवन में थोड़ी ही होती हैं। ऐसी परिस्थितियों को छोड़ कर स्पर्श-वर्जन सार्वजनिक और सर्वकालिक नियम रहा है, उसमें कोई दोष नहीं बता सकता।

गृहस्थ-जीवन में जहाँ माता-पुत्र भाई-बहिन जैसे सम्बन्ध हैं, वहाँ अनिवार्य आवश्यक स्पर्श मर्यादा के साथ हर समाज में स्वीकृत है। उपर्युक्त सम्बन्धों में परिचर्या आदि की आवश्यकतावश निर्विकार स्पर्श किसी भी समाज में गृहस्थों के मर्यादित ब्रह्मचर्य का उल्लंघन नहीं माना गया है।

महात्मा गांधी की यह दलील भी ठीक नहीं कि पुत्र अपनी माँ के पैर दबा सकता है वैसे ही निर्विकार अवस्था में वह स्त्री-मात्र का स्पर्श करे तो दोष नहीं। निर्विकार स्पर्श अपने आप में कोई दोष नहीं पर स्त्री-पुरुषों में ऐसे निर्विकार स्पर्श का प्रचलन भी हितावह नहीं हो सकता। यह विपत्ता अंकुर है, जो विष-वृक्ष के रूप में ही पल्लवित हो सकता है, अमृत फल के वृक्ष के रूप में नहीं।

महात्मा गांधी के स्पर्श-मूलक प्रयोगों पर निर्विकार पुत्र का माता के पैर दबाने का उदाहरण लागू नहीं पड़ता।

२३-महात्मा गांधी बनाम मशरूवाला

महात्मा गांधी ने बाड़ों के सम्बन्ध में विचार देते हुए लिखा है "संसार से नाता तोड़ लेने पर ही ब्रह्मचर्य प्राप्त हो सकता है, तो उसका कोई मूल्य नहीं है। ब्रह्मचर्य का यह अर्थ नहीं कि मैं स्त्री-मात्र का अपनी बहिन का भी स्पर्श न करूँ "मेरी बहिन बीमार हो और ब्रह्मचर्य के कारण उसकी सेवा करने से हिचकिचाना पड़े तो वह ब्रह्मचर्य कौड़ी काम का नहीं।" मैं उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहता जिसका अर्थ है—स्त्री का स्पर्श न करना।" "जिसे रक्षा की जरूरत हो वह ब्रह्मचर्य नहीं।" "मेरा यह विश्वास कभी नहीं रहा कि ब्रह्मचर्य का उपयुक्त रूप से पालन करने के लिए स्त्रियों के किसी भी तरह के संसर्ग से बिल्कुल बचना चाहिए। पाठक देखेंगे कि यहाँ संसक्त शय्या परिहार स्त्री-संग परिहार, एकशय्यासन वर्जन—ये बाड़ें विकृत रूप में अवतरित हुई हैं और ऐसी परिस्थिति में उनकी आलोचना भी बेबुनियाद-सी बन गई है।

महात्मा गांधी ने उपर्युक्त वाक्यों में बाड़ों की जो आलोचना की है उस विषय में मशरूवाला का चिन्तन भी सामने आ जाना आवश्यक है। उन्होंने स्त्री-पुरुष-मर्यादा और स्पर्श-मर्यादा पर विस्तारपूर्ण विचार किये हैं। हम नीचे उनके कई लेखों का सारांश उपस्थित करते हैं :

१—"क्या समाज में और क्या संस्थाओं में स्त्री-पुरुष के बीच अनुचित या नाजायज सम्बन्ध पैदा होने के उदाहरण हम बहुत बार सुनते हैं। यह बात आसानी से कहा जा सकता है कि आजकल की भोग-विलास की प्रेरणा देनेवाली जीवन-पद्धति तथा स्त्रियों और पुरुषों को परस्पर सहवास के अधिक अवसर देनेवाली प्रवृत्तियाँ इसमें बहुत ज्यादा वृद्धि कर रही हैं।

अपने सामने पवित्र जीवन का आदर्श रखनेवाले और उसके लिए बहुत प्रयत्नशील रहनेवाले अनेक स्त्री-पुरुषों के जीवन में भी अनुचित सम्बन्ध पैदा होने के किस्से सुने गये हैं। ईश्वर की कृपा से मैं आज तक ऐसी स्थिति से बच सका हूँ। अपने चित्त की परीक्षा करते हुए मैं ऐसा

मुझे मालूम हुए बिना हर कोई आ सके। यह चीज मैंने अपने पिताजी और बड़े भाई से सीखी है। स्त्रियों के साथ एक आसन पर सटकर बैठने की बात मुझे सार्वजनिक जीवन में निभा लेनी पड़ती है, किन्तु अच्छी बिलकुल नहीं लगती। अपने आप्तों की जवान लड़कियों का भी आशीर्वाद के बहाने मैं जान बूझकर अंग-स्पर्श नहीं करता या नहीं होने देता। यदि कोई स्त्री लापरवाही से अथवा आजकल जैसी स्वतंत्रता ली जाती है, उसे निर्दोष मानकर मेरे पास आकर बैठ जाती है तो मुझे दुःख होता है। ऐसा बर्ताव आज के समाज में 'अति-मर्यादी' (Ultra Puritan) समझा जाता है यह भी मैं जानता हूँ। लेकिन इसमें मैंने अपनी और समाज की दोनों की रक्षा मानी है[१]।

मैंने अपने को कभी पूरी तरह सुरक्षित नहीं माना विशेष मनोबलवाला नहीं माना। वेदान्त-निष्ठा से सुरक्षित रहा जाता है, ऐसा मैं नहीं मानता। इस अभिमान से गिरने और फिसलनेवालों के उदाहरण मैंने बहुत देखे हैं। ईश्वर की कृपा से बड़े-बूढ़ों के दिये हुए संस्कारों से और ऊपर बताये गये स्थूल नियमों के पालन से ही मैं अभी तक बच रहा हूँ ऐसा मैं मानता हूँ। और इसी के बल पर आगे भी बच रहने की आशा रखता हूँ। (२१-९ १४)

२— 'जहाँ तक मैं जानता हूँ हिन्दुस्थान में—हिन्दू और मुस्लिम दोनों समाजों में—जो सदाचार-धर्म माना गया है, वह जवान माँ बहन और बेटी को पर स्त्री की कोटि में ही रखता है और दूसरे की स्त्री के साथ व्यवहार करने में जो मर्यादायें पालनी चाहिए, उन्हीं को इनके साथ के व्यवहार में भी पालने की सूचना करता है। मैंने हिन्दू-आदर्श को इस तरह समझा है कि पर स्त्री को माँ बहन या बेटी के समान मानना चाहिए और माँ बहन या बेटी के साथ भी एक खास उमर के बाद मर्यादायुक्त व्यवहार ही करना चाहिए। इस तरह वह सभी स्त्रियों के साथ एक-सा व्यवहार करने का आदेश देता है।

'यह बात विचारने जैसी है कि माँ बहन या बेटी को भी इस तरह दो हाथ दूर रखने की प्रथा का बन्धन आवश्यक और उचित है या नहीं धर्म और समाज के सुधार के लिए आवश्यक है या नहीं। एकाध लोकोत्तर विभूति का व्यवहार इस प्रथा के बन्धन से परे हो यह दूसरी बात है। उसकी लौकिक या लोकोत्तर विशेषता के कारण समाज उसमें कोई दोष न मान कर उसे सहन कर लेता है। लेकिन 'दोष न मानने' का अर्थ सिर्फ इतना ही है कि करोड़ों मनुष्यों में एकाध के लिए सदा अपवाद रहता ही है[२]। लेकिन अगर सभी मनुष्य इस प्रथा को तोड़ें तो समाज सहन नहीं करेगा यानी उनकी निन्दा किए बिना नहीं रहेगा। इसलिए, इस विचार के साथ मेरा बहुत विरोध नहीं है कि किसी विरले पवित्र व्यक्ति के लिए इसका अपवाद हो सकता है[३]। लेकिन जो पिता अपनी माँ बहन या बेटी का निकट से स्पर्श करने में—उदाहरण के लिए कंधे पर हाथ रखकर चलने में—संकोच रखता है वह संकुचित मनोवृत्तिवाला है ऐसा कहना भाम तो यह मुझे ठीक नहीं लगता।

१—२७ जुलाई १९३७ के 'हरिजनबन्धु' में 'पुराने विचारों का बचाव' नाम से गांधीजी ने एक पत्र छापा था। उसमें पत्र लेखक मेरा उल्लेख करके लिखते हैं कि वे तो "यहाँ तक कहते हैं कि स्त्री-पुरुष को एक चटाई पर नहीं बैठना चाहिए।"

इस पर गांधीजी लिखते हैं : "अगर यह सच है कि जिस चटाई पर कोई स्त्री बैठी हो उस पर किशोरीलाल भाई न बैठें तो मुझे आश्चर्य होगा। मैं ऐसी पाबन्दी को नहीं समझ सकता। उनके मुंह से ऐसा मैंने कभी नहीं सुना।

मेरा खयाल है कि पत्र-लेखक ने ऊपर के पैरे के विचारों का उल्लेख किया है। इन विचारों में आज भी मैं कोई परिवर्तन करने का कारण नहीं देखता। एक चटाई पर बैठना और एक ही आसन—यानी खास तौर पर जिस पर एक ही आदमी अच्छी तरह बैठ सके, ऐसी जगह पर या दूसरी काफी जगह होते हुए भी मेरे पलंग पर आकर बैठ जाना इन दोनों में बड़ा फर्क है। रेलगाड़ी ट्राम भीड़भाड़ खचाखच भरी सभा आदि में ऐसा होना अलग बात है। परन्तु किसी के घर मिलने गये हों या अकेले हों तब ऐसा व्यवहार मुझे बुरा और असभ्य मालूम होता है। इस तरह पुरुष का पुरुष के साथ या स्त्री का स्त्री के साथ बैठना भी अच्छा नहीं माना जायगा। सदाचार का यह नियम "मेहनत का काम न करनेवाले सफेदपोश मध्यमवर्ग का" नहीं है सच पूछा जाय तो यही वर्ग इस नियम का कम पालन करता है। शहर के मजदूरों के बारे में तो निश्चयपूर्वक मैं कुछ नहीं कह सकता लेकिन मैं यह मानता हूँ कि गाँव के किसान और कारीगर जिस ढंग से रहते और काम करते हैं उनमें यह नियम अधिक पाला जाता है। (जनवरी १९४८)

२—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (स्त्री पुरुष सम्बन्ध) पृ १३ १८

३—इस वाक्य में सदा अपवाद रहता ही है के बदले में अब मैं यह सुधार करना चाहता हूँ समाज उदारता से या निर्बलता से उस पुरुष के दूसरे महान गुणों को ध्यान में रखकर उसके दोषों की उपेक्षा करता है। (जनवरी १९४८)

४— इसलिए, अपवाद हो सकता है'—यह वाक्य मैं निकाल देना चाहूँगा। (जनवरी १९४८)

सच पूछा जाय तो स्त्री-पुरुष के बीच की जो मर्यादा है, उसका पालन स्त्री-स्त्री में या पुरुष-पुरुष में करना जरूरी नहीं ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। स्त्रियां स्त्रियों के साथ और पुरुष पुरुषों के साथ जान-बूझ कर आवश्यकता से अधिक स्पर्शादि करें तो वह दोष ही माना जायगा। यानी स्त्री-पुरुष के बीच जो मर्यादाएँ बताई गई हैं, वे दो विभिन्न जातियों के कारण ही नहीं बताई गई हैं। बात इतनी ही है कि दो विभिन्न जातियों के लिए उनका ज्यादा स्पष्टीकरण किया गया है—उन पर ज्यादा जोर दिया गया है।

"गांधीजी कहते हैं—'जो ब्रह्मचर्य स्त्री को देखते ही डर जाय उसके स्पर्श से सौ कोस दूर रहे वह ब्रह्मचर्य नहीं। साधना में उसकी आवश्यकता होती है। लेकिन अगर वह स्वयं साध्य बन जाय तो वह ब्रह्मचर्य नहीं। ब्रह्मचारी के लिए स्त्री का पुरुष का पत्थर का मिट्टी का स्पर्श एक-सा होना चाहिए।

"इस भाषा को आवश्यक अध्याहारों के साथ समझें तो वह मुझे ठीक मालूम होती है। अध्याहार ये हैं 'जो ब्रह्मचर्य धर्म पैदा हो जाने पर भी स्त्री को देखते ही डर जाय' तथा 'विवेक दृष्टि रखकर ब्रह्मचारी के लिए स्त्री का'। जिस तरह हम गीताजी के सम दृष्टिवाले श्लोकों में इन शब्दों को अध्याहार के रूप में समझते हैं, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए। वहाँ जैसे समदृष्टि का अर्थ यह नहीं होता है कि गाय की तरह ब्राह्मण को भी बिनौले और घास खिलाया जाय या ब्राह्मण की तरह गाय के लिए भी आसन बिछाया जाय बल्कि यह होता है कि हर प्राणी के प्रति समान वृत्ति रखते हुए भी हरएक की विवेकयुक्त सेवा करनी चाहिए, वैसे ही यहाँ भी हरएक का समान वृत्ति से परन्तु केवल विवेकयुक्त स्पर्श किया जाय। दो वर्ष की बाला और २५ वर्ष की युवती के स्पर्श के प्रति ब्रह्मचारी की समान वृत्ति होनी चाहिए। फिर भी दो वर्ष की बाला को वह गोद में बठाये उसके साथ बालोचित खेल खेले और भावुक होने के कारण कभी-कभी उसे चूम भी ले तो वह निर्दोष माना जायगा। लेकिन २५ वर्ष की युवती के साथ वह यह सब नहीं करेगा—नहीं कर सकता। अर्थात् संकट का कारण पैदा किए बिना नहीं करेगा और उसे चूम लेने की तो संकट में भी कल्पना नहीं की जा सकती। यह भेद किस लिए? इसका कारण यह है कि दोनों के बारे में एक-सा निर्विकारी होने पर भी किसके साथ क्या बर्ताव उचित है, यह उसकी आँखें जानती हैं, मन जानता है और बुद्धि जानती है। यही उसका विवेक है।

कोई मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी हो अपनी निर्विकारी अवस्था के बारे में उसके मन में जरा भी शंका न हो वह छाती ठोक कर यह भी कह सके कि किसी भी परिस्थिति में उसके मन में विकार पैदा नहीं होगा फिर भी यदि वह मनुष्य समाज में साधारण जनता के लिए सदाचार के जो नियम आवश्यक मालूम हों उनकी मर्यादा में रहे तो क्या इसे उसके ब्रह्मचर्य का दोष माना जायगा? और यदि ऐसे नियम पालने से वह अधूरा ब्रह्मचारी माना जाय तो इससे क्या? क्योंकि वह कितना निर्विकार है, इसकी अपने संतोष के लिए परीक्षा करने या जगत के सामने यह सिद्ध कर दिखाने की उसकी जिम्मेदारी—यहा हुआ धर्म—नहीं है। उसकी जिम्मेदारी या धर्म तो हर बात में अपना आचरण ऐसा रखने की है, जिसका यदि अविवेकी पुरुष अनुकरण करे तो भी उससे समाज में दोषयुक्त आचरण का निर्माण न हो उसका अनुकरण करने से समाज में रसिक स्त्री-पुरुषों की मनोदशा को पोषण न मिले। बल्कि संयमी स्त्री-पुरुषों की मनोदशा का निर्माण हो और उसे पोषण मिले।

किन्हीं मनुष्यों में बड़ी-बड़ी संख्याओं का मुँह से गुणाकार कर देने की शक्ति होती है। वह उसकी विशेष सिद्धि मानी जायगी। फिर भी यदि वह शिक्षक बन जाय तो उसे बालकों को संख्याएँ लिखकर और एक-एक अंक लेकर गुणा की रीति इस तरह सिखानी होगी, मानो उसके पास ऐसी कोई सिद्धि है ही नहीं। यदि ऐसी सिद्धि प्राप्त करने की कोई विशेष रीति हो तो वह बालकों को बतानी चाहिए। यदि वह केवल जन्मसिद्ध शक्ति हो तो किसी समय भले ही वह उसका उपयोग करे। लेकिन इससे गुणाकार करने की गणित की पद्धति का निषेध नहीं किया जा सकता और बालकों को सिखाने के लिए तो वह उसी पद्धति का उपयोग कर सकता है। उसी तरह जो दृढ़ ब्रह्मचारी हो उसे ऐसे नियमों का शोधन व पालन करना चाहिए, जो समाज के प्रयत्नशील साधकों और योगियों के लिए ब्रह्मचर्य के मार्ग पर चलने में सहायक सिद्ध हों। मैं इसी दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया करता हूँ।

गांधीजी का एक दूसरा वाक्य यह है—"स्त्री के स्पर्श के मौके ढूंढे बिना अनायास ही स्त्री का स्पर्श करने का मौका आ पड़े तो ब्रह्मचारी उस स्पर्श से भागेगा नहीं। इस वाक्य में भी 'कर्तव्य की दृष्टि से' 'धर्म समझ कर' जैसे शब्द जोड़ देने चाहिए क्योंकि यह निश्चय करना कठिन है कि कहाँ अनायास आ पड़ा है और कहाँ अनायास आ पड़ा मान लिया गया है। किसी क्रिया को करने की आदत डालने से वह

सहज या स्वाभाविक हो जाती है और फिर वह अनायास आ पड़ी मालूम होती है। उदाहरण के लिए, मुझे लेख लिखने की आदत है, इसलिए कई संपादक मुझसे लेखों की मांग किया करते। अब एक तरह से देखें तो यह कहा जा सकता है कि 'लेख लिखने का काम मुझ पर सहज ही आ पड़ता है।' 'लेकिन हर समय वह धर्म के रूप में आ पड़ता है' ऐसा कहना कठिन है। लेख लिखने का धर्म आ पड़ा है ऐसा तो कुछ अंश में भी तभी कहा जायगा जब उस लेख के प्रकाशन की जिम्मेवारी मुझ पर हो अथवा कोई विचार मुझे इतना महत्त्वपूर्ण लगे कि उसे जनता को समझाना विवेक-बुद्धि से मुझे जरूरी मालूम होता हो। हम जानते हैं कि विवेक-बुद्धि का उपयोग करने में भी कभी कभी आत्म-वंचना होती है। फिर भी यह तो माना ही जायगा कि यथासंभव हमने विवेक-बुद्धि का उपयोग किया है। सारांश यह है कि अनायास आ पड़नेवाला प्रत्येक कर्म धर्म नहीं ठहरता और इसलिए यह बचाव नहीं किया जा सकता कि कोई कर्म अनायास आ पड़ा इसलिए किया गया। गीता में यह अवश्य कहा गया है कि 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।' लेकिन जो धर्म न हो उसे गीता में कर्म ही नहीं माना है। वह विकर्म है और इसलिए अपकर्म है। उसके लिए अनायास आ पड़ने का बहाना नहीं किया जा सकता। फिर गीता में 'सहज' का अर्थ 'अनायास आ पड़नेवाला नहीं' बल्कि सह-ज—साथ उत्पन्न हुआ—स्वाभाविक प्रकृति-धर्म के अनुसार है। कोई कर्म सहज हो और कर्तव्यरूप में आ पड़ा हो तो भी वह दोषयुक्त होने पर भी नहीं छोड़ा जा सकता।

'आप यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मचर्य की साधना बड़ी कठिन है। इसका अर्थ यही है कि हमारे जमाने में करोड़ों मनुष्यों के लिए ब्रह्मचर्य असंभव-सा है। एकाध के लिए वह स्वाभाविक हो सकता है और अति-पुरुषार्थी के लिए प्रयत्न-साध्य है। अतः करोड़ों के लिए तो ऐसा ही धर्म बताना होगा जिससे वे भोग में मर्यादा का पालन कर सकें अति भोग की तरफ न बह जायें और मर्यादा-पालन करनेवालों की दिनोदिन संयम की ओर प्रगति हो। मुझे लगता है कि ब्रह्मचर्य की साधना के मार्ग का और मर्यादा के नियमों का इस तरह विचार होना चाहिए।

'इस बारे में हम सिर्फ कल्पना के घोड़े दौड़ाना चाहें तब तो कहीं के कहीं पहुंच सकते हैं। यदि ऐसा कहें कि जो स्त्री के सहज या साधारण स्पर्श से भागे वह ब्रह्मचारी नहीं तो जो एकान्त-वास से या बलात्कारपूर्वक संभोग करना चाहनेवाले से डरकर भागे उसे भी ब्रह्मचारी कैसे कहा जाय? और शंकर की कथा में बताया गया है वैसे क्रोध से कामदेव को जला देनेवाला भी ब्रह्मचारी कहां? ब्रह्मचारी तो भागवत में नारायण की कथा में बताये गये मनुष्य को कहा जा सकता है। जो अप्सराओं से कह सके कि "तुम भले ही नाचो परन्तु मेरे तप के प्रभाव से मैं या तुम—दोनों में से किसी में भी विकार पैदा नहीं होगा।" विकारी वातावरण में स्वयं तो निर्विकार रहे ही पर दूसरे विकारी के विकार को भी शान्त कर दे वही सच्चा ब्रह्मचर्य है। ऐसे ब्रह्मचर्य को साध्य मानें तो उसकी साधना क्या है? इसमें मुझे कोई शंका नहीं कि वह साधना अनावश्यक सामान्य स्पर्श करते रहना या स्त्री पुरुष के साथ एकान्त-वास के प्रयोग करते रहना तो हो ही नहीं सकती। मुझे तो लगता है कि जिस स्पर्श की कोई जरूरत ही नहीं ऐसा हर तरह का स्पर्श त्याज्य ही माना जाना चाहिए। न केवल स्त्री या पुरुष का न केवल प्राणियों का बल्कि जड़ पदार्थों का भी ऐसा स्पर्श त्याज्य है। स्पर्शेन्द्रिय सारी त्वचा पर फैली हुई है। वह चाहे जिस जगह से और चाहे जिसके स्पर्श से विकार पैदा कर सकती है। भोग में उसकी सीमा अवश्य है। जहाँ जड़ या चेतन—किसी का भी लिपटकर स्पर्श करने की इच्छा होती है, वहाँ सूक्ष्म कामोपभोग है। इस तरह की स्पर्शेच्छा न हो और यदि हो तो उसके प्रति मन निर्विकार रहे—ऐसी शक्ति और दृष्टि प्राप्त करना ही ब्रह्मचर्य की साधना है। यह सच है कि इसमें अन्त में भागने की आवश्यकता नहीं रहेगी लेकिन प्रारम्भ में या अन्त में भी लिपटने की स्पर्श को खोजने की या उसकी आदत डालने की जरूरत नहीं होनी चाहिये। सूक्ष्म स्पर्श अनायास नित्य के जीवन में होते ही रहते हैं। आदत के लिए, परीक्षा के लिए उतना स्पर्श काफी है। जिस प्रकार त्वचा को जीतने के लिए सर्दी या धूप में बैठना पंचाग्नि में तपना कांटों पर सोना आदि साधना जड़ और तामसी है, उसी प्रकार इन स्पर्शों के सेवन को साधना कहें तो वह रसिक और राजसी साधना है। इस रास्ते में गिरे तो बहुत हैं, परन्तु पार कौन गये हैं, यह तो प्रभु ही जाने।

'इस बारे में गांधीजी का अनुकरण करने का मोह छोड़ देना चाहिये। गान्धीजी की तो सब मार्गों में पराकाष्ठा होती है। उनके त्याग दीर्घश्रम और व्रत-पालन का अनुकरण करके उन्हें कोई अपना जीवन धर्म नहीं बनाता लेकिन उनकी संगीत की रुचि स्त्रियों के साथ निःसंकोच व्यवहार और कुछ सूक्ष्म गुप्तता की बातों का अनुकरण करने का मोह होता है। परन्तु गान्धीजी को जिस बात में जिस क्षण अपनी भूल मालूम हो जाती है, उसमें से उसी क्षण पीछे हटने और सारे जगत के सामने अपना अपराध स्वीकार करके माफी मांगने में उन्हें कभी संकोच नहीं

'किसी स्त्री-पुरुष को एक-दूसरे के सम्पर्क में आना ही नहीं चाहिए, ऐसा धर्म नहीं बनाया जा सकता। यदि दोनों एक-दूसरे का मुख नहीं देखें ऐसा धर्म बना कर स्त्री-पुरुष दोनों के लिए एक-सा लागू किया जाय तो उससे भी सामाजिक जीवन अशक्य बन जायेगा। कोई सूरदास यदि यह देखकर अपनी आँखें फोड़ ले कि वह पापी बने बिना नहीं रहेगा तो वह उसकी अपनी पसन्दगी मानी जायगी। लेकिन ऐसा नहीं कहा जा सकता कि शील और पवित्रता की रक्षा के लिये आँख फोड़ लेना धर्म है। यदि कोई भक्त-संप्रदाय आँखें फोड़ने को धर्म बना ले तो उसे रोकने का भी कर्तव्य पैदा हो सकता है। उसी तरह कोई निवृत्ति-मार्गी भक्त या साधक ब्रह्मचर्य पालने के लिए स्त्री-सहवास का आठों प्रकार से त्याग करे, तो वह उसकी स्वतंत्र पसन्दगी मानी जायगी, और वह कभी जरूरी भी नहीं हो सकती है। लेकिन इसे यदि समाज का धर्म बना दिया जाय तो उसमें अतिक्रमणता का धर्म माना जायगा। उसी तरह यदि कोई सुन्दर स्त्री को यह अनुभव होता हो कि अपनी या पुरुषों की रक्षा के लिए, उसका मुँह छिपाकर रखना ही सुरक्षित मार्ग है। और जिस कारण से वह स्वेच्छा से बुर्का पहने या घूंघट करे तो उसके खिलाफ विरोध करने की शायद हमें जरूरत न रहे। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा करना उसका धर्म है।

'अगर यह अनुभव हो कि स्त्रियों के पर्दा करने से पुरुषों के विकार कुछ शान्त रहते हैं तो भी उसे धर्म का नियम नहीं बनाया जा सकता।

मैं जब यह कहता हूँ कि सिर्फ मन की पवित्रता पर आधार न रखकर स्थूल नियम भी पालने चाहिये तो उसका यह मतलब नहीं है कि मैं स्थूल नियमों के पालन को मन की पवित्रता का स्थान देता हूँ[1]।' (७-१ १४)

४— 'यह जरूर है कि मैं स्त्री-पुरुषों के परस्पर मिलने में मर्यादा-पालन की आवश्यकता मानता हूँ। और जो मर्यादायें मैंने सुझाई हैं, वे मेरे खयाल से स्त्री-पुरुष के साथ मिलकर काम करने में बाधा नहीं डालती। मैं यह सोच भी नहीं सकता कि साथ मिलकर काम करने के लिए एक-दूसरे के साथ एकान्त में रहने एकान्त में गुप्त बातें करने या जान-बूझ कर एक-दूसरे के अंगों को छूने की जरूरत क्यों पैदा होनी चाहिए। एक खास उम्र में केवल पुरुष-पुरुष का और स्त्री-स्त्री का ऐसा सहवास भी अनिष्ट होता है तब यदि स्त्री-पुरुष का सहवास ज्यादा अनिष्ट सिद्ध हो, तो कोई अचरज की बात नहीं।

"कुछ नवयुवक इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि १ वर्ष की भरी जवानी में होते हुए और जवान लड़कियों के साथ आजादी से मिलते हुए भी उन्होंने पवित्र जीवन बिताया है और मेरी बताई हुई मर्यादाओं के पालन की जरूरत महसूस नहीं की। उनका जीवन पवित्र रहा है, यह उनकी बात मैं सच मान लेता हूँ और उन्हें बधाई देता हूँ। मैं चाहता हूँ कि उनकी यही स्थिति जीवन के अन्त तक बनी रहे। लेकिन मैं उन्हें सावधान कर देता हूँ कि जीवन के इतने ही अनुभव से वे फूल कर कुप्पा न हो जायें। यह तो वैसी ही बात हुई जैसे कोई कहे कि हम २ वर्ष तक आग से जले नहीं इसलिए आग से जलने का डर मिट गया है।

"बहुत से नवयुवकों को शायद यह पता नहीं होगा कि पुरुष के जीवन में—और खासकर के महत्वाकांक्षी पुरुष के जीवन में—नीचे गिरने का समय १२ ४ की उम्र के बाद आरंभ होता है। डॉक्टरों मनोवैज्ञानिकों और बूढ़ों का अनुभव है कि पिछले २१ वर्षों के आंकड़े यह बताते हैं कि व्यभिचारी जीवन बितानेवाले पुरुषों का बड़ा हिस्सा ११ ४ की उम्र पार कर चलनेवालों का रहा है। इसके पीछे कारण भी रहता है। इस उम्र तक उत्साही नवयुवकों के हृदय में विषय भोग की अपेक्षा छोटी-मोटी अभिलाषायें पूरी करने के मनोरथ ज्यादा बलवान होते हैं। भोग-विलास का इस उम्र में प्रमुख स्थान नहीं होता। इसलिए वे इस इच्छा को दबा भी देते हैं। इस उम्र में भी जो युवक भोगों के पीछे पड़ा हो वह रोगी कहा जा सकता है। इस उम्र के बाद उसके जीवन में थोड़ी स्थिरता आती है वह दौड़-धूप और चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है शायद कुछ कुटुम्बवाला बनता और पढ़ने की अपेक्षा खाने-पीने के ज्यादा शौकीन या सुखवाला हो जाता है। उसकी महत्वाकांक्षायें ठंडी पड़ जाती हैं, और अगर उसका जीवन प्रपंच में बीता हो तो वह थोड़ा बहुत वर्ग भी बन जाता है। इसके साथ यदि उसकी सदाचार और नैतिकता की भावना शिथिल हो तो उसके गिरने की संभावना बढ़ जाती है। इसलिए यह कहा जाता है कि व्यभिचारी पुरुषों का बड़ा हिस्सा इस उम्र को पार कर चलनेवाला होता है।

"इस पर से यह कहा जा सकता है कि १ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालने की बात कहना किसी असम्भव बात की सूचना नहीं है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं किया जा सकता कि इस उम्र तक नियम पालन करने की जरूरत नहीं या इस उम्र में पहले विवाह-सम्बन्ध जोड़ बिना

1—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (पशा और धर्मरक्षा) पृ ५१ ५८

६—" "स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध में एकान्त शरीर-स्पर्श (सजातीय या विजातीय नौजवानों या किशोरों का एक-दूसरे से लिपटना एक दूसरेपर गिरना या दूसरी तरह से लाड़भरे नखरे करना) काम को भड़कानेवाले दृश्यों नाटकों पुस्तकों संगीत आदि में साथ-साथ भाग लेना भाई-बहन-मां-बाप जैसे कौटुम्बिक संबंध न होने पर भी वैसे सम्बन्ध कायम करने की बात मन को समझा कर, सगे भाई-बहन और मां-बाप के साथ भी न किये हों ऐसे लाड़ या घनिष्ठता (intimacy) की छूट लेना—आदि मलिनता या खतरे के स्थान माने जा सकते हैं। यदि ऐसा आग्रह न रहे कि सगे भाई-बहिन-मां-बाप द्वारा भी उनके साथ के व्यवहार में भी अमुक स्वतंत्रता तो कभी ली ही नहीं जा सकती हमारा शरीर एक पवित्र तीर्थ (मंत्राक्षत या मंत्रपूत जल) या पवित्र भूमि है और आपद्धर्म के सिवा जैसे पवित्र तीर्थ या क्षेत्र को थूक मल-मूत्र या पांव के स्पर्श से अपवित्र नहीं किया जा सकता या पवित्र बनकर ही स्पर्श किया जा सकता है, वैसे ही अपने शरीर को भी—जिसके साथ विवाह सम्बन्ध बांधा हो ऐसे पति या पत्नी के सिवा—पवित्र रखने का आग्रह न हो और विषय-भोग की तीव्र इच्छा होते हुए भी किसी कारण से विवाह करने का साहस न होता हो तो कभी न कभी युवावस्था बीत जाने पर भी मन के मलिन होने का डर बना रहता है।"[1] (१४ १ '४५)

७—'आपस में कोई नाता रिश्ता न रखनेवाले स्त्री-पुरुषों के बीच कभी-कभी एक दूसरे के 'धर्म के भाई-बहन' का सम्बन्ध बांधने का रिवाज पुराने समय से चला आया है। ऐसे नाते पवित्र बुद्धि से जोड़े जाते हैं और कुलीनता के खयाल से अन्त तक निभाये जाते हैं। इनमें स्त्री-पुरुष-मर्यादा के नियमों को शिथिल करने का जरा भी इरादा नहीं होता। हो भी नहीं सकता क्योंकि मर्यादा के जो नियम बताये गये हैं, वे वही हैं जिन्हें सगे भाई-बहन मां-बेटे या बाप-बेटी के बीच भी पालना जरूरी होता है।

"परन्तु कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि मर्यादा के पालन में पैदा हुई शिथिलता का बचाव करने के लिए भी ऐसा सम्बन्ध बताया जाता है। जो एकसी आयुवाले स्त्री-पुरुष के बीच मैत्री होती है। और उसमें से वे खूब छूट से एक-दूसरे के साथ हिलने-मिलने लगते हैं। यह छूट समाज को खटकती है या खटकने का उन्हें डर लगता है। यह छूट उचित नहीं होती फिर भी दोनों उसे छोड़ना नहीं चाहते। ऐसे मौके पर धर्म के भाई-बहन होने की दलील दी जाती है।

"सच पूछा जाय तो ऐसी स्थिति में यह दलील केवल बहाना ही होती है। क्योंकि वे अपने सगे भाई-बहन के साथ या सगे लड़के-लड़की के साथ वैसा छूट का व्यवहार नहीं रखते वैसा व्यवहार इन माने हुए भाई-बहन मां-बेटे या बाप-बेटी के साथ रखते हैं।

"धर्म का नाता जोड़नेवाले को यह सोचना चाहिये कि यह नाता धर्म के नाम पर जोड़ना है। अर्थात् उसमें परमार्थ की पवित्रता की कुलीनता की गंभीरता की वृद्धि होनी चाहिए। यह संबंध एकान्त में गप्पें मारने की साथ में घूमने-फिरने की पीठ या सिर पर हाथ रखते रहने की एक-दूसरे के साथ सटकर बैठने की या कारण-अकारण किसी न किसी बहाने से एक दूसरे को स्पर्श करने की छूट लेने के लिए नहीं होना चाहिये। वह एक दूसरे को मार्यादा रखने और बढ़ाने के लिए होना चाहिये और समाज में उसका ऐसा परिणाम आना ही चाहिये। उसमें निन्दा के लिये कोई गुंजाइश ही नहीं आनी चाहिये।[2] (मई १९४२)

८—'एक-दूसरे की सहायता करने में शरीर का स्पर्श एकांत-वास आदि की संभावना रहती ही है। 'उनका धीरे-धीरे बढ़नेवाला परिचय स्त्री-पुरुष-मर्यादा के नियमों का पालन ढीला करा देता है। दोनों एक दूसरे को भाई-बहन या 'धर्म के भाई-बहन' कहते हैं, परन्तु सगे भाई-बहिन के बीच भी न पाई जानेवाली निकटता और निःसंकोचता अनुभव करते हैं। उनके उठने-बैठने बातचीत करने वगैरह में शिष्टाचार जैसी कोई चीज नहीं रह जाती। यह व्यवहार आसपास के लोगों की निगाह में आता है। उन्हें इसमें सच्ची या झूठी विकार की शंका होती है। मनुष्य-स्वभाव के अनुसार वे अपनी शंका मुंह पर जाहिर नहीं करते या उस व्यवहार के बारे में रुचि-अरुचि गुप्त में ही प्रकट नहीं करते। लेकिन अन्दर ही अन्दर उनकी निन्दा करते हैं और लोगों में बातें फैलाते हैं। अन्त में वे दोनों विमुखता में अपनी निन्दा होती अनुभव करते हैं। 'विवाहित या अविवाहित दोनों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि शुद्ध व्यवहार का विश्वास उचित मर्यादाओं के पालन से ही कराया जा सकता है, मनमाने व्यवहार से नहीं। जो लोग मर्यादा-पालन में विश्वास नहीं रखते वे खुद ही लोक निन्दा को प्रोत्साहन देते हैं। उन्हें लोक-निन्दा से चिढ़ने और गुस्सा करने का कोई अधिकार नहीं है[3]।" (मई १९४२)

१—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (संस्थाओं का अनुशासन) पृ ११५ १११

२—वही (धर्म के भाई-बहन) पृ ११७-११८

३—वही (बुढ़ापे में विवाह) पृ १० १०३

१—" "जो स्त्री यह चाहती है कि उसकी पवित्रता कभी खतरे में न पड़े उसे ज्यादा सचेत रहने की जरूरत है।

'उसे पहले यह ख्याल या भ्रम तो छोड़ ही देना चाहिए कि सती-धर्म या पतिव्रत-धर्म के उसके संस्कार इतने बलवान हैं कि उनके कारण वह किसी पुरुष की ओर आकर्षित होगी ही नहीं। यह संस्कार बड़े महत्त्व के हैं। उनका बल भी बहुत होता है। फिर भी इस बल को इतना महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिये जिससे कोई स्त्री यह सोचने लगे कि पुरुषों के सहवास या संसर्ग में किसी तरह की मर्यादा का पालन न करने पर भी वह सुरक्षित है। इसलिए यह मानते हुए भी कि इन संस्कारों का बल बहुत बड़ा है, स्थूल मर्यादा के पालन में कभी लापरवाही नहीं करनी चाहिए'[1]। (३-१-१४)

२४-ब्रह्मचर्य और उपवास

महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य के साधनों में उपवास को भी गिनाया है (देखिए पृ ८१ पैरा ४)। उनके अनुसार इन्द्रिय-दमन के हेतु से इच्छापूर्वक किये हुए उपवास से इन्द्रिय को काबू में लाने में बहुत मदद मिलती है। गीता में कहा है—"निराहार रहनेवाले के विकार शान्त हो जाते हैं पर आत्म-दर्शन के बिना आसक्ति नहीं जाती। महात्मा गांधी इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं "गीता के श्लोक का अर्थ यह नहीं है कि काम को जीतने में निराहार व्रत से कोई सहायता नहीं मिलती। उसका मतलब तो यह है कि निराहार रहते हुए भी कभी थको नहीं और ऐसी दृढ़ता तथा लगन से ही आत्म-दर्शन हो सकता है। वह हो जाने पर आसक्ति भी चली जायगी।"

प्रश्न हो सकता है कि जिस उपवास को महात्मा गांधी ने अपने अनुभव से ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य अङ्ग कहा है, उसको भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए बताये गये नियमों में स्थान क्यों नहीं दिया? इसका क्या कारण है? यह पहले बताया जा चुका है कि बाड़ों का अर्थ है—ब्रह्मचारी के शील—आचार—व्यवहार की तालिका। उपवास ब्रह्मचारी का प्रति रोज का शील—आचार—व्यवहार नहीं। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए उपवास की कम आवश्यकता नहीं पर वह रोज का शील—धर्म नहीं। इसलिए उसका उल्लेख बाड़ों के प्रकरण में नहीं आया।

ब्रह्मचर्य की साधना करते हुए जब कभी भी आवश्यक हो उपवास करना चाहिए। स्थानाङ्ग में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए आहार छोड़ने की बात का उल्लेख आया है[3]।

निशीथ चूर्णि में लिखा है "यदि निर्बल आहार निर्बल आहार ऊनोदरी आदि से विकार की शान्ति न हो तो उपवास यावत् षट् मासिक तप करे। पारण में निर्बल आहार ले। उस से भी उपशम न हो तो कायोत्सर्ग करे"— 'तह वि य ठाति चउत्थादि-जाव-छम्मासियं तवं करेति पारणए निव्वइयमाहारमाहारेति। जइ उवसमति तो सुन्दरं। अह णोवसमति "ताहे" उड्ढट्ठाणं महंतं करेति कायोत्सर्ग-मित्यर्थः[4]।

इस तरह पाठक देखेंगे कि एक दो दिन के उपवास को ही नहीं पर षट् मासिक जैसे दीर्घ उपवास को भी ब्रह्मचर्य की उपासना में स्थान है।

ऐसा उल्लेख भी प्राप्त है कि यदि सारे उपाय कर चुकने के बाद भी ब्रह्मचारी अपने विकारों को शान्त करने में समर्थ न हो तो वह जीवन भर के लिए आहार छोड़ दे, पर स्त्री में मन न करे

उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि णिब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगामं दूइज्जेज्जा अवि आहारं वुच्छिंदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं।

जैन धर्म के अनुसार अनशन बारह तपों में से एक तप है। अवशेष तप इस प्रकार हैं ऊनोदरिका भिक्षाचर्या रस-परित्याग काय-

---

१—स्त्री-पुरुष मर्यादा (शील की रक्षा) पृ ३१

२—अनीति की राह पर पृ ११८

३—ठाणाङ्ग सू ५ छहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे आहारं वोच्छिंदमाणे णाइक्कमइ तं॰ आतंके उवसग्गे तितिक्खणे बंभचेरगुत्तीए पाणिदया तव हेउं सरीरवुच्छेयणट्ठाए

४—निशीथसूत्रम् उ १ भाष्यगाथा ५ ४ की चूर्णि

अनेक प्रतिसंलीनता प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत्य स्वाध्याय ध्यान और व्युत्सर्ग। जैन धर्म में इन सब तपों को ब्रह्मचर्य की साधना में सहायक माना है[1]।

२५-रामनाम और ब्रह्मचर्य

महात्मा गांधी ने रामनाम प्रार्थना उपासना ईश्वर में विश्वास—इनको ब्रह्मचर्य-रक्षा की साधना में अनन्य स्थान दिया है। वे लिखते हैं : 'ब्रह्मचर्य की रक्षा के जो नियम माने जाते हैं वे तो खेल ही हैं। सच्ची और अमर रक्षा तो रामनाम है[2]।" "विषय-वासना को जीतने का रामबाण उपाय तो रामनाम या ऐसा कोई मंत्र है। जिसकी जैसी भावना हो वैसे ही मंत्र का वह जप करे। "हम जो मंत्र अपने लिए चुनें उसमें हमें तल्लीन हो जाना चाहिए[3]।" "जब तुम्हारे विकार तुम पर हावी होना चाहें, तब तुम घुटनों के बल झुक कर भगवान से मदद की प्रार्थना करो[4]।" "विकाररूपी मल की शुद्धि के लिए हार्दिक उपासना एक जीवन-जड़ी है[5]।" "जो ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, वे अपने प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले होंगे तो उनके निराश होने का कोई कारण नहीं[6]।" गांधीजी के अनुसार राम कहिए अथवा ईश्वर 'शुद्ध चैतन्य है[7]।" "वह पहले था आज भी मौजूद है, आगे भी रहेगा। न कभी पैदा हुआ न किसी ने उसे बनाया[8]।

जैन दर्शन में रामनाम के स्थान में नवकार मंत्र है। नवकार मन्त्र के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह चौदह पूर्व अर्थात् सारे जैन वाङ्मय का सार है। इस मन्त्र के सम्बन्ध में प्राचीन ऋषियों ने कहा है—"यह सर्व पाप का प्रणाश करनेवाला है। सर्व मङ्गलों में प्रधान मङ्गल है।"

> एसो पंच-णमोक्कारो सव्व-पाव-प्पणासणो।
> मंगलाणंच सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं॥

यह नवकार मन्त्र इस प्रकार है "णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व-साहूणं।"

इस मन्त्र में पहले पद में अरिहंतों को नमस्कार किया जाता है। जिन्होंने आत्मा के राग-द्वेष आदि समस्त शत्रुओं का हनन कर इस देह में ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, उन्हें अरिहंत कहते हैं। अरिहंतों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे स्वयं संबुद्ध पुरुषोत्तम लोकप्रदीप अभयदाता चक्षुदाता मार्गदाता शरणदाता संयमी जीवन के दाता बोधिदाता धर्मसारथी अप्रतिहत श्रेष्ठ ज्ञानदर्शन के धारक जिन देह होते हुए भी मुक्त एवं सर्वज्ञ होते हैं। वे सारे भय स्थानों को जीत चुके होते हैं।

दूसरे पद में सिद्धों को नमस्कार किया जाता है। जो देह से मुक्त हो जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए छुटकारा पा चुके हैं और मोक्ष को पहुँच चुके हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं। सिद्ध अशरीर—शरीर रहित होते हैं। वे चैतन्यघन और केवलज्ञान-केवलदर्शन से संयुक्त होते हैं। साकार

१—तत्त्वार्थसूत्र ९ १९ भाष्य :

(क) अस्मात्षड्विधादपि बाह्यात्तपस: सङ्गत्यागशरीरलाघवेन्द्रियविजयसंयमरक्षणकर्मनिर्जरा भवन्ति।

(ख) निशीथ भाष्य गाथा ५७४ :

> णिव्वितिगणिव्वले ओमे तव उद्धाणमेव उब्भामे।
> वेयावच्चा हिंडण मंडलि कप्पट्ठियाहरणं॥

२—देखिए पीछे पृ ६७

३—ब्रह्मचर्य (प भा) पृ १ १

४—रामनाम पृ ६

५—गांधी वाणी पृ ७४

६—देखिए पीछे पृ ६१

७—रामनाम पृ १

८—वही पृ ११

आसान होगा। इसी प्रकार ब्रह्मचारी मनुष्य का जीवन तप से—संयम से—ओतप्रोत रहता है। पर उसके सामने रहनेवाली विशाल वस्तु के हिसाब से सारा संयम उसे अल्प ही मालूम पड़ता है। इन्द्रिय-निग्रह मैं करता हूं ऐसा कर्तरि प्रयोग न रहकर इन्द्रिय निग्रह किया जाता है, यह कर्मणि प्रयोग बन जाता है। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-पालन करनेवाले की आँखों के सामने कोई विशाल वस्तु होनी चाहिए, तभी ब्रह्मचर्य आसान होता है। ब्रह्मचर्य को मैं विशाल ध्येयवाद और तदर्थ संयमाचरण कहता हूं[1]।

श्री मशरूवाला इसी विचार को और भी स्पष्ट रूप से रख पाये हैं

जॉन रस्किन के बुढ़ापे में किसी ने उनसे पूछा—'आप किस उद्देश्य से अविवाहित रहे?' वे इस प्रश्न से विचार में पड़ गये। थोड़ी देर बाद बोले—'भाई आज ही आपने यह प्रश्न सुझाया है। मेरा जीवन विज्ञान के अध्ययन में कैसे बीत गया इसका मुझे पता ही नहीं चला। मेरे मन में यह विचार ही कभी पैदा नहीं हुआ कि विवाह किया जाय या न किया जाय अथवा मैं विवाहित हूं या अविवाहित।

'हमारे पुराणों में अत्रि ऋषि और सती अनसूया की कथा भी ऐसी ही आदर्शवाली है। वे विवाहित दम्पति थे लेकिन ऋषि का यौवनकाल अपने अभ्यास में और सती की युवावस्था ऋषि के लिए सुविधाएं जुटाने और काम काज में ऐसी बीत गई कि बुढ़ापा कब आ गया इसका उन्हें पता नहीं चला। पुराणकार कहते हैं कि एक बार अत्रि ऋषि अपने अध्ययन में मग्न हुये थे इतने में दिये में तेल खत्म हो गया। उन्होंने तेल माँगने की इच्छा से ऊपर देखा तो बुढ़ापे के कारण अनसूया की आँख लगी मालूम हुई। अत्रि ने जब अनसूया की तरफ ध्यान से देखा तो वे बूढ़ी जान पड़ी। इसलिए उन्होंने अपनी दाढ़ी की तरफ देखा तो वह भी सफेद दिखाई दी। तारुण्य-अवस्था कब चली गई, इसका अत्रि को पता ही नहीं चला। इस कथा में काव्य की अतिशयोक्ति जरूर होगी लेकिन ब्रह्मचारी के लिए अभ्यासपूर्ण जीवन बिताने का एक उत्तम आदर्श बताया गया है और रस्किन की अनुभव वाणी का यह कथा समर्थन करती है[2]।

श्री विनोबाजी और मशरूवाला ने जो विचार दिया है वह ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में बहुत पुराना है। निशीथ सूत्र की चूर्णि में निम्न कथा मिलती है जो इस विषय को स्वयं स्पष्ट कर देती है:

'एक गृहस्थ लड़की निठल्ली और सुखपूर्वक रहती थी। वह तल मर्दन उबटन स्नान विलेपन आदि शारीरिक शृ गार में परायण थी। बनाव-शृ गार के कारण उसके मन में मोह उत्पन्न हुआ। वह अपनी धाय माँ से बोली—"मेरे लिये कोई पुरुष ला दो।" उस धाय माँ ने उसकी माँ को जाकर कहा। माँ ने उसके पिता को कहा। पिता ने अपनी पुत्री को बुला कर कहा—"पुत्री! ये दासियाँ अपना सब धन अपहरण करके ले जाती हैं अतः तुम स्वयं कोठे की देखरेख करो।" उसने कहा—ठीक और कोठे के देख रेख का काम करने लगी। वह किसी को भोजन देती किसी को उसकी तनख्वाह वृत्ति और किसी को चावल देती। कितना कोठार में आया है, कितना व्यय हुआ है, इस प्रकार दिनभर काम में व्यतीत हो जाता। वह दिनभर के काम से खूब थक जाती और अपनी शय्या पर जाकर सो जाती। एक दिन धाय माँ ने कहा— 'बेटी पुरुष लाऊं?' वह बोली—"मुझे पुरुष से क्या काम? अब मुझे सोने दो'।

"इस प्रकार गीतार्थी के भी दिनभर सूत्रार्थ में लगे रहने से स्वाध्याय में तन्मय रहने से काम-संकल्प उत्पन्न नहीं होते[3]।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी ध्येय में रात दिन लगे रहने से ब्रह्मचर्य का पालन एक आसान चीज बन जाती है। विनोबाजी ने सब से विशाल ध्येय परमेश्वर का साक्षात्कार करना कहा है। वे लिखते हैं—

१—विनोबा के विचार (दू भा० च० आ) पृ १६–२१

२—स्त्री-पुरुष-मर्यादा पृ २१-२६

३—नि० भा ५७४ चूर्णि:

एगस्स कुडुंबियस्स धूया निक्कम्मवावारा सुहासणत्था अच्छति। तस्स य अब्भंगुव्वट्टण-ण्हाण विलेवणादिपरायणाए मोहुब्भवो। अम्मधातिं भणति। आणेहि मे पुरिसं। तीए अम्मधातीए माउए से कहियं। तीए वि पिउणो। पिउणा वाहिरत्ता भणिया, पुत्ति! एताओ दासीओ सव्वधणादि अवहरंति तुमं कोट्ठागारं पडियरसु तह त्ति पडिवज्जं सा-जाव अण्णस्स भत्तं देति अण्णस्स वित्तिं, अण्णस्स तंदुला अण्णस्स आयं देयं ति अण्णस्स वय एवमादिकिरियाए वावडाए दिवसो गतो। सा अतीव किलंता रयणीए णिवण्णा अम्मधातीए भणिता—आणेमि ते पुरिसं? सा भणति—ण मे पुरिसेण कज्जं णिद्दं लहामि। एवं गीयत्थस्स वि सुत्तपोरिसिं दतस्स अतीव सुत्तत्थ वावडस्स कामसंकप्पो ण जायइ। भणितं च "काम! जानामि ते मूलं" सिलोगो॥

किसी भी विशाल ध्येय के वास्ते भी ब्रह्मचर्य की साधना की जाती है। जैसे भीष्म ने अपने पिता के लिए ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की थी। उनका जो आरंभ हुआ वह ब्रह्म की प्राप्ति के लिए नहीं हुआ। फिर भी उनका जो ध्येय था, वह बड़ा ही था। अपने पिता के लिए उन्होंने त्याग किया और फिर उसका अर्थ उन्होंने गहरा सोच लिया। उसी तरह गांधीजी ने भी समाज की सेवा के लिए ब्रह्मचर्य का आरंभ किया। लेकिन बाद में उनका विचार उस चीज की गहराई में पहुँचा। गांधीजी ने भी जो आरम्भ किया वह अन्तिम उद्देश्य से— ब्रह्म की प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं किया बल्कि समाज-सेवा के लिए किया। वह भी एक विशाल ध्येय है। फिर उनका विचार विकसित होता गया।

इसी तरह ब्रह्मचर्य दूसरे कामों के लिए भी होता है। तन्मयता में एक बड़ी शक्ति है। किसी एक ध्येय में तन्मय हो जाओ, रात दिन वही बात सूझे तो ब्रह्मचर्य सध सकता है। माना कि वह पूरा ब्रह्मचर्य नहीं है। कारण जब तक ब्रह्मनिष्ठा उत्पन्न नहीं होती है, तब तक पूरा ब्रह्मचर्य नहीं कहा जा सकेगा[1]।

इन सब में सबसे विशाल ध्येय है आत्म-शोधन। जो रात दिन आत्म-शोधन में लगा रहता है, उसका ब्रह्मचर्य अपने आप सधता है।

२७-ब्रह्मचर्य और आत्मघात

ऐसे अवसर आ सकते हैं जब किसी बहिन पर बलात्कार होने की परिस्थिति पैदा हो गई हो। ऐसी स्थिति में अपने शील की रक्षा के लिए बहिन क्या करे?

ऐसे ही प्रश्न का उत्तर देते हुए, एक बार महात्मा गांधी ने कहा था : "बहुत स्त्रियाँ यह मानती हैं कि अगर उनकी रक्षा करनेवाला कोई दूसरा आदमी न हो या वे खुद कटारी या बन्दूक वगैरह का इस्तेमाल करना न सीखी हों तो उनके लिए ज़ालिम के वश में हो जाने के सिवा और कोई उपाय ही नहीं। ऐसी स्त्री से मैं ज़रूर कहूँगा कि उसे पराये के हथियार पर भरोसा रखने की कोई ज़रूरत नहीं। उसका शील ही उसकी रक्षा कर लेगा। अगर ऐसा न हो सके तो कटारी वगैरह काम में लेने के बजाय वह आत्म-हत्या कर सकती है। अपने को कमज़ोर या अबला मान लेने की कोई आवश्यकता नहीं[2]।" (१-७-१२)

उन्होंने दूसरी बार कहा— "जिसका मन पवित्र है, उसे विश्वास रखना चाहिए कि पवित्रता की रक्षा ईश्वर ज़रूर करेगा। हथियारों का आधार झूठा है। हथियार छीन लिए जाय तो? अहिंसा-धर्म का पालन करनेवाला हथियारों का भरोसा न रखे। उसका हथियार उसकी अहिंसा उसका प्रेम है।" जो अहिंसा-धर्म का पालन करता है, वह मरकर ही अपनी रक्षा करेगा मारकर नहीं। स्त्रियों को द्रौपदी की तरह विश्वास रखना चाहिए कि उनकी पवित्रता (यानी ईश्वर) उनकी रक्षा करेगी[3]। (११-७-१२)

इसी समस्या पर विचार करते हुए उन्होंने बाद में लिखा : "यदि लड़कियों को मालूम होने लगे कि उनकी लाज और धर्म पर हमला होने का खतरा है, तो उनमें उस पशु मनुष्य के आगे आत्म-समर्पण करने के बजाय मर जाने तक का साहस होना चाहिए। कहा जाता है कि कभी-कभी लड़की को इस तरह बाँधकर या मुँह में कपड़ा ठूँसकर विवश कर दिया जाता है कि वह आसानी से मर भी नहीं सकती जैसे कि मैंने सलाह दी है। लेकिन मैं फिर भी जोरों के साथ कहता हूँ कि जिस लड़की में मुकाबिले का दृढ़ संकल्प है वह उसे असहाय बनाने के लिए बाँधे गये सब बन्धनों को तोड़ सकती है। दृढ़ संकल्प उसे मरने की शक्ति दे सकता है[4]।" (११-१२-१८)

महात्मा गांधी ने एक बार यह भी कहा—"आत्म-हत्या करने का धर्म अपने आप सूझना चाहिए। कोई स्त्री बलात्कार न होने दे [illegible] आत्म-हत्या करना पसंद न करे तो किसी को या मुझे यह कहने का हक नहीं है कि उसने पाप किया[5]।" (१-७-१२)

महात्मा गांधी ने शील रक्षा के लिए आत्म हत्या की राय दी उसके पीछे निम्न भावना थी :

कोई औरत आत्म-समर्पण करने के बजाय निश्चय ही आत्म हत्या करना ज्यादा पसंद करेगी। दूसरे शब्दों में जिसकी भी मेरी योजना में आत्म-समर्पण का कोई स्थान नहीं। [illegible] यह पूछा गया था कि आत्म हत्या का [illegible] की जाय? मैंने तुरंत जवाब दिया

१—महादेवभाई की डायरी (पहला भाग) पृ० १४
२—वही पृ० ११
३—हरिजन (?) पृ० ११
४—महादेवभाई की डायरी (पहला भाग) पृ० १४

कि आत्म-हत्या के साधन सुझाना मेरा काम नहीं। और ऐसी हालतों में आत्म-हत्या की स्वीकृति देने के पीछे यह विश्वास था और है कि जो आत्म-हत्या करने के लिए भी तैयार है, उनमें ऐसे मानसिक विरोध और आत्मा की ऐसी पवित्रता के लिए वह जरूरी ताकत मौजूद है जिसके सामने हमला करनेवाला अपने हथियार डाल देता है[1]।" (२७-९-'४७)

विकारी व्यक्ति के लिए आत्म-हत्या किस तरह धर्म रूप में उत्पन्न होती है, इसपर प्रकाश डालते हुए महात्मा गांधी ने लिखा है :

"साधारण तौर से जन धर्म में भी आत्मघात को पाप माना जाता है। परन्तु जब मनुष्य को आत्मघात और भ्रष्ट मति के बीच चुनाव करने का प्रसंग आवे तब यही कहा जा सकता है कि उस हालत में उसके लिए आत्म घात ही कर्त्तव्यरूप है। एक उदाहरण लीजिए किसी पुरुष में विकार इतना बढ़ जाय कि वह किसी स्त्री की आबरू लेने पर उतारू हो जाय और अपने आप को रोकने में असमर्थ हो लेकिन यदि उस वक्त उसमें थोड़ी भी बुद्धि जाग्रत हो और वह अपनी स्थूल देह का अन्त करदे, तो वह अपने आप को इस नरक से बचा सकता है[2]।" (१२-१२-'४८)

इस सम्बन्ध में भगवान महावीर के विचार निम्न रूप में प्राप्त हैं :

"जिस भिक्षु को ऐसा हो कि मैं निश्चय ही उपसर्ग से घिर गया हूँ और शीत-स्पर्श को सहन करने में समर्थ नहीं हूँ वह संयमी अपने समस्त ज्ञान-बल से उस अकार्य को न करता हुआ अपने को संयम में अवस्थित करे। (अगर उपसर्ग से बचने का कोई उपाय नजर नहीं आवे तो) तपस्वी के लिए श्रेय है कि वह कोई वेहानसादि अकाल-मरण स्वीकार करे। निश्चय ही यह मरण भी उस साधक के लिए काल-पर्याय—समय-प्राप्त मरण है। इस मरण से भी वह साधक कर्म का अन्त करनेवाला होता है। यह मरण भी मोह रहित व्यक्तियों का आयतन—स्थान रहा है। यह हितकारी है, सुखकारी है, क्षेमकर है, निःश्रेयस है और अनुगामी—पर-जन्म में शुभ फल देनेवाला है[3]।"

टीकाकार ने मूल के 'सीयफासं' (शीत-स्पर्श) शब्द का अर्थ किया है—स्त्री आदि का उपसर्ग (स्त्र्याद्युपसर्गाः)। 'विहमाइए' का अर्थ किया है—विहायोगमनादि मरण। वे लिखते हैं—"अल्पसंहनन के कारण यदि भिक्षु के मन में ऐसा अध्यवसाय हो कि मैं स्त्री-उपसर्ग से स्पृष्ट हो गया हूँ अतः मेरे लिए शरीर छोड़ना ही श्रेय है मैं स्पर्श को सहन करने में असमर्थ हूँ तो उसे भक्तपरिज्ञा इङ्गित पादोपगमन मरण करना चाहिए। यदि उसे ऐसा लगे कि कालक्षेप का अवसर नहीं तो वह वेहानस गार्द्धपृष्ठ जैसे आकस्मिक मरण को प्राप्त हो। यदि साधु को अर्द्ध-कटाक्ष निरीक्षण आदि के उपसर्ग हों तो वह स्वयं से काम न करे। अपनी आत्मा को व्यवस्थित रखे। यदि उसे स्त्री द्वारा उपसर्ग प्राप्त हो और विष-भक्षण आदि उपायों के करने में तत्पर होने हुए भी वह स्त्री उसे नहीं छोड़े तो ऐसे उपसर्ग के समय ऐसा मरण ही श्रेय है। जैसे किसी को उसके आत्मियों द्वारा सपत्नीक कोठे में प्रविष्ट कर दिया जावे तथा प्रणय आदि भावों से वह प्रेमसी भोग की प्रार्थना करने लगे और वहाँ से निकलने का उपाय नहीं हो तो आत्मोद्धरण के लिए वह भिक्षु विहाय मरण को प्राप्त हो विष-पान करले गिर पड़े अथवा सुदर्शन की तरह प्राणों को छोड़े।

"यहाँ प्रश्न हो सकता है—वेहानसादि बालमरण कहे गये हैं। वे अनर्थ के हेतु हैं। आगम में कहा है 'इच्चेयं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ जाव अणाइयं च णं अणवदग्गं चाउरंतं संसारकंतारं भुज्जो भुज्जो परियट्टइ' त्ति"। फिर इस मरण की संगति कैसे ? इसका उत्तर यह है कि अर्हतों ने एकान्ततः न किसी बात का प्रतिषेध किया है और न किसी का प्रतिपादन। एक मैथुन ही ऐसा है जिसका सदा प्रतिषेध है। द्रव्यक्षेत्रकाल भाव के अनुसार जिसका प्रतिषेध होता है वह प्रतिपाद्य हो जाता है। उत्सर्ग मार्ग भी गुण के लिए है और अपवाद मार्ग भी गुण के लिए। जो कालज्ञ है उसके लिए मैथुन से बचने के अभिप्राय से वेहानसादि मरण भी कालप्राप्त मरण की तरह ही है[4]।"

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५१

२—वही पृ० ७१

३—आचाराङ्ग १।८।४ : जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए, से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स कालपरियाए से वि तत्थ विअंतिकारए इच्चेयं विमोहायतणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं ति बेमि।

४—आचाराङ्ग १।८।४ की टीका

स्थानाङ्ग सूत्र में बारह प्रकार के मरण का उल्लेख है[1]—

(१) बलन्मरण—परीषह आदि की बाधा के कारण संयम से भ्रष्ट होकर मरना।

(२) वशार्त्त मरण—स्निग्ध दीपक-कलिका के अवलोकन में आसक्त पतंग आदि के मरण की तरह, इन्द्रियों के वश में होकर मरना।

(३) निदान मरण—समृद्धि और भोग आदि की कामना करते हुए मरना।

(४) तद्भव मरण—जिस भव में हो उसी भव की आयु का बन्ध करके मरना।

(५) गिरिपतन मरण—पर्वत से गिरकर मरना।

(६) तरुपतन मरण—वृक्ष से गिर कर मरना।

(७) जलप्रवेश मरण—जल में प्रविष्ट होकर मरना।

(८) अग्निप्रवेश मरण—अग्नि में प्रवेश कर मरना।

(९) विषभक्षण मरण—विष खाकर मरना।

(१) शस्त्रावपाटन मरण—छुरिकादि शस्त्र से अपने शरीर को विदीर्ण कर मरना।

(११) वैहायस मरण—वृक्ष की शाखा से बन्धकर—लटक कर मरना।

(१२) गृध्रस्पृष्ट मरण—पक्षी द्वारा स्पृष्ट होकर मरना।

इन ऊपर के मरणों के सम्बन्ध में कहा गया है कि भगवान महावीर ने कभी इनकी प्रशंसा नहीं की कीर्ति नहीं की और अनुमति नहीं दी। कारण होने पर केवल अन्तिम दो को निवारित नहीं किया। कारण का खुलासा करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि 'शीलरक्षणार्थं' अर्थात् शील रक्षण आदि प्रयोजन के लिए अन्तिम दो मरण निवारित नहीं हैं। एक प्राचीन गाथा में इन दोनों मरणों को अनुज्ञात कहा है[2]।

उपर्युक्त विवेचन से फलित है कि जैन धर्म के अनुसार संयम से भ्रष्ट होकर मरना इन्द्रियों के वश होकर मरना गर्ह्य है और इन्हें बालमरण कहा है। वैसे ही संयम की रक्षा के लिए वैहायस गृध्रस्पृष्ट मरण की अनुज्ञा भी दी है।

यह यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जैन साध्वियाँ अपने पास विहार के समय रस्सियाँ रखती हैं और शील विषयक उपसर्ग के उपस्थित होने पर उनके द्वारा फाँसी खाकर शील रक्षा कर सकती हैं।

२८ ब्रह्मचर्य और भावनाएँ

जैन धर्म में ऐसी भावनाएं—अनुप्रेक्षाएं—दृष्टियों का भी वर्णन मिलता है, जिनका बार-बार चिन्तन करने से ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य में दृढ़ रह सकता है। उदाहरणस्वरूप

(१) त्यागे हुए भोगों को पुनः भोगने की इच्छा करना वमन की हुई वस्तु को पीना है। इससे तो मरना भला[3]।

१—ठाणाङ्ग सू० १ २ :

इमाइं दो मरणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णो णिच्चं वण्णियाइं णो णिच्चं कित्तियाइं णो णिच्चं बुइयाइं णो णिच्चं पसत्थाइं णो णिच्चं अब्भणुण्णायाइं भवंति कारणेणं पुण अप्पडिकुट्ठाइं तं जहा—वेहाणसे चेव गिद्धपिट्ठे चेव।

२—ठाणाङ्ग सू० १ २ की टीका में उद्धृत

गद्धाइभक्खणं गद्धपट्ठ उब्बंधणाइ वेहासं।

एए दोन्नि वि मरणा कारणजाए अणुन्नाया॥

३—उत्तराध्ययन २२ : ४२ :

धिरत्थु ते जसोकामी जो तं जीवियकारणा।

वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे॥

(२) यदि समभावपूर्वक विचरते हुए भी यह मन कदाचित् बाहर निकल जाय तो साधक सोचे—"वह न मेरी है और न मैं उसका हूँ[1]।"

(३) नरक में गये हुए दुःख से पीड़ित और निरन्तर क्लेशवृत्तिवाले जीव की भी नरक सम्बन्धी पल्योपम और सागरोपम की आयु भी समाप्त हो जाती है, तो फिर मेरा यह मनोदुःख तो कितने काल का है?[2]

(४) यह मेरा दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा। जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वती है। यदि विषय-तृष्णा इस शरीर से न जायगी, तो मेरे जीवन के अन्त में तो अवश्य जायगी[3]।

(५) एक दिन इन मनोरम कामभोगों को छोड़कर चल बसना है। इस संसार में धर्म ही त्राण है। धर्म के सिवा अन्य वस्तु नहीं है जो दुर्गति से रक्षा कर सके[4]।

(६) जैसे घर में आग लगने पर गृहपति सार वस्तुओं को निकालता है और असार को छोड़ देता है, उसी तरह जरा और मरणरूपी अग्नि से जलते हुए इस संसार में अपनी आत्मा का उद्धार करूँगा[5]।

(७) जिसमें मैं मूर्च्छित हो रहा हूँ—वह जीवन और रूप विद्युत्सम्पात की तरह चंचल है[6]।

(८) स्त्री का शरीर जिसके प्रति मैं मोहित हूँ अशुचि का भण्डार है[7]।

१—दशवैकालिक २.४ :

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं॥

२—दशवैकालिक चू० १.१५ :

इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो, दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं॥

३—वही १.१६ :

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ, असासया भोगपिवास जंतुणो।
न मे सरीरेण इमेणऽवेस्सइ, अविस्सई जीवियपज्जवेण मे॥

४—उत्तराध्ययन १४.४ :

मरिहिसि रायं जया तया वा मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि॥

५—वही १९.२२-२३ :

जहा गेहे पलित्तम्मि तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभण्डाणि नीणेइ असारं अवउज्झइ॥
एवं लोए पलित्तम्मि जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि तुब्भेहिं अणुमन्निओ॥

६—वही १८.१३ :

जीवियं चेव रूवं च विज्जुसंपायचंचलं।
जत्थ तं मुज्झसि रायं पेच्चत्थं नाव बुज्झसि॥

७—आचारांग १.२.५ :

अंतो अंतो पूइदेहंतराणि पासइ पुढोवि सवंताइं पंडिए पडिलेहाए

(९) जीव जो शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है, उन कर्मों से संयुक्त हो परलोक को जाता है। उसके दुःख में दूसरा कोई भाग नहीं बंटा सकता। मनुष्य को स्वयं अकेले को ही दुःख भोगना पड़ता है। कर्म करनेवाले का ही पीछा करता है उसे ही कर्म-फल भोगना पड़ता है[1]।

(१०) ये काम-भोग त्राणरूप नहीं शरणरूप नहीं। कभी तो मनुष्य ही काम-भोगों को छोड़कर चल देता है। और कभी काम-भोग ही मनुष्य को छोड़ कर चल देते हैं। ये काम-भोग अन्य हैं और मैं अन्य हूँ। फिर मैं इन काम-भोगों में मूर्च्छित क्यों होता हूँ[2]?

(११) यह शरीर अनित्य है, अशुचिपूर्ण है और अशुचि से उत्पन्न है। यह आत्मारूपी पक्षी का अस्थिर वास है और दुःख तथा क्लेश का भाजन है। अतः मुझे मानुषिक काम-भोग में आसक्त, रक्त, गृद्ध, मूर्च्छित नहीं होना चाहिए और न अप्राप्त भोगों को प्राप्त करने की लालसा करनी चाहिए[3]।

(१२) विषय और स्त्रियों में आसक्त जीव स्थावर और जङ्गम योनियों में बार-बार भ्रमण करता है[4]।

(१३) जो सर्व साधुओं को मान्य संयम है, वह पाप का नाश करनेवाला है। इस संयम की आराधना कर बहुत जीव संसार-सागर से पार हुये हैं और बहुतों ने देव-भव प्राप्त किया है[5]।

(१४) जैसे लेपवाली भित्ति लेप गिराकर क्षीण कर दी जाती है उसी तरह अनशनादि तप द्वारा अपनी देह को कृश करना चाहिए[6]।

१—(क) उत्तराध्ययन १८.१७

तेणावि जं कयं कम्मं सुहं वा जइ वा दुहं।
कम्मुणा तेण संजुत्तो गच्छई उ परं भवं॥

(ख) वही १३.२३ :

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं॥

२—सूत्रकृताङ्ग २.१.१३ :

इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा। पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहइ कामभोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहन्ति। अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि। से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो?

३—(क) उत्तराध्ययन १९.१३

इमं सरीरं अणिच्चं असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं दुक्खकेसाण भायणं॥

(ख) ज्ञाताधर्म कथाङ्ग ८ :

तं मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया माणुस्सएसु कामभोगेसु।
सज्जह रज्जह गिज्झह मुज्झह अज्झोववज्जह॥

४—सूत्रकृताङ्ग १.१.१४

जमाहु ओहं सलिलं अपारगं जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं दुहओऽवि लोयं अणुसंचरन्ति॥

५—वही १.१५.२४ :

जं मयं सव्व साहूणं तं मयं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा देवा वा अभविंसु ते॥

६—वही १.२.१.१४

धुणिया कुलियं व लेववं।
किसए देहमणासणा इह॥

(१५) अपनी आत्मा को कसना चाहिए। उसको जीर्ण—पतली करना चाहिए। तप से शरीर को क्षीण करना चाहिए[1]।

(१६) जिन्हें तप, संयम और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे शीघ्र ही अमर-भवन को प्राप्त करते हैं[2]।

(१७) मनुष्यों के सब सदाचार सफल होते हैं। जीवन अशाश्वत है। जो इसमें पुण्य, सत्कर्म और धर्म नहीं करता, वह मृत्यु के मुख में पड़ने के समय पश्चात्ताप करता है[3]।

(१८) भोग से ही कर्मों का लेप—बन्धन—होता है। भोगी को जन्म-मरण रूपी संसार में भ्रमण करना पड़ता है जब कि अभोगी संसार से छूट जाता है[4]।

(१९) काम-भोग शल्य रूप हैं। काम भोग विषरूप हैं। काम भोग जहरी नाग के सदृश हैं। भोगों की प्रार्थना करते-करते जीव बिचारे उनको प्राप्त किए बिना ही दुर्गति में चले जाते हैं[5]।

(२०) आत्मा ही सुख और दुःख को उत्पन्न करने और न करनेवाली है। आत्मा ही सदाचार से मित्र और दुराचार से अमित्र—शत्रु है[6]।

(२१) अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध कर। बाहरी युद्ध करने से क्या मतलब? दुष्ट आत्मा के समान युद्ध योग्य दूसरी वस्तु दुर्लभ है[7]।

१—आचाराङ्ग १, ४।३ : ४-५

कसेहि अप्पाणं।
जरेहि अप्पाणं॥
इह आणाकंखी पंडिए।
अणिहे एगमप्पाणं।
संपेहाए धुणे सरीरगं।

२—दशवैकालिक ४ : २८ :

पच्छा वि ते पयाया खिप्पं गच्छन्ति अमरभवणाइं।
जेसिं पिओ तवो संजमो य खन्ती य बम्भचेरं च॥

३—उत्तराध्ययन १३ : १०, २१ :

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहि आया ममं पुण्णफलोववेए॥
इह जीविए राय असासयम्मि धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परंमि लोए॥

४—वही २५ : ४१ :

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे अभोगी विप्पमुच्चई॥

५—वही ९ : ५३ :

सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा अकामा जन्ति दोग्गइं॥

६—वही २० : ३७

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥

७—आचाराङ्ग ५।३ : १५३ :

इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
जुद्धारिहं खलु दुल्लभं।

(२२) तू ही तेरा मित्र है। बाहर क्यों मित्र की खोज करता है? हे पुरुष! अपनी आत्मा को ही वश में कर। ऐसा करने से तू सर्व दुःखों से मुक्त होगा[1]।

आगम में कहा है—"जिसकी आत्मा इस प्रकार दृढ़ होती है, वह देह को त्याग देता है, पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ता। इन्द्रियाँ (विषय-सुख) ऐसे दृढ़ धर्मी पुरुष को उसी तरह विचलित नहीं कर सकतीं जिस तरह महावायु सुदर्शन गिरि को[2]। "जिस तरह नौका प्रवाह जल को पार कर किनारे लगती है, उसी तरह जिसकी प्रकार आत्मा भावनारूपी योग—चिन्तन से विशुद्ध निर्मल होती है, वह संसार-समुद्र को तिर कर—सर्व दुःखों को पार कर, परम सुख को प्राप्त करता है। छुरा अपने अन्त पर—धार पर चलता है और चक्का भी—पहिया भी अपने अन्त—किनारों पर चलता है। धीर पुरुष भी अन्त का सेवन करते हैं—एकान्त निश्चित सत्यों पर जीवन को स्थिर करते हैं और इसीसे वे संसार का—बार-बार जन्म-मरण का अन्त करते हैं[3]।"

२९-ब्रह्मचर्य और निरन्तर संघर्ष

संत टॉल्स्टॉय ने कहा है "जो पतन से बचा हुआ है, उसे चाहिए कि इसी तरह बचे रहने के लिए वह अपनी तमाम शक्तियों का उपयोग करे। क्योंकि गिर जाने पर उठना सैकड़ों नहीं हजारों गुना कठिन हो जायगा। संयम का पालन करना अविवाहित और विवाहित-दोनों के लिए श्रेयस्कर है।

"मनुष्य का कर्त्तव्य है कि संयम की आवश्यकता को समझ ले। वह समझ ले कि विवेकशील मनुष्य के लिए विकारों से छुटकारा अस्वाभाविक नहीं, बल्कि उसके जीवन का पहला नियम है। मनुष्य केवल पशु नहीं एक विवेकशील प्राणी है।

"प्रकृति ने मनुष्य के अन्दर कामुकता और अन्य पाशविक वृत्तियों के साथ-साथ ब्रह्मचर्य और पवित्रता की पोषक आध्यात्मिक वृत्ति भी दी है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उसकी रक्षा और संवर्धन करे।

"सत्य और सत् के लिए सतत् का प्रयत्न करते रहना। अपनी पवित्रता की रक्षा में सारी शक्ति लगा देना। प्रलोभनों के साथ खूब लड़ना किसी हालत में हिम्मत न हारना। लगाम को कभी ढीली न करना।

"मेरा तो उपदेश यही है और इस पर, मैं खूब जोर दूँगा कि अपने जीवन के ध्येय को समझो। याद रखो कि शारीरिक विषय-सुख नहीं बल्कि ईश्वर के आदर्शों का पालन मनुष्य के जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य है। विलासयुक्त नहीं आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करो।

"ब्रह्मचर्य वह आदर्श है, जिसके लिए प्रत्येक मनुष्य को हर हालत में और हर समय प्रयत्न करना चाहिए। जितना ही तुम उसके नजदीक जाओगे उतना ही अधिक परमात्मा की दृष्टि में प्यारे होगे और अपना अधिक कल्याण करोगे। विलासी बन कर नहीं, बल्कि पवित्रता युक्त जीवन व्यतीत करके ही मनुष्य परमात्मा की अधिक सेवा कर सकता है[4]।

१—आचारांग १।३ ११७-८

पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसी?
पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि॥

२—दशवैकालिक चू. १ १७।

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिया उवेंतवाया व सुदंसणं गिरिं॥

३—सूत्रकृतांग १ १५ : ५, १४ १५ :

भावणा जोगसुद्धप्पा जले नावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना सव्वदुक्खा तिउट्टई॥
न हु चक्खू मणुस्साण ज कसाए य अन्तए।
अन्तेण खुरो वहई चक्कं अन्तेण लोट्टई॥
अन्ताणि धीरा सेवन्ति तेण अन्तकरा इह॥

४—स्त्री और पुरुष पृ. १५ १५३

'अर्थशास्त्र के क्षेत्र में जिस प्रकार अकाल पीड़ित को एक बार या अनेक बार भोजन करा देने से उसके पेट का सवाल हल नहीं होता उसी प्रकार शारीरिक विषयोपभोग से मनुष्य को कभी सन्तोष नहीं होता। फिर सन्तोष कैसे होगा? ब्रह्मचर्य के आदर्श की सम्पूर्ण कल्पना को भली भाँति समझ लेने से अपनी कमजोरी पूर्णतया स्पष्टरूप से देख लेने से और उसे दूर कर उस उच्च आदर्श की ओर बढ़ने का निश्चय करने से।

"संघर्ष जीवनमय और जीवन संघर्षमय है। विश्रान्ति का नाम भी न लीजिए। आदर्श हमेशा सामने खड़ा है। मुझे तब तक शान्ति नसीब नहीं हो सकती जब तक मैं उस आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकता[1]।

'संसार की जितनी लड़ाइयाँ हैं, उनमें कामाभिलाषा (मदन) के साथ होनेवाली लड़ाई सबसे ज्यादा कठिन है, और सिवाय प्रारम्भिक बाल्यावस्था तथा अत्यन्त वृद्धावस्था के कोई भी ऐसी अवस्था अथवा समय नहीं है, जिसमें मनुष्य इससे मुक्त हो। इसलिए किसी मनुष्य को इस लड़ाई से न तो कभी हताश होना चाहिए और न कभी अवस्था की प्राप्ति की आशा करनी चाहिए जिसमें इसका अभाव हो। एक क्षण के लिए भी किसी को निर्बलता न दिखानी चाहिए, किन्तु उन समस्त साधनों को एकत्र कर उनका उपयोग करना चाहिए, जो उस शत्रु को निःशस्त्र बना देते हैं। उन बातों का परित्याग कर देना चाहिए जो शरीर और मन को उत्तेजित (दूषित) करनेवाली हों और हमेशा काम करने में व्यस्त रहना चाहिए।

'पर प्रधान और सर्वोत्तम उपाय तो अविरत संघर्ष ही है। मनुष्य के दिल में हमेशा यह भाव जाग्रत रहना चाहिए कि यह संघर्ष कोई नैमित्तिक या अस्थायी अवस्था नहीं बल्कि जीवन की स्थायी और अपरिवर्तनीय अवस्था है[2]।"

जैन धर्म में भी सतत् जागृति को संयमी का परम धर्म कहा है। वह सोते हुओं में जाग्रत रहे— 'सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी' भारंडपक्षी की तरह अप्रमत्त रहे—"भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्तो", मुहूर्तमात्र भर भी प्रमाद न करे—"मुहुत्तमवि णो पमायए"। वीर पुरुष संयम में अरति को सहन नहीं करता और न असंयम में रति को सहन करता है। चूंकि वीर पुरुष संयम में अनमनस्क नहीं होता अतः असंयम में अनुरक्त नहीं होता—"नारइं सहई वीरे वीरे न सहई रतिं। जम्हा अविमणे वीरे तम्हा वीरे न रज्जई।" वह असंयम जीवन में आनन्द भाव को घृणा की दृष्टि से देखे— 'निर्व्विंद नंदिं इह जीवियस्स।' ज्ञानी जिसे आत्मा-साधना के सिवा अन्य कुछ परम नहीं कभी प्रमाद नहीं करता—"अणन्नपरमं नाणी णो पमाए कयाइ वि।" ये सारी आज्ञाएं अविश्रान्त रूप से जाग्रत रहने की ही प्रेरणाएं देती हैं। वास्तव में ही संयमी के लिए अन्तिम क्षण तक विश्राम जैसी कोई चीज नहीं होती। 'जावज्जीवमविस्सामो'—जीवन-पर्यन्त विश्राम नहीं यही उसके जीवन का सूत्र होता है।

संयमी को किस तरह उत्तरोत्तर संघर्ष करते रहना चाहिए—इसका आदर्श सुदर्शन के जीवन-वृत्त द्वारा दिया गया है।

सुदर्शन सेठ की कथा संक्षेप में पहले दी जा चुकी है। सुदर्शन का जीवन ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में निरन्तर संघर्ष का रहा। स्वामीजी ने लिखा है "सुदर्शन ने शुद्ध मन से निरतिचार शील व्रत का पालन किया। घोर परीषह उत्पन्न होने पर भी वह डिगा नहीं। जो निमलता पूर्वक शील का पालन करते हैं, वे सब ब्रह्मचारी पुरुष महान् हैं, परन्तु सुदर्शन का चरित्र तो व्याख्यान करने योग्य ही है, क्योंकि उसने घोर परीषहों के सम्मुख अविचल रह ब्रह्मचर्य का पालन किया। उसका चरित्र ऐसा है कि जिसका श्रवण हो गया हो वह भी सुने तो ब्रह्मचर्य के प्रति उसके प्रेम की वृद्धि हो और पुनः उसके पालन में तत्पर हो। कायर उसके चरित्र को सुनकर वीर होते हैं और जो शूर हैं, वे और भी अधिक होते हैं।"

कपिल पुरोहित की स्त्री कपिला ने जब प्रपंच रच दासी के द्वारा सुदर्शन को अपने महल में बुला लिया और उससे भोग की प्रार्थना करने लगी तब सुदर्शन की क्या अवस्था हुई, उसका वर्णन स्वामीजी ने इस प्रकार किया है "कपिला की बात सुनकर और उसके अनूप रूप को देखकर सुदर्शन मन में उदास हो गया। उसका गात्र पसीने से भर गया। शरीर काँपने लगा। वह सोचने लगा—मैं प्रपंच को न समझ इस प्रकार फंस गया। पर कपिला चाहे जितने ही उपाय करे मैं अपने शील को खण्डित नहीं करूँगा। यदि मेरी आत्मा वश में है तो मुझे

१—स्त्री और पुरुष पृ० ३३
२—वही पृ० ३३
३—वही पृ० ५५
४—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) : सुदर्शन चरित पृ० १३१

कोई भी चलित नहीं कर सकता। स्त्री चतुर पुरुष को भी भ्रम में डाल उसे मूर्ख बना देती है पर यदि मैं दृढ़ रहूँगा तो वह मेरा तिलमात्र भी बिगाड़ नहीं कर सकती।

डिग शील न कंइ माहरो जा करे अनेक उपाव।
जो वश छै म्हारी आतमा तो न सके कोइ चलाव॥
चतुर नें मोल मूढ़ करे इसी नारी नीं जात।
जो हूं दृढ़ काम रहूं, तो म्हारो बिगड़े नहीं तिलमात॥

इस समय की सुदर्शन की दृढ़ता पर टिप्पण करते हुए स्वामीजी लिखते हैं "सम्यक दृष्टि कष्ट के समय भी सम्यक ही सोचता है। वह कांटों को फूल की तरह ग्रहण करता है। जैसे-जैसे परीषह अधिक बढ़ते हैं, वह अधिकाधिक वैराग्य के साथ व्रत को मजबूत रख उसका पालन करता है। शूर वही है जो कष्ट पड़ने पर भाग न छूटे। जो कायर क्लीव होते हैं, वे ही कष्ट के समय भाग छूटते हैं। जो वैरी के सम्मुख भाग छूटता है, उसका कभी भला नहीं होता। जो पैर थाम कर मुकाबिला करता है, उसे कोई परास्त नहीं कर सकता।"

समदृष्टि जेहे समौं पाले व्रत अभंग।
ज्यूं ज्यूं परीषह ऊपजे तिम तिम चढ़ते रंग॥
कष्ट पड्यां कायर हुवे ते साचेला सूर।
कोइ कायर क्लीव हुवे ते भाग हुवे चकचूर॥
वेरी तो पाछे पड्यां जब भाग्यां भलो न होय।
पग रोपी साम्हो मंडे त्यांसूं गंज न सके कोय॥

कपिला सुदर्शन के शरीर से लिपट गई। सुदर्शन की वृत्तियां और भी अन्तर्मुख हो गईं। उसने नियम लिया—यदि मैं इस उपसर्ग से बच गया तो मुझे यावज्जीवन के लिए अब्रह्मचर्य का प्रत्याख्यान है

जो इण उपसर्ग थी ऊबरू व्रत रहे कुशले खेम।
तो शील छे म्हारे सर्वथा जावजीव रा नेम॥

सुदर्शन ने स्त्री-परीषह के समय इस तरह अपना मन दृढ़ कर लिया। सुदर्शन की उस समय की दृढ़ता को स्वामीजी ने इस प्रकार प्रकट किया है

मन दृढ़ कर लियो आपणो शील लियो अंगीकार।
कपिला नारी तो ज्यांही रही तजी मनोरमा नार॥
अरिहंत सिद्ध नीं साखे करी पचख्यो शील सन्नाह।
मन वच काया वस किया तिणरे स्वामी परवाह॥
आलो कपिला छ बापड़ी मन मूल नीं भंडार।
जो आव उमी रहे अवस्था तोही शील न कंइ लिगार॥

सुदर्शन ने अरिहंत सिद्ध साधु और धर्म की शरण ली और कपिला की तो बात दूर यावज्जीवन के लिए ब्रह्मचर्य धारण कर, अपनी पत्नी मनोरमा तक के साथ विषय-सेवन का त्याग कर दिया। सुदर्शन ने उस अनुकूल परीषह के समय भी भोग को विष के समान समझा।

आखिर में कपिला ने निराश हो सुदर्शन को अपने पाश से मुक्त किया और सुदर्शन अपने घर वापिस आया। उसने नियम लिया—
"आज से बाद मैं पर घर में प्रवेश नहीं करूंगा"

कदा बले मिले की न्हवी तो कूतीम नेम।
तिणसूं पर घर आवा तणो आज पछे छे नेम॥

जब धात्रीवाहन राजा की पटरानी अभया ने पंडिता धाय द्वारा सुदर्शन को ध्यानावस्था में महल में मंगाया तब सुदर्शन के लिए फिर एक भयानक परीषह उत्पन्न हुआ। अभया सुदर्शन से भोग की प्रार्थना करने लगी। सुदर्शन ने ध्यान पूरा कर आँखें खोलीं तो सारा दृश्य देखकर

पर आ पहुँचे। वेश्या ने श्राविका का रूप बनाया और मुनि सुदर्शन से गोचरी की अर्ज करने लगी। मुनि गोचरी के लिए घर के अन्दर गये। वेश्या बोली—"आप कुछ विश्राम करें। भेष को दूर कर एकांत में बैठ भोजन करें।" यह कह षट्रस भोजन थाल में परोस मुनिवर के सम्मुख धर दिया। उस थाल को देखकर साधु सुदर्शन समझ गये—यह श्राविका नहीं, यह तो कोई कुमार्गी नारी है। यह विचार कर वे वापिस लौटे परन्तु वेश्या ने सारे द्वार बंद कर दिये थे जिससे बाहर न जा सके और वापिस चौक में आ गये। अब वेश्या ने श्राविका का भेष खोल दिया और सोलह शृङ्गार कर उपस्थित हुई और मुनि को भोग भोगने के लिए प्रार्थना करने लगी। मुनि अंश मात्र भी विचलित नहीं हुए। अब वेश्या ने मुनि को दोनों हाथों से पकड़ अपने महल में ले जा अपनी शय्या पर बिठा दिया। इस तरह तीन दिन बीत गये पर मुनि अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। मुनि की इस समय की चित्त-स्थिति को स्वामीजी ने इस प्रकार चित्रित किया है :

> ज्यूं मोम गोलो मेलको ताप लागां गल जाय।
> ज्यूं कायर पुरुष नारी कने तुरत खिसजावे ताय॥
> जेसो गोलो गार को ज्यूं धमे ज्यूं कठण।
> ज्यूं सूर पुरुष स्त्री कन अडिग रहे अत सठण॥
> गार गोला री दीधी ओपमा साधु सुदर्शन में जिनराय।
> जिम जिम उपसर्ग ऊपजे तिम तिम गाढो थाय॥
> उपसर्ग उपनो वेश्या तणो समरयो श्री नवकार।
> सागारी अणसण कियो सरण पडिवजिया च्यार॥
> तीन रात दिन ज्यूं रह्यो खम्यो घोर परिषह जांण।
> शील थकी नहीं डिग्यो जिनमत जिनवर किया बखाण॥

जिस प्रकार मोम का गोला ताप लगने से गल जाता है, उसी प्रकार कायर पुरुष नारी के समीप तुरत खिसक जाता है। जिस प्रकार गार का गोला ज्यों-ज्यों तपाया जाता है वैसे-वैसे कठिन होता जाता है, वैसे ही शूर पुरुष स्त्री के समीप अडिग रहता है। भगवान ने सुदर्शन को गार के गोले की उपमा दी है। जैसे-जैसे उपसर्ग होते गये शील के प्रति उसकी भावना गाढ़ होती गयी। जब यह वेश्या का उपसर्ग उत्पन्न हुआ तो उसने नमस्कार मंत्र का स्मरण किया[1] चारों शरण ग्रहण किये और सागारी अनशन कर दिया। सुदर्शन ने इस तरह तीन दिन तक परिषह सहन किया।

सुदर्शन को अडिग देख कर वेश्या ने उन्हें तीन दिन के बाद बड़े भोर कर घर के बाहर निकाल दिया।

अब मुनि ने विचार किया—मैं बहुत बड़े जोखिम से बचा हूँ। उचित है कि अब मैं संथारा करूँ। जिस तरह वीर पुरुष संग्राम के मोर्चे पर जाने के लिए आगे-आगे बढ़ता जाता है, उसी तरह मुनि ने श्मशान में जाकर संथारा ठा दिया।

इधर अभया रानी मर कर व्यंतरी हुई। उसने मुनि सुदर्शन को देखकर उन्हें डिगाने का विचार किया। वह सोलह शृङ्गार कर उनके सम्मुख उपस्थित हुई अनेक प्रकार के नाटक दिखाए। और भोग-सेवन की प्रार्थना करने लगी। मुनि शुभ ध्यान ध्याते रहे—"निश्चल मन में थिर रह्यो जाणेक मेरु समान।" जब मुनि विचलित नहीं हुए तब उसने विकराल रूप बना उग्र परिषह दिया। मुनि ने तब भी समताभाव रखा। अब उसने पक्षिणी का रूप बनाया और चोंच में ठण्डा जल भर-भर कर मुनि पर छिड़कने लगी। इस शीत परिषह में भी मुनि ने सम परिणाम रखे। अब देवता प्रकट हुए। व्यंतरी को भगा कर उपसर्ग दूर किया।

सुदर्शन समभाव धारे हुए वैराग्य से शुद्ध ध्यान में आसीन थे। न वे व्यंतरी पर कुपित हुए और न देवताओं पर प्रसन्न। वे राग-द्वेष से दूर रह समभाव में अवस्थित रहे। मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और उसी रात्रि में मोक्ष पहुँचे।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सुदर्शन का जीवन किस तरह उत्तरोत्तर घोर संघर्ष का जीवन रहा। उनका नाम आज भी प्रमुख ब्रह्मचारियों में लिया जाता है। ब्रह्मचर्य के मार्ग में साधक को किस तरह तीव्र से तीव्र तर भावना रखनी चाहिए, उसका आदर्श इस अद्भुत चरित्र से प्राप्त होता है।

---

[1] १—इस-काम में नमस्कार-मंत्र को किस तरह रक्षा-कवच माना गया है वह इससे प्रकट है।

३०. बाल ब्रह्मचारिणी ब्राह्मी और सुन्दरी

हम पहले यह बता चुके हैं कि जैन धर्म में पुरुष और स्त्री दोनों को समानरूप से ब्रह्मचर्य-पालन का उपदेश दिया गया है। इस उपदेश का स्थायी प्रभाव यह हुआ कि जैन इतिहास के हर-युग में ऐसी आदर्श स्त्रियाँ देखी जाती हैं जिन्होंने अकुंठित आत्मबल के साथ आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया और आध्यात्मिक क्षेत्र में पुरुषों के समान ही दीप्त हुईं। जैन इतिहास के अनुसार ऋषभदेवजी जैनों के आदि तीर्थंकर हैं। उनके ब्राह्मी और सुन्दरी दो पुत्रियाँ थीं और दोनों ही ने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया।

महात्मा गांधी ने एक पत्र में लिखा था—"हमारी स्त्रियों को पत्नी बनना आता है, बहन बनना नहीं आता। बहन बनने में बड़ी त्यागवृत्ति की जरूरत है। जो पत्नी बनती है, वह पूरी तरह बहन बन ही नहीं सकती। यह मेरे खयाल से तो स्वयंसिद्ध है। सच्ची बहन सारी दुनिया की बहन हो सकती है। पत्नी अपने को एक पुरुष के हवाले कर देती है। जगत् की बहन बनने का गुण मुश्किल से आता है। जगत् की बहन तो वही बन सकती है जिसमें ब्रह्मचर्य स्वाभाविक बन गया हो और सेवाभाव बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँच गया हो[1]।"

ब्राह्मी और सुन्दरी का जीवन महात्मा गांधी के विचारों के अनुसार ही स्वाभाविक ब्रह्मचर्य का जीवन था और दोनों जगत्-भर की सेवा-परायण बहिनें थीं।

ऋषभदेवजी के दो रानियाँ थीं एक सुमंगला और दूसरी सुनंदा। सुमंगला के ब्राह्मी और भरत समयुग्म से उत्पन्न हुए और इसी तरह सुनंदा के सुंदरी और बाहुबल। सुमंगला के ९८ पुत्र और हुए। इस तरह ब्राह्मी के ९९ सगे भाई थे और सुंदरी के केवल एक बाहुबल।

दोनों बहिनों ने ६४ कलाएं सीखीं। दोनों ही उत्तम स्त्री के बत्तीस लक्षणों से सुशोभित थीं। ब्राह्मी ने अठारह लिपी सीखी। दोनों ही बहिनें बड़ी शीलवती थीं। उनके मन में कभी विषय-वासना आती ही नहीं थी। दोनों बहिनों ने अपने पिता ऋषभदेवजी से विनती की "हमें शील प्रिय है। हमारी सगाई न करें। हम किसी की स्त्री कहलाना पसन्द नहीं करतीं। हमें सांसारिक प्रियतम की चाह नहीं।" ऋषभदेवजी बोले "तुम दोनों की करनी में कोई कमी नहीं। अच्छा है कि तुम दोनों ने इस मोह-जाल को छिन्न-भिन्न कर दिया।" पुत्रियों की इच्छा से उन्होंने दोनों बहिनों का विवाह नहीं किया। बाद में ऋषभदेवजी ने प्रव्रज्या ले ली और प्रथम तीर्थंकर के रूप में प्रसिद्ध हुए।

ब्राह्मी अत्यन्त रूपवती थी। भरतजी अपनी बहिन के प्रति मोहित हो गए। उन्होंने विचार किया "ब्राह्मी को मैं उत्तम स्त्री-रत्न के रूप में स्थापित करूँ और अन्तःपुर में उसे प्रमुख महारानी रूप में रखूँ।"

ब्राह्मी की इच्छा दीक्षा लेने की थी। पर भरत उससे प्रेम करते थे अतः दीक्षा की अनुमति नहीं देते थे।

जब ब्राह्मी को भरत के मोह की बात मालूम हुई तो उसने अपने रूप की हानि करने के लिए दो-दो दिन के उपवास की तपस्या प्रारंभ कर दी। पारण में अन्न के साथ एक सूखा अन्न लेती।

भरत का मोह नहीं छूटा। ब्राह्मी भी सुदीर्घकाल तक इसी तरह तपस्या करती रही।

इस तपस्या से उसका फूल-सा शरीर मुरझा गया। ब्राह्मी के शरीर को इस प्रकार क्षीण देख भरत का मोह दूर हुआ। उसने ममत्व छोड़ ब्राह्मी को दीक्षा की अनुमति दी। ब्राह्मी और सुंदरी दोनों बहिनें दीक्षित हुईं और अपनी साधना से दोनों ने मुक्ति प्राप्त की। स्वामीजी ने दोनों बहिनों के चरित्र को इस प्रकार उपस्थित किया है[2]:

> रिषभ राजा रे राणी दोय हुई, सुमंगला सुनंदा हूई प सूई।
> दोनूं दोय बेटी जाई, ब्राह्मी न सुंदरी बेहू जाई॥
> ज्यों पुण्य मन भीनी करणी बेहू री काया कोमल कंचन वरणी।
> ज्यांरे रूप में कमी नहीं काई॥
> ते स्वारथ सिद्ध थ चव आई भरत बाहुबल रे जोडे जाई।
> बेहू जायां रे हुआ सो भाई॥
> भरत बाहुबल दोय जोय, ज्यांरे भाई अट्ठाणूं हुआ जोय।
> चित्त में पामी अधिक चतुराई॥
> ब्राह्मी रे हुआ नित्राणूं वीरा बालक जाया अमोलक हीरा।
> — भरत चक्रवर्ति नी पहली माई॥

१—महादेवभाई की डायरी (पहला भाग) पृ० १८१

२—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड २) भरत चरित—ढाल ११ पृ० ३५ ४१

नंदिषेण का हाथ पकड़ उन्हें घर के अन्दर खींच लिया और प्रेमपूर्वक बोली "आपने धर्मलाभ और धर्मलाभ तो दिया पर एक लाभ और दें। मैं आप से भोगलाभ की याचना करती हूँ। आप तपस्वी हैं इतने से आपका तप नष्ट नहीं होगा।

मुनि नंदिषेण का मन विचलित हो गया। उनके पूर्व संस्कार जाग्रत हो गये। वेश्या की इच्छापूर्ति करने के लिए वे उसी के यहाँ रहने लगे। उन्होंने मन को संतोष देने के लिए नियम लिया—"मैं यहाँ रह कर भी रोज धर्मोपदेश से दस व्यक्तियों को समझा कर प्रव्रज्या के लिये भगवान महावीर के पास भेजा करूँगा और फिर भोजन करूँगा।"

यह क्रम चलता रहा। परन्तु एक दिन नंदिषेण दस व्यक्तियों को प्रतिबोधित नहीं कर सके। उधर भोजन तयार हो चुका था। भोजन करने के लिए बार-बार आदमी बुलाने के लिए आ रहा था पर नंदिषेण अपनी प्रतिज्ञा को पूरी किये बिना भोजन नहीं कर सकते थे।

आखिर वेश्या स्वयं उन्हें बुलाने के लिए आई। नंदिषेण बोले "अभी तक नौ ही व्यक्ति प्रतिबोधित हुए हैं। एक व्यक्ति और प्रतिबोधित हुए बिना मैं भोजन नहीं कर सकता।

गणिका हँसी में बोली "फिर दसवें आप ही क्यों नहीं हो जाते?

गणिका की बात नंदिषेण के हृदय को भेद गई। उसने सोचा—"मैं केवल दूसरों को प्रतिबोध देता हूँ और स्वयं कादे में फंसा हूँ। दसवाँ व्यक्ति मैं ही बनूँगा।"

नंदिषेण उसी समय भगवान महावीर के पास जाने के लिए तयार हो गये। गणिका रोने लगी। नाना तरह से विलाप करने लगी। अपने विनोद के लिए माफी माँगने लगी पर नंदिषेण का पुरुषत्व जाग्रत हो चुका था। वे रुके नहीं। सीधे भगवान महावीर के पास पहुँचे। दुष्कृत्य की निन्दा की। प्रायश्चित्त लिया। और पुनः दीक्षित हुए।

दीक्षा के बाद वे तपस्वी जीवन बिताने लगे और अन्त तक दृढ़ता के साथ संयम का पालन किया।

३३-मुनि आर्द्रक

घोर पतन के बाद उत्थान का दूसरा चित्र मुनि आर्द्रक के जीवन में मिलता है।

आर्द्रक अनार्य देश के निवासी थे। उन्होंने अपने आप दीक्षा ले ली। एक बार विहार करते-करते वे वसंतपुर पहुँचे और नगर के बाहर एक स्थान में ठहरे और ध्यानावस्थित हो गये।

वसंतपुर में देवदत्त नामक सेठ रहता था। उसकी पुत्री का नाम श्रीमती था। वह बड़ी सुन्दर थी। वह अन्य बालाओं के साथ क्रीड़ा करती-करती उसी स्थान में पहुँच गयी जहाँ मुनि आर्द्रक ठहरे हुए थे। सब बालाएं खेलने लगीं। खेल शुरू करने के पूर्व बालाओं ने आपस में तय किया—'सब अपना-अपना मनचाहा वर वर लें। बालाओं ने एक दूसरे को वर के रूप में चुन लिया। श्रीमती बोली "मैं तो इस ध्यानस्थ मुनि को ही वर के रूप में चुनती हूँ।

बालाएं परस्पर पति-रमण की क्रीड़ा कर अपने-अपने घर चली गयीं। आर्द्रक मुनि भी वहाँ से चले गये।

देवदत्त श्रीमती की सगाई की चेष्टा करने लगा। उसने वर की तलाश करनी शुरू की। श्रीमती बोली "मैंने वन में एक मुनि को पतिरूप में वरा था। मेरे पति वे ही हो सकते हैं। मैं और किसी से विवाह न करूँगी।

मुनि वसंतपुर से विहार कर चुके थे और कहाँ थे इसका पता नहीं चलता था। देवदत्त इससे चिन्तातुर हुआ। अकस्मात् एक दिन मुनि पुनः वसंतपुर आये। व्यवस्था के अनुसार देवदत्त ने मुनि को अपने घर गोचरी पधारने की अर्ज की। मुनि गोचरी पधारे। श्रीमती ने उन्हें पहचान लिया और बोली : "यही वे मुनि हैं, जिन्हें मैंने वन में वरण में चुना था।"

सेठ ने श्रीमती के प्रण की बात कही और अपनी पुत्री से विवाह करने का अनुरोध किया। मुनि आर्द्रक दिग्मूढ़ हो गये। मोह का योग बढ़ चला। उन्होंने विवाह करना स्वीकार किया। केवल एक शर्त रखी "एक पुत्र होने के बाद घर में नहीं रहूँगा।" सेठ तथा श्रीमती ने शर्त स्वीकार की।

आर्द्रक और श्रीमती का विवाह हो गया और दोनों सुखोपभोग करते हुए साथ रहने लगे।

काल पाकर श्रीमती को पुत्र उत्पन्न हुआ। आर्द्रक जाने के लिए तैयार हुए। श्रीमती बोली—"जब तक बच्चा बड़ा न हो जाय तब

तक आप न जायें। अभी तो यह न होने के बराबर है। मेरा मन कैसे लगेगा?" आर्द्रक रुक गये। बालक बड़ा हुआ और चलने-फिरने लगा। वह अपनी माँ से बात करने लायक भी हो गया। अब आर्द्रक जाने को तैयार हुए। श्रीमती चिंतित हो गई, आखिर में उसे एक उपाय सूझा। एक चर्खा लेकर वह कातने बैठी। पुत्र ने पूछा— 'माँ! यह क्या करती हो?" श्रीमती बोली "पुत्र! तुम्हारे पिता हम दोनों को छोड़कर जाना चाहते हैं। तू अभी छोटा है। कमाने लायक अभी नहीं हुआ। अतः मैं यह उद्यम सीख रही हूँ जिससे भविष्य में तुम्हारा पोषण कर सकूँ।"

यह सुनकर बालक ने माता के काते हुए सूत की अटी हाथ में ले ली और पिता के पास पहुँच उस कच्चे सूत से उनके आँटे देने लगा। यह देखकर आर्द्रक हँसने लगे और बोले— "तू यह क्या कर रहा है?" बालक बोला 'आप हम लोगों को छोड़ कर जाना चाहते हैं। मैंने आप को बाँध लिया है। देखें अब आप कैसे जायेंगे?"

आर्द्रक गंभीर हो गये। उन्होंने लपेटे हुए सूत के धागे गिने और बालक से बोले "तुमने जितने आँटे दिए हैं, उतने वर्ष और तुम्हारे साथ रहूँगा।

देखते-देखते उतने वर्ष बीत गए। आखिर आर्द्रक ने श्रीमती और बालक से विदा ली तथा श्रमण भगवान महावीर के पास पहुँचे। उनसे प्रव्रज्या ग्रहण की और संयम का दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए रहने लगे।

आर्द्रक कुल २४ वर्ष तक श्रीमती के साथ रहे। उसके बाद वे पुनः मुनि हुए।

२४ ब्रह्मचर्य और उसका फल

ब्रह्मचर्य का फल बताते हुए पतञ्जलि ने कहा है— 'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'[1] —ब्रह्मचर्य से वीर्य की प्राप्ति होती है। इसकी टीका में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा गया है—जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसको उसके प्रकर्ष से निरतिशय वीर्य का—सामर्थ्य का लाभ होता है। वीर्य-निरोध ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के प्रकर्ष से शरीर, इन्द्रिय और मन में प्रकर्ष वीर्य-शक्ति उत्पन्न होती है— "यः किल ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशयं वीर्यं सामर्थ्यमाविर्भवति। वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यम्, तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसु वीर्यं प्रकर्षमागच्छति।"

पतञ्जलि ने जो बात कही वही महात्मा गांधी ने अन्य शब्दों में इस प्रकार कही है— 'सब इन्द्रियों का संयम करनेवाले के लिए वीर्य-संग्रह सहज और स्वाभाविक क्रिया हो जाती है[2]।' उनके अनुभव के अनुसार वीर्य अनमोल शक्ति है। तन मन और आत्मा का बल—तेज बनाये रखने के लिए यह परमावश्यक है। वे लिखते हैं—"वीर्य को पचा लेने का सामर्थ्य लंबे अभ्यास से प्राप्त होता है। यह अनिवार्य भी है क्योंकि इससे हमें तन-मन का जो बल मिलता है, वह और किसी साधना से नहीं मिल सकता[3]।" "सारी शक्ति उस वीर्य-शक्ति की रक्षा और ऊर्ध्वगति से प्राप्त होती है, जिससे कि जीवन का निर्माण होता है। अगर इस वीर्य-शक्ति को नष्ट होने देने के बजाय संचय किया जाय तो यह सर्वोत्तम सृजन-शक्ति के रूप में परिणत हो सकती है[4]।" वीर्य की इस अमोघ शक्ति को ध्यान में रख कर ही ऋषि ने कहा 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।' महात्मा गांधी ने कहा है— 'जिस वीर्य में दूसरे मनुष्य को पैदा करने की शक्ति है, उस वीर्य का फिजूल स्खलन होने देना महान अज्ञान की निशानी है[5]।' 'नित्य उत्पन्न होनेवाले वीर्य का अपनी मानसिक शारीरिक और आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाने में उपयोग कर लेना चाहिए[6]।'

१—पातञ्जल योगसूत्र २।३८
—आरोग्य की कुंजी पृ० ३
३—अनीति की राह पर पृ० १०८
४—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १
५—आरोग्य की कुंजी पृ० ११
६—वही पृ० १५

प्रथम गाथा के प्रथम दो चरण प्राय मिलते हैं। अन्तिम दो चरण भिन्न हैं। "संम ब्रह्मचारी कोडिमे धरीय शिव सुं नेह रे" के स्थान में स्वामीजी की कृति में "शीयल सू शिव सुख पामीये ल्यो छबाँ रो कद नांमें छेह रे" है। स्वामीजी की दूसरी गाथा नवीन है। जिनहर्षजी की तीसरी गाथा स्वामीजी की कृति मे नहीं है। चौथी गाथा अन्य ग्रन्थों में है।

छठी गाथा के "कलमकरी नृप रावियड शीयल अतिरंग अभिंग रे" के स्थान में स्वामीजी की गाथा में 'शिव शीयल विरख रा फल करो ज्यू बेगी पांमों निरवांण रे' है। इसी तरह सातवीं गाथा के 'शीयी शिव तरु पाकसी पू नव वाडि सुजांण रे" के स्थान में ८ वी गाथा में "शीयी शिव विरख नें राखवा नव वाड़ इसमों कोट आंण रे" है।

इस तरह स्वामीजी की कृति की ८ गाथाओं में से ४½ प्राय जिनहर्षजी की कृति से मिलती है।

ढाल—२

श्री जिनहर्षजी की दूसरी ढाल में ७ गाथाए और प्रारंभ में २ दोहे हैं। स्वामीजी की कृति में १ गाथाए और ८ दोहे हैं। स्वामीजी के आठो दोहे पृथक हैं। दस गाथाओ में चार मिलती हैं छः पृथक हैं।

प्रथम गाथा के 'जिम श्री शिव सुख पांमीये सुन्दर तनु सिणगार हो मवीयण" के स्थान म स्वामीजी की कृति में 'जिम श्री शिव सुख पामीये द वाड म दंड सिणगार हो। ब्रह्मचारी" है। तीसरी गाथा के "कुरकट मिंदी नी तेहथइ पामें दुख अघोर हो" के स्थान मे स्वामीजी की कृति में "कुरकट मिंदी नी तहन मारें मंजी मरोड़ हो" है।

ढाल—३

श्री जिनहर्षजी की कृति में २ दोहे और ८ गाथायें हैं और स्वामीजी की कृति में २ दोहे और १४ गाथायें। स्वामीजी के दोनों दोहे पृथक् हैं। जिनहर्षजी के दोनो दोहे स्वामीजी की ढाल २ के ६ ठें एवं ७ वें दोहे के रूप में मिलते हैं। दूसरे दोहे के "जाने अलगी आक सिरि शीशी बाधि विछोह" के स्थान में स्वामीजी के दोहे की शब्द-रचना इस प्रकार है—"जाने अलगो आक सिर वले दूजे बरत विन छोह"।

स्वामीजी की १४ गाथाओ में से पहली दूसरी और तीसरी तीन गाथाए मिलती है। तीसरी गाथा कृतियों में क्रमशः इस प्रकार है

नांमी कोइक बहवी रे बालम कुम करोड।	नामी कोयक जोहवी रे हाम पोंम रा कोडे बखांण।
हंससमधि कमलदरिकड़ी रे अमघुम चरण सरोज रे प्रांणी ॥३॥	हंस गमणी कदी सींह लमी रे, नामि ते कमल समांण रे ॥३॥

ढाल—४

श्री जिनहर्षजी की कृति में ६ गाथाए और २ दोहे हैं और स्वामीजी की कृति में १४ गाथाए और ४ दोहे। स्वामीजी का तीसरा और चौथा दोहा जिनहर्षजी के प्रथम और द्वितीय दोहे से क्रमशः मिलते हैं। जिनहर्षजी के दूसरे दोहे के "इम जांणी रे प्रांणीया तजि आसन सिणगार" के स्थान में स्वामीजी के चौथ दोहे में "ज्यू एकण आसण बेसतां न रहें बरत इकतार" है।

स्वामीजी की १४ गाथाओ में से सिर्फ दो—पहली और दूसरी जिनहर्षजी की रचना से मिलती हैं अन्य पृथक हैं। मिलती गाथाओं की शब्द रचनाए इस प्रकार हैं :

तीजी वाडि हिवे चित विचारो नारि सहित बइसवो निवारो रूख।	तीजी वाड हिवे चित विचारो नारी सहित आसण निवारो काज।
एकइ आसन काम दीपावे चौथा व्रत मे दोष लगावे काज ॥१॥	एकण आसण बसी फोम दीपे छें, त ब्रह्मचारी न बाठों नहीं छ काज ॥१॥
इम बइसंतो आसमी बाधे आसन कपा फरसावे रे काज।	एकण आसण बसी आसंगो थाय, आसगे काया फरसाय काज।
काया फरस किये रस जागे तहणी अवगुण थावे आगे काज ॥२॥	काया फरस्वा किये रस जागे, इम बरतां आवक बरत भांगि लाज ॥२॥

ढाल—५

श्री जिनहर्षजी की कृति में दोहे और ८ गाथाए हैं और स्वामीजी की कृति में २ दोहे और २१ गाथाए। स्वामीजी का पहला दोहा स्वतन्त्र है। दूसरा दोहा जिनहर्षजी के पहले दोहे से मिलता है।

स्वामीजी की ढाल की ७ वीं और ८ वीं गाथाएं क्रमशः जिनहर्षजी की तीसरी ढाल की ५ वीं और ६ ठीं गाथाओं से मिलती हैं। ९ वीं गाथा इस ढाल के दूसरे दोहे के समान है। अवशेष १८ गाथाओं में से छः मिलती-जुलती हैं। शेष भिन्न हैं। जिनहर्षजी की ढाल की ५ वीं गाथा स्वामीजी की दूसरी ढाल की चौथी गाथा से भाव में मिलती है।

टिप्पणियों में उन आगम-स्थलों को दे दिया गया है, जिनका उपयोग स्वामीजी ने कृति में किया है।

परिशिष्ट-क में कृति में संकेतित कथाएँ विस्तार से दे दी गई हैं।

परिशिष्ट-ख में ब्रह्मचर्य-विषयक आगमिक गाथाओं को एक जगह संगृहीत कर दिया गया है।

परिशिष्ट-ग में श्री जिनहर्षजी रचित 'शील की नव बाड़' दी गयी है।

परिशिष्ट-घ में पुस्तक के सम्पादन में प्रयुक्त पुस्तकों की विवरण-तालिका दी गयी है।

भूमिका में भिन्न-भिन्न १९ मुद्दों पर प्रकाश डाला गया है।

आधुनिक विचारकों में संत टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी का स्थान अग्रगण्य है। उनके विचारों को विस्तार से देते हुए आगमिक विचारों से उनकी यथाशक्य तुलना की गई है। महात्मा गांधी के प्रयोग और नव बाड़ विषयक उनके विचारों को यथेष्ट विस्तार से इसलिए दिया है कि जनों का ध्यान इस ओर जा सके और वे उनपर गंभीरता-पूर्वक चिन्तन कर सकें। भूमिका में जन पाठकों के समक्ष कुछ ऐसी बातें आयेंगी जिनकी ओर उनका ध्यान गया ही न हो अथवा थोड़ा गया हो और जो नया चिन्तन तथा खोज चाहती हैं।

इस अवसर पर मैं उन सब विद्वानों लेखकों और प्रकाशकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं जिनकी कृतियों का उपयोग मैंने इस पुस्तक के सम्पादन में किया है।

श्री अगरचन्दजी नाहटा का मैं विशेष रूप से ऋणी हूं जिन्होंने मुझे श्री जिनहर्षजी रचित "शील की नव बाड़" की हस्तलिखित प्रति अवलोकनार्थ देने की कृपा की।

स्वामीजी की कृति 'शील की नव बाड़' का यह संस्करण पाठकों को कुछ भी लाभप्रद हो सका तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

१२, नूरमल लोहिया लेन
कलकत्ता
२८ दिसम्बर, १९६१

श्रीचन्द रामपुरिया

दुहा

१—श्री नेमीसर चरण जुग,
प्रणमूं उठ परभात ।
बावीसमां जिण जगत गुर,
ब्रह्मचारी विख्यात ॥

२—सुंदर अपछर सारिखी,
विद्यु सम राजकुमार ।
भर जोबन में जुगति सूं,
छोड़ी राजल नार ॥

३—ब्रह्मचर्य जिण पालीयो,
धरतां दुधर जेह ।
तह तणां गुण वरणव्यां,
पमिं भव जल छेह ॥

४—कोड़ केवली गुण करें,
रसना सहस बणाय ।
तो ही ब्रह्मचर्य नां गुण घणां,
पूरा कह्या न जाय ॥

५—गलित पलित काया थई,
तो ही न मूकें आस ।
तरुण पणें जे व्रत धरें,
हूं बलीहारी तास ॥

१—मैं प्रातः उठकर श्री नेमीश्वर भगवान् के चरण-युगल को नमस्कार करता हूँ,[1] जो बाईसवें जगद्गुरु—तीर्थंकर और विश्वविख्यात ब्रह्मचारी थे।

२—राजकुमार नेमिनाथ ने पूर्ण युवावस्था में युक्तिपूर्वक अप्सरा के समान सुन्दर और विद्युत के समान तेजस्विनी राजुल कुमारी (राजिमती) का परित्याग किया[2]।

३—जिन्होंने दुर्धर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, ऐसे महापुरुष के गुण-गान से जीव जन्म मरण रूपी समुद्र का पार पाता है।

४—करोड़ों केवली सहस्र-सहस्र जिह्वाओं से ब्रह्मचर्य के गुणों का गान करें[3] तो भी उसके इतने अधिक गुण हैं कि उनका पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता।

५—काया जीर्ण-शीर्ण हो जाती है तो भी आशा नहीं छूटती। जो तरुण अवस्था में ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं, मैं उनकी बलिहारी जाता हूँ।

६—जीव विमासी जोय तूं,
विषय म राच गिवार।
थोड़ा सुखां रे कारणे,
मूरख घणा म हार॥

६—हे जीव! तू विचार कर देख। हे मूर्ख! विषय में रुचि मत कर। हे मूढ़! थोड़े वैषयिक सुखों के लिए बहुत सुखों को मत खो ³।

७—दस दिष्टंते दोहिलो,
लाधो नर भव सार।
सील पालो नव वाड सूं,
ज्यूं सफल हुवे अवतार॥

७—दस दृष्टान्तों ⁴ के अनुसार दुर्लभ यह सार मानव देह तुम्हें मिली है। नौ बाड़ सहित ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर, जिससे कि तुम्हारा जन्म सफल हो।

८—सील माहें गुण अति घणा,
ते पूरा कह्या न जाय।
थोड़ा सा परगट करूं,
ते सुणजो चित्त ल्याय॥

८—शील में बहुत गुण हैं,⁵ उनका पूरा वर्णन करना शक्ति के बाहर है। फिर भी थोड़ा सा वर्णन करता हूँ चित्त लगाकर सुनो।

ढाल १

[मन मधुकर मोही रह्यो]

१—सीयल सुर तरुवर सेवीये,
ते वरतां माहें गिरवो छे एह रे।
सीयल सूं सिव सुख पामीये,
त्यां सुखां रो कदे नावें छेह रे॥
सीयल सुर तरुवर सेवीये॥आं०

१—शील रूपी कल्पवृक्ष की आराधना कर। यह व्रत सब व्रतों में श्रेष्ठ है। शील से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है जिसका कभी अन्त नहीं होता।

२—सीयल मोटो सर्व वरत में,
ते भाख्यो छै श्री भगवंत रे।
ज्यां समकत सहीत वरत पालीयो,
त्यां कीयो ससार नों अंत रे॥सी०

२—शील सब व्रतों में महान है ऐसा जिनेश्वर भगवान् ने कहा है। जिन्होंने सम्यक्त्व सहित शीलव्रत का पालन किया है उन्होंने संसार का अंत कर डाला।

३—जिण सासण वन अति भलो,
ते नदण वन अनुसार रे।
जिणवर वनपालक तेह में,
ते करुणा रस भडार रे॥सी०

३—जिन-शासन नन्दन वन के समान अत्यन्त सुरम्य उपवन है जिसके रक्षक करुणा रस के भण्डार स्वयं जिनेश्वर हैं।

४—विरख तिण वन में सील रूपीयो,
तिणरें मूल दिढ समकित जांण रे।
साखा छें महावरत तणीं,
प्रति साखा अणुवरत पखांण रे॥ सी०

४—जिन-शासन रूपी उस वन में शील रूपी वृक्ष है, जिसका सम्यक्त्व रूपी दृढ़ मूल है, महाव्रत जिसकी शाखाएँ हैं और अणुव्रत प्रशाखाएं।

५—साध साधवी श्रावक श्रावका,
त्यांरा गुण रूप पत्र अनेक रे।
मधुकर करम सुभ पख नों,
परमल गुण वसेख रे॥ सी०

५—साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं के नाना गुण उसके विविध पत्र हैं। शुभ कर्म-बन्ध उसपर मँडरानेवाले भ्रमर हैं। विशिष्ट चारित्रिक गुण उसके परिमल हैं।

६—उत्तम सुर सुख रूप फूलड़ा,
सिव सुख ते फल जांण रे।
तिण सीयल विरख रा जतन करों,
ज्यूं वेगी पांमों निरवांण रे॥ सी०

६—दैविक सुख उसके पुष्प हैं और मोक्ष-सुख उसके फल। ऐसे शील वृक्ष की यत्नपूर्वक रक्षा करो, जिससे शीघ्र ही तुम्हें निर्वाणपद की प्राप्ति हो।

७—संसार सीयल थकी उधरे,
जो पाले नव कोटी अभग रे।
तो स्वयंभू रमण जिणरों तिरयों,
सेष रही नदी गंग रे॥ सी०

७—जो नव कोटि से शील का अक्षुण्ण रूप से पालन करता है, संसार से उसका शीघ्र ही उद्धार हो जाता है [९]। वह स्वयम्भूरमण को तैर चुका। उसके लिए गंगा के समान नदी का तैरना ही अवशेष है [१०]।

८—उतराधेन रे सोल में,
ब्रह्म समाधी ठांण रे।
कीधी तिण विरख नें राखवा,
नव वाड़ दसमों कोट जांण रे॥

८—उत्तराध्ययन सूत्र का सोलहवाँ अध्ययन ब्रह्मचर्य समाधि-स्थानक है। वहाँ शील रूपी वृक्ष के संरक्षण के लिए नव बाड़ व दसवाँ कोट बताया है [११]।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १

प्रथम दोहे में चौबीस तीर्थंकरों में से नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) का ही वन्दन किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि अन्य तीर्थंकरों को छोड़कर बाईसवें तीर्थंकर को ही नमस्कार क्यों किया गया? इसका उत्तर यह है कि चौबीस तीर्थंकरों में से बाईस तीर्थंकर विवाहित होने के बाद ही प्रव्रजित हुए थे। केवल मल्लिनाथ और नेमिनाथ ही ऐसे दो तीर्थंकर थे जिन्होंने पाणिग्रहण नहीं किया और कुमार अवस्था में प्रव्रजित हुए। अतः ये दोनों ही तीर्थंकर बालब्रह्मचारी थे। इन दोनों में नेमिनाथ बाईसवें तीर्थंकर थे। अतः आसन्न तीर्थंकर होने से शील के विषय में रचना करते समय स्वामीजी ने उनका मंगल के स्थान में एक बाल-ब्रह्मचारी के रूप में स्मरण किया है। तीर्थंकर नेमिनाथ का उल्लेख बाद के अन्य प्रसंग में आता है।

नेमि जब विवाह के लिये उद्यत हुए। बारात रवाना हुई और तोरण द्वार तक पहुँच गई। ऐसे अवसर पर नेमिनाथ तोरण से वापस लौट पड़े। अपूर्व लावण्यवती कुमारी के साथ विवाह का प्रसंग उपस्थित था, ऐसी परिस्थिति में विवाह न करने का निश्चय कर उन्होंने [illegible] ब्रह्मचर्य के क्षेत्र

१

में भी एक अद्भुत पदार्थ पाठ संसार के सम्मुख रखा। इस तरह ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में वे अनुपम जगद्गुरु सिद्ध हुए, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। जैसे तपस्या के क्षेत्र में तीर्थंकर महावीर श्रेष्ठ तपस्वी माने जाते हैं वैसे ही भोग-त्याग के विषय में नेमिनाथ उत्कृष्ट त्यागी और ब्रह्मचारी माने जाते हैं। इसी कारणवश स्वामी जी ने अपनी कृति के आरंभ में उनका स्मरण किया है। श्रीमद् जयाचार्य ने कहा है :

प्रभु नेमि स्वामि, तूं जगन्नाथ अंतरजामी।
तूं तोरण स्यूं फिरयो जिन स्वाम अद्भुत बात करी तैं अमाम ॥ १ ॥
राजीमती छांडी जिनराय, शिव सुन्दर स्यूं प्रीत लगाय ॥ २ ॥
केवल पाया ध्यान वर ध्याय इन्द्र शची निरखे हर्षाय ॥ ३ ॥
भविया जिन पामी मन मोद, शुभ कल्याण सुर करत विनोद ॥ ४ ॥
राग रहित शिव सुख स्यूं प्रीत, कर्म हणे वलि द्वेष रहित ॥ ५ ॥
आश्चर्यकारी प्रभु थारो चरित्र, हूं प्रणमूं कर जोड़ी नित्य ॥ ६ ॥

[२] दोहा १, २ :

प्रथम दो दोहों में नेमिनाथ और राजिमती का नामोल्लेख है। जिस जीवन प्रसंग के कारण उनका नाम-स्मरण किया गया है उसका विवरण 'उत्तराध्ययन' सूत्र के २२ वें अध्ययन में मिलता है।

परिशिष्ट में पूरा विवरण दिया गया है। देखिए परिशिष्ट-क : कथा-१।

[३] दोहा ४ :

ब्रह्मचर्य का गुण-वर्णन 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में इस प्रकार किया गया है :

"इस एक ब्रह्मचर्य के पालन करने से अनेक गुण अधीन हो जाते हैं। यह व्रत इहलोक और परलोक में यश, कीर्ति और प्रतीति का कारण है। जिसने एक ब्रह्मचर्य-व्रत की आराधना कर ली—समझना चाहिए उसने सर्व व्रत, शील तप, विनय संयम, क्षांति, समिति, गुप्ति यहाँ तक कि मुक्ति की भी आराधना कर ली।

"ब्रह्मचर्य व्रत सदा प्रशस्त, सौम्य शुभ और शिव है। यह परम विशुद्धि—आत्मा की महान् निर्मलता है। भव्य—मुमुक्षु पुरुषों का आचीर्ण—उनका जीवन है। यह प्राणी को विश्वासपात्र—विश्वसनीय बनाता है। उससे किसी को भय नहीं रहता।

"यह तुष—भूसी रहित धान की तरह सार वस्तु है। यह खेदरहित है। यह जीव को कर्म से लिप्त नहीं होने देता। चित्त की स्थिरता का हेतु है। धर्मी पुरुषों का निष्कंप—शाश्वत नियम है। तप-संयम का मूल—आधिभूत द्रव्य है।

"आत्मा की अच्छी तरह रक्षा करने में उत्तम ध्यान रूपी कपाट और अध्यात्म की रक्षा के लिए अधिकार रूप अर्गला है। दुर्गति के पथ को रोकनेवाला कवच है। सुगति के पथ को प्रकाशित करनेवाला लोकोत्तम व्रत है।

"यह धर्मरूपी पद्म सरोवर की पाल है गुण रूपी महारथ की धुरी है और व्रत नियम रूपी शाखाओं से फैले हुए धर्म रूपी कल्प-वृक्ष का स्कन्ध है।

"शील रूपी महानगर की परिधि (परकोटे) के द्वार की अर्गला है। रस्सियों से बंधी इन्द्र-ध्वजा के समान अनेक गुणों से विभूषित धर्म पताका है।

"एक ब्रह्मचर्य-व्रत भंग होने से सहसा सब गुण भंग हो जाते हैं मर्दित हो जाते हैं मथित हो जाते हैं, कलुषित हो जाते हैं पर्वत से गिरी हुई वस्तु की तरह टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और विनष्ट हो जाते हैं।"

[४] दोहा ५ :

पाँचवें दोहे के पूर्वार्द्ध का भाव शंकराचार्य के निम्न श्लोक से मिलता है :

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम् ॥
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम् ॥
भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते।

अर्थात् शरीर के सब अंग गल गये हैं बाल पक गये हैं मुख में एक भी दाँत नहीं है, बुढ़ापा आ गया है, लाठी के सहारे चलता है उसपर भी यह वृद्ध आशा का पिण्ड नहीं छोड़ता है। अरे मूर्ख ! तू आशा को छोड़कर गोविन्द का भजन कर।

[५] दोहा ६ :

'उत्तराध्ययन' सूत्र में कहा है :

"जैसे एक कंकणी के लिए कोई मूर्ख मनुष्य हजार मोहरों को हार जाता है और जैसे अपथ्य आम को खाकर राजा राज्य को हार जाता है उसी तरह मूर्ख तुच्छ मानुषी भोगों के लिए उत्तम सुखों—देव सुखों को खो देता है।"

'मनुष्यों के काम भोगों को सहस्रों गुणा करने पर भी आयु और भोग की दृष्टि से देवताओं के काम ही दिव्य होते हैं। मनुष्यों के काम देवताओं के कामों के सामने वैसे ही हैं जैसे सहस्र मोहर की तुलना में कंकणी व राज्य की तुलना में आम। प्रज्ञावान की देवलोक में जो अनेक अयुत वर्षों की स्थिति है उसको दुर्बुद्धि—मूर्ख जीव—सौ वर्ष से भी न्यून आयु में विषय-भोगों के वशीभूत होकर हार जाता है।"

'इस सीमित आयु में काम-भोग कुश के अग्रभाग के समान स्वल्प हैं। तुम किस हेतु को सामने रखकर आगे के योग-क्षेम को नहीं समझते ?

स्वामीजी ने इस छट्ठे दोहे में जो बात कही है वह 'उत्तराध्ययन' आगम के उपर्युक्त प्रवचन से प्रभावित मालूम देती है।

कंकणी और आम्रफल की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क : कथा २ और ३।

[६] दोहा ७ :

मनुष्य भव-प्राप्ति की दुर्लभता को बताने के लिए जो दस दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं, उनका विवरण परिशिष्ट में दिया गया है। देखिये परिशिष्ट-क : कथा ४-१३।

[७] ढाल गा० १, २ :

'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में बत्तीस उपमाएँ देकर ब्रह्मचर्य को विनय शील तपादि सब गुण समूह से प्रधान बताया है। स्वामीजी का संकेत उसी ओर लगता है। वे उपमाएँ नीचे दी जाती हैं

१—जिस प्रकार ग्रह, नक्षत्र तारादि में चंद्रमा प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२—जिस प्रकार मणि, मोती, प्रवाल और रत्नों के उत्पत्ति स्थानों में समुद्र प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

३—जिस प्रकार रत्नों में वैडूर्य जाति का रत्न प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

४—जिस प्रकार आभूषणों में मुकुट प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

५—जिस प्रकार वस्त्रों में क्षौम युगल वस्त्र प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

६—फूलों में जिस प्रकार कमल (अरविन्द कमल) प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

७—जिस प्रकार चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

८—जिस प्रकार चमत्कारी औषधियों के उत्पत्ति स्थानों में हिमवान् पर्वत प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

९—जिस प्रकार नदियों में शीतोदा नदी प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१०—जैसे स्वयम्भू रमण समुद्र सब समुद्रों में महान् अथवा प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

११—जिस प्रकार मानुषोत्तर, कुण्डलवर आदि माण्डलिक पर्वतों में रुचकवर पर्वत श्रेष्ठ एवं प्रधान है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत सब व्रतों में प्रधान है।

१२—जिस प्रकार हाथियों में शक्रेन्द्र का ऐरावत हाथी प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१—उत्तराध्ययन अ० ७ : गा० ११ १२ १३ २४

जहा कागिणिए हेउं सहस्सं हारए नरो। अपच्छं अम्बगं भोच्चा राया रज्जं तु हारए॥ ११॥
एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अन्तिए। सहस्सगुणिया भुज्जो आउं कामा य दिव्विया॥ १२॥
अणेगवासानउया जा सा पन्नवओ ठिई। जाणि जीयन्ति दुम्मेहा ऊणे वाससयाउए॥ १३॥
कुसग्गमेत्ता इमे कामा सन्निरुद्धम्मि आउए। कस्स हेउं पुराकाउं जोगक्खेमं न संविदे॥ २४॥

१३—जिस प्रकार हिरन आदि सभी जानवरों में सिंह बलवान एवं प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१४—जिस प्रकार सुवर्णकुमार जाति के भवनपति देवों में वेणुदेव प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१५—जिस प्रकार नागकुमार जाति के भवनपति देवों में धरणेन्द्र प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१६—जिस प्रकार सब देवलोकों में ब्रह्मकल्प नामक पाँचवाँ देवलोक प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१७—जिस प्रकार सभी सभाओं में सुधर्मा सभा प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१८—जिस प्रकार अनुत्तर विमानवासी देवों की स्थिति सभी स्थितियों में प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१९—जिस प्रकार सब दानों में अभयदान प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२०—जैसे कम्बलों में किरमिज रंग की कम्बल प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२१—जिस प्रकार छः संहनन में वज्रऋषभनाराच संहनन प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२२—जिस प्रकार छः संस्थान में समचतुरस्र संस्थान प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२३—जिस प्रकार ध्यान में परम शुक्ल ध्यान अर्थात् व्युपरतक्रियानिवृत्ति अप्रतिपाती नामक शुक्ल ध्यान का चौथा भेद प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२४—जिस प्रकार मति, श्रुति आदि पाँच ज्ञानों में केवलज्ञान प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२५—जिस प्रकार छहों लेश्याओं में परम शुक्ल लेश्या (सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती नामक शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद में होनेवाली) प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२६—जिस प्रकार मुनियों में तीर्थंकर भगवान् प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२७—जिस प्रकार सब क्षेत्रों में महाविदेह क्षेत्र अतिविस्तृत एवं प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२८—जिस प्रकार सब पर्वतों में मेरु गिरि प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२९—जिस प्रकार सब वनों में नन्दन वन प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

३०—जिस प्रकार सब वृक्षों में जम्बूवृक्ष (सुदर्शन वृक्ष) प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

३१—जिस प्रकार अश्वपति, गजपति, रथपति और नरपति प्रधान हैं—प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत भी प्रसिद्ध है।

३२—जैसे महारथ में बैठा हुआ रथी शत्रु सेना को पराजित करता है वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत भी कर्मशत्रु की सेना को पराजित करता है। इस प्रकार अनेक गुण ब्रह्मचर्य-व्रत के अधीन हैं।

एक ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करने से अन्य व्रतों की भी अखण्ड आराधना हो जाती है जैसे शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, गुप्ति, मुक्ति आदि। ब्रह्मचारी को इहलोक और परलोक में यश और कीर्ति की प्राप्ति होती है। वह सभी लोगों का विश्वास प्राप्त कर लेता है।

[८] ढाल गा० २ ६ :

स्वामीजी ने ब्रह्मचर्य की उपमा कल्प वृक्ष से की है। इसका आधार प्रश्नव्याकरण सूत्र के संवर द्वार का पाँचवा अध्ययन है। वहाँ अपरिग्रह-संवर का वृक्ष की उपमा द्वारा वर्णन किया गया है। यह वर्णन इस प्रकार है

"परिग्रह से विरति इस वृक्ष का बहुविध विस्तार है। सम्यक्त्व इसका विशुद्ध मूल है। धृति इसका कन्द है। विनय इसकी वेदिका है। तीनों लोक में व्यापक विपुल यश इसका स्थूल और सुन्दर स्कन्ध है। पाँच महाव्रत इसकी विशाल शाखाएँ हैं। अनित्यादि भावनाएँ इसकी त्वचा है। धर्म ध्यान, शुभ योग और ज्ञान उसके अंकुरित पल्लव हैं। बहुत से गुण रूपी पुष्पों से यह समृद्ध है। शील इसकी सुगन्धि है। अनास्रव इसका मधुर फल है। मोक्ष ही इस वृक्ष के बीज के अन्दर का सार है। मेरुपर्वत पर्वत की शिखर—चोटी के समान मोक्ष में जाने के लिए निर्लोभता रूपी जो मार्ग है उसका यह अपरिग्रह रूपी सुन्दर वृक्ष शिखरभूत है।"

[९] ढाल गा० ७ प्रथमार्द्ध

मन, वचन, काया को योग कहते हैं। करना, कराना और अनुमोदन करना इन तीनों को करण कहते हैं। करण और योगों के परस्पर सम्मिलन से नव कोटियाँ बनती हैं :

१—एक करण एक योग की कोटि।
२—एक करण दो योग की कोटि।
३—एक करण तीन योग की कोटि।
४—दो करण एक योग की कोटि।
५—दो करण दो योग की कोटि।
६—दो करण तीन योग की कोटि।
७—तीन करण एक योग की कोटि।
८—तीन करण दो योग की कोटि।
९—तीन करण तीन योग की कोटि।

साधु के नौ ही कोटियों से अब्रह्मचर्य-सेवन का त्याग होता है। जो मन, वचन, काया और करने कराने और अनुमोदन के किसी भी भंग से अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करते वे ही ब्रह्मचर्य को अखण्डित रूप से पालन करनेवाले कहे जाते हैं।

स्वामीजी कहते हैं—जो अखण्ड रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, कहना होगा उन्होंने सब से बड़ी विजय प्राप्त कर ली। कहा है :

इत्थिओ जे न सेवन्ति आइमोक्खा हु ते जणा।

—सू० १, १५ : ९

—जो पुरुष स्त्रियों का नहीं सेवन करते वे मोक्ष पहुँचनेमें अग्रसर होते हैं।

जे विन्नवणाहिजोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया।
तम्हा उड्ढं ति पासहा अदक्खु कामाइं रोगवं॥

—सू० १ २।३ : २

—काम को रोग-रूप समझकर जो स्त्रियों से अभिभूत नहीं हैं, उन्हें मुक्त पुरुषों के समान कहा गया है। स्त्री-परित्याग के बाद ही मोक्ष के दर्शन सुलभ हैं।

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमया।
एवं लोगंसि नारीओ दुत्तरा अमईमया॥

—सू० १ ३।४ : १६

—जिस तरह वैतरणी नदी दुस्तर मानी जाती है, उसी तरह इस लोक में अविवेकी पुरुष के लिए स्त्रियों का मोह जीतना कठिन है।

जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए॥

—सू० १ ३।४ : १७

—जिन पुरुषों ने स्त्री संसर्ग और काम-शृंगार को छोड़ दिया है, वे समस्त विघ्नों को जीत कर उत्तम समाधि में निवास करते हैं।

एए ओघं तरिस्सन्ति, समुद्दं ववहारिणो।
जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चन्ती सयकम्मुणा॥

—सू० १ ३।४ : १८

—ऐसे पुरुष इस संसार-सागर को, जिसमें जीव अपने-अपने कर्मों से दुःख पाते हैं, उसी तरह तिर जाते हैं, जिस तरह वणिक् समुद्र को।

[१०] ढाल गा० ७ उत्तरार्द्ध

संसार में सब से प्रबल आसक्ति नारी की है। इस आसक्ति पर विजय पाने के बाद अन्य आसक्तियों पर विजय पाना कठिन नहीं रहता। यही भाव ७ वीं गाथा के उत्तरार्द्ध में प्रगट हुआ है। इसका आधार आगम की निम्न गाथाएँ हैं

मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।

नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥

—उत्त० ३२ : १७

एए य संगे समइक्कमित्ता
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥

—उत्त० ३२ : १८

—जो पुरुष मोक्षाभिलाषी है, संसार भीरु है, धर्म में स्थित है उनके लिए भी मूर्खों के मन को हरने वाली स्त्रियों की आसक्ति को पार पाने से अधिक दुष्कर कार्य इस लोक में दूसरा नहीं है।

—इस आसक्ति को पार कर लेने पर शेष आसक्तियों का पार पाना सरल है। महा सागर तिर लेने पर गंगा के समान नदियों का तिरना क्या दुष्कर है?

[११] ढाल गा० ८ :

उत्तराध्ययन के संकेतित स्थल का कुछ अंश इस प्रकार है :

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिन्दिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ॥ तं जहा :

(१) नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे।

(२) नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गन्थे।

(३) नो इत्थीणं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गन्थे।

(४) नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता हवइ से निग्गन्थे।

(५) नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेत्ता हवइ से निग्गन्थे।

(६) नो निग्गन्थे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ से निग्गन्थे।

(७) नो पणीयं आहारं आहारित्ता हवइ से निग्गन्थे।

(८) नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ से निग्गन्थे।

(९) नो विभूसाणुवाई हवइ से निग्गन्थे।

(१०) नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई हवइ से निग्गन्थे।

प्रथम वाड़

ढाल २

दुहा

१—हिवें फर्इ्ं छूं सू जूइ,
सील तणी नव वाड़ ।
दसमों कोट ते चिहुं दिसा,
मांहि ब्रह्मचर्य व्रत सार ॥

१—अब मैं शील की नव बाड़ों का अलग-अलग वर्णन करता हूँ। इन बाड़ों के चारों ओर दसवां कोट है। नव बाड़ और दसवें कोट के भीतर ब्रह्मचर्य रूपी सार व्रत सुरक्षित रहता है।

२—खेत गांव रे गोरवें,
ते न रहै कीघां राड़ ।
रहिसी तो खेत इण विधें,
दोली कीघां वाड़ ॥

२—गाँव की सीमा पर बिना बाड़ का खेत झगड़ा करते रहने से सुरक्षित नहीं रह सकता। वह तो तभी सुरक्षित रहेगा, जबकि उस खेत के चारों ओर दुहरी बाड़ लगा दी जायगी।

३—ज्यूं ब्रह्मचारी विचरें तिहां,
ठाम ठाम छै नार ।
तिण कारण इण सील री,
वीर कही नव वाड़ ॥

३—जहाँ ब्रह्मचारी विचरण करता है वहाँ स्थान-स्थान पर स्त्रियाँ हैं। इसी कारण जिनेश्वर भगवान् ने शील रूपी खेत की सुरक्षा के लिए नव बाड़ का कथन किया है।

४—वाड़ न लोपें तेहनें,
रहें व्रत अभंग ।
ते वैरागी विरकत थका,
ते दिन २ चढतें रंग ॥

४—जो ब्रह्मचारी बाड़ों का उल्लंघन नहीं करता उसका शीलव्रत अभंग रहता है। ब्रह्मचर्य में उस विरक्त वैरागी का अनुराग बढ़ता ही जाता है ।

५—हिवें पेहली वाड़ में इम कह्यो,
नारी रहें तिहां रात ।
तिण ठामें रहिणों नहीं,
रह्यां व्रत तणी हुवे घात ॥

५—प्रथम बाड़ में ऐसा कहा है कि जहाँ स्त्री रहती हो वहाँ ब्रह्मचारी को रात्रि में वास नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से व्रत का घात होता है।

६—अथवा नारी एकली,
भली न संगति तास ।
धर्मकथा कहवी नहीं,
बसी तिणरें पास ॥

६—अथवा स्त्री अकेली हो तो उसकी संगति अच्छी नहीं। अकेली स्त्री के पास बैठ कर धर्म कथा भी नहीं कहनी चाहिए।

७—तिण थी ओगुण उपजे,
मका पांमें लोक ।
आवें अछतो आल सिर,
चले हुवें व्रत पिण फोक ॥

७—कारण यह है कि उससे अवगुण उत्पन्न होते हैं। लोग शंका-ग्रस्त होते हैं। बिना कारण सिर पर कलंक आता है और व्रत का भी विनाश हो जाता है।

८—तिण सूं ब्रह्मचारी भणी,
रहिणों छें एकंत ।
हिवें कुण-कुण जायगां वरजवी,
ते सुणजो मतिवंत ॥

८—अतः ब्रह्मचारी को एकान्त स्थान में रहना कर्त्तव्य है। ब्रह्मचारी को किन किन स्थानों का वर्जन करना चाहिए, उनको मैं कहता हूं। बुद्धिमान् ध्यानपूर्वक सुनें।

ढाल

[नवकठ नी देशी]

१—भाव धरी नित पालीयें,
गिरउ ब्रह्म व्रत सार हो। ब्रह्मचारी
जिण थी सिव सुख पांमीयें,
तूं बाड़ म खंडे लिगार हो। ब्रह्मचारी
आ पेंहली बाड़ ब्रह्मचर्यनी ॥

१—हे ब्रह्मचारी! तीव्र भावना के साथ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर। ब्रह्मचर्य-व्रत सब व्रतों में महान् और सारपूर्ण है। तू ब्रह्मचर्य की इस बाड़ को, खण्डित मत कर, जिससे कि तुझे शिव-सुख की प्राप्ति हो।

यह ब्रह्मचर्य की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

२—मंजारी संगत रमें,
कूकड़ मूसग मोर हो। ब्र०
कुसल किहां थी तेहनें,
मारें घाटी मरोड़ हो ॥ ब्र०

२—हे ब्रह्मचारी! चूहे मोर और मुर्गे यदि बिल्ली के साथ खेल खेलते हैं तो वे सुरक्षित कैसे रह सकते हैं? बिल्ली गर्दन मरोड़ कर उन्हें मार डालती है।

यह ब्रह्मचर्य की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

३—अस्त्री पसु निपुंसक जिहां बसे,
तिहां रहिवा नहीं वास हो। ब्र०
तेहना संगत थकीं,
व्रत नां फ्रें विणास हो ॥ ब्र०

३—हे ब्रह्मचारी! जहां स्त्री, पशु नपुंसक वास करते हों उस स्थान में तुम मत रहो। ब्रह्मचारी! उनकी संगति से दूर रहो क्योंकि उनकी संगति ब्रह्मचर्य-व्रत का विनाश करती है।

यह ब्रह्मचर्य की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

४—हाथ पांव छेदन कीया,
कांन नाक छेद्या तास हो। ब्र०
ते पिण सो वरस नीं डोकरी,
रहिवों नहीं तिहां वास हो ॥ ब्र०

४—जिसके हाथ पैर, कान नाक कटे हों, ऐसी सौ वय की विकलांगी वृद्धा भी जहाँ रहती हो वहाँ ब्रह्मचारी का रहना कल्प्य नहीं।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

५—सझ सिणगार देवांगणा,
आई चलावण तास हो। ब्र०
तिण आगे सो चलीयों नहीं,
सो ही रहिणों एकंत वास हो ॥ ब्र०

५—सोलह शृङ्गार से सुसज्जित देवाङ्गना विचलित करने आये और उससे भी जो पुरुष विचलित न हो उसे भी एकान्त स्थल में ही वास करना चाहिए।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

६—अस्त्री हुवें तिहां वासो रहें,
कदा चल जावें परिणाम हो। ब्र०
जब दिढ रहिणों दोहिलों,
मिट हुवें तिण ठांम हो ॥ ब्र०

६—जहाँ स्त्री रहती है वहाँ ब्रह्मचारी के रहने से संभव है कि कदाचित् उसका मन विचलित हो जाय। उस हालत में दृढ़ रहना मुश्किल हो जाता है और वह उस स्थान पर ही भ्रष्ट हो जाता है।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

७—सींह गुफावासी जती,
रह्यों वेस्या चित्रसाल हो। ब्र०
तुरत चल्यों चत वेहनें,
गयो देस नेपाल हो ॥ ब्र०

७—सिंह-गुफावासी यति वेश्या की चित्रशाला में आकर ठहरा तो वह भी तुरंत उसके वश में हो गया और अपनी वासना की तृप्ति के लिए कम्बल लाने नेपाल देश गया।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

८—कुल बालूरो साध थो,
तिण भाग्यो वरत रसाल हो। ब्र०
कोणक री गणका वस पड्यों,
ते रुळसी अनतो काल हो ॥ ब्र०

८—कुल बालुका नामक एक साधु था। कोणिक की गणिका के वशीभूत हो उसने उत्तम व्रत को भंग कर दिया जिसके कारण वह अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करेगा।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

९—मंजारी जिहां उंदर रहैं,
ते घात पामे ततकाल हो । ब्र०
ज्यूं नारी जिहां ब्रह्मचारी रहैं,
भांगे सीयल रसाल हो '' ॥ ब्र०

९—जहाँ बिल्ली रहती है, वहाँ यदि चूहे रहें तो वे तुरंत ही विनाश को प्राप्त होते हैं। वैसे ही जहाँ नारी है वहाँ रहने से ब्रह्मचारी के उत्तम शीलव्रत का भङ्ग होना स्वाभाविक है।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

१०—बाड़ सहीत सुध पालीयें,
पूरीजे मन खांत हो । ब्र०
आ सीख दीधी छैं तो भणी,
तूं रहिजे खायगां एकत हो '' ॥ ब्र०

१०—अतः मनकी पूरी चौकसी के साथ नव बाड़ सहित ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर। हे ब्रह्मचारी! भगवान् ने तुम्हें यह शिक्षा दी है कि तू एकान्त जगह में रह।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १४

भगवान् महावीर ने 'उत्तराध्ययन' सूत्र (अ० १६ गाथा १) में ब्रह्मचर्य में समाधि—स्थिरता प्राप्त करने के दस उपाय बतलाए हैं।

गाँव की सीमा पर अवस्थित खेतों की पशुओं से रक्षा करने के लिए उनके चारों ओर बाड़ लगानी पड़ती है और बाड़ों के बाहर खाई खोदनी पड़ती है। इसी तरह से जहाँ ब्रह्मचारी रहते हैं वहाँ सब जगह स्त्रियाँ भी रहती हैं। अतः शील—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए कितने ही नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। इन नियमों का नाम गुप्ति है। गुप्ति अर्थात् रक्षा का साधन—उपाय—बाड़। गुप्तियाँ नौ कही गई हैं। एक अधिक नियम जोड़कर इन्हीं को ब्रह्मचर्य के दस समाधि स्थान कहा गया है। इनमें से पहले नौ नियम बाड़ों की तरह हैं और दसवाँ नियम उनके चारों ओर परकोटे की तरह है।

ये दस नियम निम्न प्रकार हैं

१—एकान्त शयनासन का सेवन, स्त्री सहित मकानादि का परिहार।
२—स्त्री-कथा का परिहार।
३—स्त्री के साथ एकासन का परिहार।
४—स्त्रियों की मनोहर, मनोरम इन्द्रियों के निरीक्षण और ध्यान का परिहार।
५—स्त्रियों के नाना प्रकार के मोहक शब्दों को सुनने का परिहार।
६—पूर्व क्रीड़ा स्मरण का परिहार।
७—विषयवर्द्धक आहार का परिहार।
८—अति आहार का परिहार।
९—शरीर विभूषा और शृङ्गार का परिहार।
१०—शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्श रूपी विषयों के सेवन का परिहार।

ब्रह्मचर्य-रक्षा के इन उपायों के पालन करने से संयम और सदाचार में दृढ़ता होती है। चित्त की चंचलता दूर होकर उसमें स्थिरता आती है। मन, वचन, काया तथा इन्द्रियों पर विजय होकर अप्रमत्त भाव से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। ब्रह्मचारी को इन्हें हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

[२] दोहा ५-६ :

प्रथम बाड़ की व्याख्या स्वामीजी ने दो प्रकार से की है। जहाँ स्त्री रहती हो वहाँ ब्रह्मचारी रात्रिवास न करे—यह प्रथम व्याख्या है। ब्रह्मचारी किसी भी समय अकेली स्त्री की संगति न करे, यहाँ तक कि अकेली स्त्री को धर्म-कथा भी न कहे—यह दूसरी व्याख्या है।

स्वामीजी ने आगे का विवेचन इन दोनों व्याख्याओं को ध्यान में रखकर किया है।

प्रथम बाड़ की ऐसी परिभाषा का आधार आगम के निम्न वाक्य हैं :

न निग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सिया

—आचारांग श्रु० २ १५ (चौथे महाव्रत की पाँचवीं भावना)।

—निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु तथा नपुंसक से संसक्त शयन आसन आदि का सेवन न करे।

समरेसु अगारेसु सन्धीसु य महापहे।
एगो एगित्थिए सद्धिं नेव चिट्ठे न संलवे॥

—उत्त० १ : २६

—घर की कुटी में, घरों में, घरों की सन्धियों में और राजमार्ग में अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ न खड़ा हो और न उसके साथ संलाप करे।

[३] दोहा ७ :

इस दोहे का आधार आगम का निम्नलिखित श्लोक है

अदु नाइणं व सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एगया होइ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि॥

—सू० १ ४।१ : १४

—किसी स्त्री के साथ एकान्त स्थान में बैठे हुए साधु को देखकर उस स्त्री के ज्ञाती और सुहृदों को कभी कभी चित्त में अप्रिय—दुःख उत्पन्न होता है। वे समझते हैं कि जैसे दूसरे पुरुष काम में आसक्त रहते हैं, इसी तरह यह साधु भी कामासक्त है। फिर वे क्रोधित होकर कहते हैं कि तू इसका भरण पोषण भी कर क्योंकि तू इसका पति है।

[४] दोहा ८

आठवें दोहे के प्रथमार्द्ध का आधार निम्नलिखित श्लोक है :

जं विवित्तमणाइण्णं रहियं इत्थीजणेण य।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए॥

— उत्त० १६ : १

—मुमुक्षु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए विविक्त—एकान्त, अनाकीर्ण और स्त्रियों से रहित स्थान में वास करे।

[५] दोहा ८

आगे जो वर्णन आया है उसमें ब्रह्मचारी को स्त्री पशु और नपुंसक से संसक्त स्थान का वर्जन करने का कहा गया है।

इस विषय में 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में बड़ा गम्भीर विवेचन है। वहाँ कहा है—

"जत्थ इत्थियाओ अभिक्खणं मोहदोसरतिरागवड्ढणीओ कहिंति य कहाओ बहुविहाओ ते वि हु वज्जणिज्जा"

—जहाँ मोह और रति—काम-राग को बढ़ानेवाली स्त्रियों का बार-बार आवागमन हो और जहाँ पर नाना प्रकार की मोहजनक स्त्री-कथाएँ कही जाती हों—ऐसे सब स्थान ब्रह्मचारी के लिए वर्जनीय हैं।

जत्थ मणोविब्भमो वा भंगो वा भंसणा वा अट्टं रुद्दं च
हुज्ज झाणं तं तं वज्जेज्ज वज्जभीरू

—प्रश्न २. ४ पहली भावना

—जिन स्थानों में रहने से मन विभ्रम को प्राप्त होता हो, ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण रूप से या अंश रूप से भंग होने की आशंका हो और अपध्यान—आर्त और रौद्र ध्यान उत्पन्न होता हो वे स्थान पाप भीरु ब्रह्मचारी के लिये वर्जित हैं।

[६] ढाल गा० २ ३ :

स्वामीजी की इन गाथाओं का आधार निम्नलिखित श्लोक है :

> जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं
> एवं खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं ॥
>
> —दस० ८ : ५४

जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली से हमेशा भय रहता है उसी तरह ब्रह्मचारी को स्त्री शरीर से भय रहता है।

[७] ढाल गा० ४ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार निम्नलिखित पाठ है

नो निग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सिया, केवली बूया—निग्गंथे णं इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा।

—आचारांग सूत्र श्रु० २ अ० १५ चौथे महाव्रत की पाँचवी भावना

—निर्ग्रन्थ स्त्री पशु, नपुंसक से संसक्त शय्या आसन का सेवन न करे। केवली भगवान् ने कहा है कि स्त्री, पशु तथा नपुंसक से संसक्त शय्या तथा आसन के सेवन से शान्ति का भेद, शान्ति का भंग होता है और निर्ग्रन्थ केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

[८] ढाल गा० ४ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार निम्नलिखित श्लोक है

> हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्णनासविगप्पियं ।
> अवि वाससइं नारिं बंभयारी विवज्जए ॥
>
> —दस० ८ : ५६

जिसके हाथ, पैर एवं कान कटे हुए हैं तथा जो पूरे सौ वर्ष की बुढ़िया है—ऐसी स्त्री की संगति का भी ब्रह्मचारी विवर्जन करे।

[९] ढाल गा० ५

स्वामीजी की इस गाथा का आधार निम्नलिखित श्लोक है :

> कामं तु देवीहि विभूसियाहिं । न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ॥
> तहा वि एगंतहियं ति नच्चा । विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥
>
> —उत्त० ३२ : १६

मन, वचन और काया से गुप्त जिस परम संयमी को विभूषित देवांगनाएँ भी काम से विचलित नहीं कर सकतीं उस मुनि के लिए भी एकान्तवास ही हितकर जान स्त्री आदि से रहित एकान्त स्थान में निवास करना ही श्रेष्ठ है।

[१०] सिंह गुफावासी यति :

इसकी कथा परिशिष्ट में देखिए। परिशिष्ट क कथा १४

[११] कूल बालुड़ा :

इसकी कथा परिशिष्ट में देखिए। परिशिष्ट-क कथा १५

[१२] ढाल गा० ६

स्वामीजी की इस गाथा आधार का निम्नलिखित श्लोक है

> जहा बिरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही पसत्था ।
> एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे न बंभयारिस्स खमो निवासो ॥
>
> —उत्त० ३२ : १३

—जैसे बिल्लियों के निवास के मूल में—समीप चूहों का रहना शुभ नहीं, उसी तरह से जिस मकान में स्त्रियों का वास हो उस स्थान में ब्रह्मचारी के रहने में क्षेम-कुशल नहीं।

[१३] ढाल गा० १०

—स्त्री के साथ सहवास करने में ब्रह्मचारी के लिए बड़ा खतरा है, इसलिए उसे एकान्त स्थान में रहने का उपदेश है। कहा है :

जउकुम्भे जहा उवज्जोई ।
संवासे विऊ विसीएज्जा ॥

—सू० १.४।१।२६

—जिस प्रकार अग्नि के निकट लाख का घड़ा गल जाता है उसी प्रकार विद्वान पुरुष भी स्त्री के सहवास से विषाद को प्राप्त होता है।

अह सेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं ।
एवं विवेगमायाय, संवासो न वि कप्पए दविए ॥

—सू० १.४।१:१०

—विष मिश्रित खीर के भोजन करनेवाले मनुष्य की तरह स्त्रियों के सहवास में रहनेवाले ब्रह्मचारी को पीछे विशेष अनुताप करना पड़ता है। इसलिए पहले से ही विवेक रखकर मुमुक्षु स्त्रियों के साथ सहवास न करे।

दूजी बाड़

कथा न कहणी नार नी

ढाल ३

दुहा

१—कथा न कहणी नार नीं,
ते जिण कही दूजी बाड़ ।
जो नारी कथा कहें नेह सूं,
हुवें बरत बिगाड़ ॥

१—जिन भगवान ने दूसरी बाड़ में बताया है कि ब्रह्मचारी को नारी की कथा—चर्चा नहीं करनी चाहिए। नारी की कथा करने से व्रत की क्षति होती है।

२—जे झूल रह्या ब्रह्म बरत में,
त्यांरे विषें नहीं मन मांय ।
ते ब्रह्मचारी नें नारी कथा,
करवी सोमें नांय ॥

२—जो ब्रह्मचर्य-व्रत रूपी झूले में झूल रहा है उसके मन में तनिक भी विषय-वासना नहीं होती। ऐसे ब्रह्मचारी को नारी की कथा कहना शोभा नहीं देता।

ढाल

[कपूर हुवें अति ऊजलो रे]

१—जात रूप कुल देसनां रे,
नारी कथा कहें जह ।
वार वार कथा कर रे,
तो किम रहें बरत सूं नेह रे ।
भवीयण नारी कथा निवार,
ए छ दूजी बाड़ विचार रे ॥भ०॥

१—जो स्त्रियों के जाति रूप कुल या देश सम्बन्धी कथाएँ बार-बार कहता है, उसका ब्रह्मचर्य के प्रति स्नेह कैसे रह सकता है ?

हे भव्य ! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

२—चंद मुखी मिरग लोयणी रे,
वेणी जांणें भुयंग ।
दीप सिखा सम नासिका रे,
होठ प्रवाली रे रंग रे ॥भ०॥

२, ३ ४—मन में विवेक लाकर ब्रह्मचारी ऐसा वर्णन न करे—अमुक नारी चन्द्रमुखी है; मृगनयनी है। उसकी वेणी सर्पिणी की तरह काली है। उसकी नासिका दीपशिखा के सदृश है। उसके अधर

९—तिणरे हाथे न आई मिरगावती रे,
ते यूंही हुओ खुराब।
फिट २ हुओ लोक में रे,
घणी पड़ाइ आब रे[५] ॥म०॥

१०—पदमोत्तर राजा नारद कनें रे,
द्रोपदी रा रूप री सुण बात।
देव कनें मगाई तिण द्रोपदी रे,
तो इजत गमाई साख्यात रे[६] ॥म०॥

११—नारी कथा सुणनें विगड्या घणां रे,
त्यांरा कहितां न आवें पार।
ते मिट हुवां व्रत भांग नें रे,
ते हार गया जमवार रे ॥ म०॥

१२—नींबू फल नीं वारता सुणयां रे,
मुख पांणी मेलें छें ताय।
ज्यूं अस्त्री कथा सुणीयां थकां रे,
परिणांम थोड़ा में चल जाय रे ॥ म०॥

१३—संका कंखा वितिगछा मन उपजें रे,
सीयल वरत पाळूं के नांहीं।
तिण सूं नारी कथा करवी नहीं रे,
दूजी वाड़ रें मांहीं रे ॥ म०॥

१४—वार वार अस्त्री तणी रे,
कथा न करणी तांम।
ए बीजी वाड़ सुध पालसी रे,
ते पांमसी अविचल ठांम रे ॥ म०॥

९—पर मृगावती उसके हाथ नहीं आई और वह व्यर्थ ही खराब हुआ। वह लोक में धिक्कारा गया। उसने अपनी प्रतिष्ठा खो दी।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

१०—महाराजा पद्मोत्तर ने नारद से द्रौपदी के रूप की बात सुनकर देव के द्वारा द्रौपदी को अपने पास मँगवा लिया। पद्मोत्तर को इस कार्य के कारण अपनी इज्जत देनी पड़ी।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

११—नारी-कथा के सुनने से अनेक (व्यक्ति) बिगड़ चुके हैं जिनका कहने से पार नहीं आता। वे व्रतों को भंग कर भ्रष्ट हो गये और उन्होंने अपना जन्म व्यर्थ में खो दिया।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

१२—जिस प्रकार नीबू (फल) का वर्णन सुनने से मुख में पानी छूटने लगता है उसी प्रकार नारी की कथा सुनने से परिणाम शीघ्र विचलित हो जाता है।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

१३—मन में शंका तथा कांक्षा उत्पन्न होती है। ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है कि मैं शीलव्रत पालूँ या नहीं? इसी कारण भगवान ने दूसरी बाड़ में कहा है कि ब्रह्मचारी को नारी-कथा नहीं करनी चाहिए।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

१४—बार-बार स्त्री-कथा नहीं करनी चाहिए। जो इस दूसरी बाड़ का शुद्ध रूप से पालन करेगा वह अविचल धाम—मोक्ष को प्राप्त करेगा।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ २ :

स्वामीजी ने दूसरी बाड़ की जो परिभाषा यहाँ दी है, उसका आधार आगम के निम्न स्थल है :

नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गन्थे

उत्त० १६ : २

—जो स्त्री कथा नहीं कहता वह निर्ग्रंथ है।

मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी।
बम्भचेररओ भिक्खू थीकहं तु विवज्जए॥

—उत्त० १६ श्लो० २ :

—ब्रह्मचारी मनको चंचल करनेवाली और विषय-राग को बढ़ानेवाली स्त्री-विषयक कथाएँ न कहे।

नारीजणस्स मज्झे न कहियव्वा कहा विचित्ता।
विब्बोयविलाससंपउत्ता हाससिंगार लोइयकहव्व मोहजणणी॥
कहाओ सिंगार कलुणाओ तवसंजमबंभचेर घाओवघाइयाओ।
अणुचरमाणेणं बंभचेरं न कहियव्वा न सुणियव्वा न चिंतियव्वा॥

प्रश्न० २-४ दूसरी भावना

—ब्रह्मचारी स्त्रियों के बीच में विभ्रम विलासयुक्त हास्य शृंगार तथा मोह उत्पन्न करनेवाली विचित्र कथाएँ न कहे।

—शृंगार रस के कारण मोह उत्पन्न करनेवाली तथा तप संयम और ब्रह्मचर्य का घात-उपघात करनेवाली कामुक कथाएँ ब्रह्मचारी न कहे, न सुने और न उनका चिन्तन करे।

[२] ढाल गा० १ ४ :

स्वामीजी ने इन गाथाओं में जो बात कही है उसका आधार आगम के निम्न वाक्य हैं

"न आवाहविवाह वर कहाविव इत्थीणं वा सुभगदुभग कहा चउसट्ठिं च महिलागुणा न वण्ण देस जाति कुल रूव नाम नेवत्थ परिजण कहा इत्थियाणं अन्नावि य एवमाइयाओ कहाओ सिंगार कलुणाओ तवसंजमबंभचेर घाओवघाइयाओ अणुचर माणेणं बंभचेरं न कहियव्वा न सुणियव्वा न चिंतियव्वा।"

एवं इत्थीकहविरतिसमिइ जोगेणं भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण विरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेर गुत्ते।

—प्रश्न० २ ४ दूसरी भावना

—नूतन विवाह किए हुए वर-वधू अथवा विवाह करनेवाले वर-वधू की कथा नहीं करनी चाहिए।

—स्त्रियों के सौभाग्य-दुर्भाग्य की कथा नहीं करनी चाहिए।

—कामशास्त्रों में वर्णित स्त्रियों के चौसठ गुणों का वर्णन नहीं करना चाहिए। स्त्रियों के वर्ण, देश, जाति कुल रूप नाम नेपथ्य और परिजन सम्बन्धी कथाएँ न करनी चाहिए। शृंगार रस के कारण मोह उत्पन्न करनेवाली कथाएँ न करनी चाहिए। इसी प्रकार की अन्य कथाएँ जो तप, संयम और ब्रह्मचर्य का घात-उपघात करनेवाली हों उन्हें ब्रह्मचर्य का अनुसरण करनेवाला ब्रह्मचारी न कहे न सुने और न उनका चिन्तन करे।

—ब्रह्मचारी कथा-विरति समिति के योग से अंतरात्मा को भावित करनेवाला होता है। ऐसा मैथुन से निवृत्त, इन्द्रियों के विषयों से रहित जितेन्द्रिय पुरुष ब्रह्मचर्य में गुप्त होता है।

[३] ढाल गा० ६ :

स्वामीजी ने इस गाथा में जो बात कही है उसका आधार सूत्र के निम्न वाक्य हैं :

णो णिग्गंथे अभिक्खणं अभिक्खणं इत्थीणं कहं कहइत्तए सिया, केवली बूया—निग्गंथे णं अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहमाणे संतिभेया संति विभंगा संति केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा

—आ० २ १५ : (चौथे व्रत की पहली भावना)

१

—निर्ग्रंथ बार-बार स्त्री-कथा न करें।

केवली भगवान् ने कहा है—बार-बार स्त्री-कथा करने से मन की शान्ति का भंग तथा विनाश होता है और ब्रह्मचारी केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है।

[४] ढाल गा० ७ :

'मही कुमारी' का जीवन वृतांत परिशिष्ट में दिया गया है। परिशिष्ट—क कथा १६

[५] ढाल गा० ८-९ :

'मृगावती' की कथा परिशिष्ट में दी गई है। परिशिष्ट—क कथा १७

[६] ढाल गा० १० :

द्रोपदी की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट—क कथा १८

[७] ढाल गा० १२ :

स्वामीजी ने जो बात यहाँ कही है, उसका आधार सूत्र के निम्न वाक्य हैं :

निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलि पन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा।

उत्त० १६ : २

—स्त्रियों की कथा करने से निर्ग्रंथ ब्रह्मचारी के मनमें ब्रह्मचर्य के प्रति शंका उत्पन्न होती है।

—उसके कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती हैं। संयम का भेद और भंग होता है। उन्माद की उत्पत्ति होती है। दीर्घकालिक रोगातंक होते हैं। वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है। इसलिए स्त्री-कथा नहीं कहनी चाहिए।

२—एकण आसण बेठां आसगो थावें,
आसंगे काया फरसावें लाल ।
काया फरस्यां विषें रस लागें,
इम करतां साधक वरत भागें लाल ॥सी०॥

२—एक आसन पर बैठने से नारी का संसर्ग होता है। नारी-संसर्ग काया का स्पर्श कराता है। काया के स्पर्श से विषय-रस की जागृति होती है। विषय-रस की जागृति से सम्पूर्ण व्रत भंग हो जाता है।

३—पाट बाजोट सेजा संथारो जांणो,
एहवा आसण अनेक पिछांणो लाल।
तिहां नारी सहीत बेंसो मत कोई,
जिण वचनां साहमो जोई लाल ॥सी०॥

३—पाट, बाजोट, शैय्या, संस्तारक आदि अनेक प्रकार के आसन हैं। जिनेश्वर भगवान् के वचन को सम्मुख रख कर कोई भी ब्रह्मचारी नारी के साथ एक आसन पर न बैठे।

४—अस्त्री सहीत बेंसें एकण आसण,
तो चले लोक पडें छें विमासण लाल ।
अछतोई आल दे करें फितूरो,
घले बोलें अनेक विघ कूडो लाल ॥सी०॥

४—स्त्री के साथ एक आसन पर बैठने से लोगों में ब्रह्मचारी के प्रति शंका हो जाती है। लोग उस पर मिथ्या कलंक लगाते हैं तथा उसके सम्बन्ध में नाना मिथ्या-प्रचार करते हैं।

५—जिन ठांम बेंठी हुवें नारी,
तिण ठामे न बेंसे ब्रह्मचारी लाल ।
बेंसें तो अंतर मूहरत टाली,
वेद सभाव सभाली लाल ॥सी०॥

५—वेद के स्वभाव का ध्यान रख कर जिस स्थान से स्त्री उठी हो उस स्थान पर ब्रह्मचारी तुरंत न बैठे। अगर बैठे तो अन्तर मुहूर्त का समय टाल कर बैठे।

६—नारी वेद रा पुदगल तिण थी,
नर वेद विकार थायें जिण थी लाल।
यं हीज नारी ने पुरष सूं जांणो,
मांहोमां वेद विकार पिछांणो लाल ॥सी०॥

६—नारी-वेद के पुद्गलों से पुरुष-वेद विकार को प्राप्त होता है। उसी प्रकार पुरुष-वेद के पुद्गलों से नारी-वेद। इस प्रकार संसर्ग से परस्पर वेद विकार उत्पन्न होता है। यह समझो।

७—नारी फरस वेदां हुवें भोग रा रागी,
जप आयें परत मूं भागी लाल ।
इण कारण एकण आसण बेंसणो नाहीं
नारी फरस डरणो मन मांहीं लाल ॥सी०॥

७—स्त्री-स्पर्श से वेदानुभव का प्राप्त हो ब्रह्मचारी भोग का अनुरागी बनता है। इससे व्रत भंग हो जाता है। इसी कारण से ब्रह्मचारी को नारी के संग एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए और नारी-स्पर्श से मन में डरते रहना चाहिए।

८—श्री रांणी सम्भूत बांदो आणी मन रागो
कर फरस हुवा तन लागो लाल ।
तिण चारित्र गाय नाहांणो कीधो,
दुरगत नो पंथ लीधो लाल ॥सी०॥

८—सम्भूत चक्रवर्ती की रानी ने मन में अनुराग लाकर मुनि को वन्दन किया। मुनि को रानी के हाथों का स्पर्श हुआ। मुनि ने नियाणा कर चारित्र खो दिया और दुर्गति का रास्ता अपनाया।

९—ते देव थईनें चक्रवत हुवों,
भोग मांहें गिधी थको मूंओ लाल।
सातमीं नरक मांहिं जाय पड़ीयो,
पाप सूं पूर्ण भरीयो लाल ॥ती०॥

९—मृत्यु के बाद वह मुनि देवता हुआ। वहाँ से च्यवकर चक्रवर्ती हुआ और भोगों में गृद्ध रहता हुआ पापों से परिपूर्ण हो काल प्राप्त कर सातवीं नरक में गया।

१०—नारी फरस वेदां सूं ओगुण अनेक,
तिण सूं आसण न बेंसणों एक लाल।
सङ्का कङ्खा वितिगिछा उपजें मनमांहीं
सील वरत पालूं के नाहीं लाल ॥ती०॥

१०—नारी-स्पर्श के वेदन से अनेक दुर्गुण होते हैं। अतः नारी के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए। इससे शंका, कांक्षा उत्पन्न होती है तथा शीलव्रत का पालन करूं या नहीं, यह विचिकित्सा उत्पन्न होती है।

११—ए बाड़ लोपी तिण बात बिगोई,
तिण दीयों ब्रह्म वरत खोई लाल।
ते नरक निगोद मांहें जाय पड़ीया,
ते संसार में रडवडिया लाल ॥ती०॥

११—जिसने इस तीसरी बाड़ का लोप किया, उसने व्रत-भङ्ग कर ब्रह्मचर्य व्रत को खो दिया। ब्रह्मचर्य व्रत से पतित होनेवाले नरक निगोद में गिरे और उन्होंने संसार में परिभ्रमण किया।

१२—कायर कोहलो फाख्यां कर फाटों,
तिण सूं थाक रहट हुवें आटो लाल।
ज्यूं अस्त्री सूं एकण आसण बेंठां तांम
ब्रह्मचारी रा चलें परिणाम लाल ॥ती०॥

१२—जैसे कायर और कोहल (कद्दू) को काटकर आटे में गूँधने से आटा रसरहित हो जाता है, उसी प्रकार एक आसन पर बैठने से ब्रह्मचारी के परिणाम चलित हो जाते हैं।

१३—मा बेंन बेटी पिण इमहीज जाणों,
एकण आसण मतीय बेंसाणों लाल।
त्यां सूं पिण भाग गया छें अनंत,
ते भाख्यो छें श्री भगवंत लाल ॥ती०॥

१३—माता, बहन या बेटी के प्रति भी यही नियम समझो। ब्रह्मचारी उन्हें भी अपने साथ एक आसन पर नहीं बैठाये क्योंकि इनसे भी अनेक व्रतधारियों के व्रत भंग हुए हैं, ऐसा भगवान् ने कहा है।

१४—इम सांभल तीजी बाड़ म लोपो,
ब्रह्मचर्य में थिर पग रोपो लाल।
तो सिव रमणी नें वेगी वरसों,
आवागमण न करसों लाल ॥ती०॥

१४—अतः उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए तीसरी बाड़ का उल्लंघन मत करो। ब्रह्मचर्य में अपने पैरों को स्थिर रखो, जिससे कि तुम शीघ्र ही शिव-रमणी को वरण करो और आवागमन को मिटा सको।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ :

स्वामीजी के इस दोहे का आधार आगम का निम्नलिखित वाक्य है :

नो निग्गंथे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा

—उत्त० १६ : ३

—निर्ग्रन्थ स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे ।

दोहा २, ३ के 'नारि-संगति' 'नार-प्रसंग' आदि शब्दों से ऐसा लगता है कि केवल स्त्री के साथ एक आसन पर बैठना ही तीसरी बाड़ नहीं बल्कि स्त्रियों की संगति न करना, उनके साथ घुल-मिलकर वार्तालाप आदि के प्रसंग में न पड़ना, उनके साथ अत्यधिक परिचय न करना आदि भी इस बाड़ के अन्तर्गत आते हैं ।

स्वामीजी के द्वारा प्रस्तुत तीसरी बाड़ के इस व्यापक स्वरूप का आधार आगम के निम्न स्थल हैं :

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं ।
बंभचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए ॥

—उत्त० १६ श्लो० ३

—ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु स्त्रियों के साथ सहवास परिचय बार-बार बातचीत का हमेशा परिवर्जन करे ।

गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं ।

—दश० ८ : ५३

—ब्रह्मचारी गृहस्थ स्त्री से परिचय न करावे । वह साधु से ही परिचय करे ।

नो संपसारए, नो ममाए ।
नो कयकिरिए, वइगुत्ते
अज्झप्प संवुडे परिवज्जए सया पावं

—आचा० १५ : ४

—ब्रह्मचारी स्त्रियों के साथ परिचय न करे, उनसे ममता न करे, उनका आदर-स्वागत न करे, उनसे बात करने में वचन-गुप्त हो । वह मन को वश में कर हमेशा पापाचार से दूर रहे ।

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे ।
नो सद्धियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥

—सू० १ ४ । १ । ५

—ब्रह्मचारी स्त्रियों पर दृष्टि न साधे, उनके साथ कुकर्म का साहस न करे । ब्रह्मचारी स्त्रियों के साथ विहार न करे । इस प्रकार स्त्री-प्रसंग से बचने से आत्मा सुरक्षित होती है ।

" इत्थिसंसग्गी, ।
नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ॥

—दश० ८ : ५७

—आत्मगवेषी ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-संसर्ग तालपुट विष की तरह है ।

[२] दोहा २ :

स्वामीजी के इस दोहे का आधार आगम का निम्न श्लोक है :

जउ कुम्भे जोइउवगूढे आसुभितत्ते नासमुवयाइ ।
एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण नासमुवयन्ति ॥

सू० १ : ४ : १ : २७

—जैसे अग्नि के पास रखा हुआ लाख का घड़ा शीघ्र तप्त होकर नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी तरह स्त्रियों के सहवास से अनगार का संयम रूपी जीवन नाश को प्राप्त हो जाता है।

स्वामीजी ने घी का दृष्टान्त दिया है। आगम में लाख का दृष्टान्त है।

[३] दोहा ४ :

स्वामीजी ने इस दोहे में जो अग्नि और लोह का उदाहरण दिया है वह उनका मौलिक दृष्टान्त है। स्वामीजी के कथन का सार यह है कि जैसे अग्नि कठोर से कठोर लोहे को भी उसमें डालने पर गला देती है उसी तरह कोई चाहे कितना ही बड़ा तपस्वी क्यों न हो, यदि वह स्त्री के साथ एकासन पर बैठता है, तो उसका मनोबल क्षीणता को प्राप्त हुए बिना नहीं रह सकता। अतः एकासन पर न बैठना, यह समस्त ब्रह्मचारियों के लिए एक सामान्य नियम है।

स्वामीजी के इस दोहे का आधार आगम का निम्नलिखित श्लोक है :

> जे एवं उंछं अणुगिद्धा अन्नयरा हुंति कुसीलाणं ।
> सुतवस्सिए वि से भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु ॥
>
> —सू० १, ४।१ : १२

—सुतपस्वी भिक्षु भी स्त्री के साथ विहार न करे।

[४] ढाल गा० १२ :

एकासन पर बैठने पर ब्रह्मचारी का पतन किस तरह होता है, इसका बड़ा सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस गाथा में है। एक आसन पर बैठने पर संसर्ग होता है, संसर्ग से स्पर्श होता है, स्पर्श से तीव्र विषय-वासना की जागृति होती है, विषय-वासना की जागृति से संयोग होता है। इस तरह ब्रह्मचर्य व्रत का सम्पूर्णतया नाश होता है।

'गीता' में पतन का क्रम निम्नरूप में मिलता है :

> ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
> संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
> क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृति विभ्रमः ।
> स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धि नाशात् प्रणश्यति ॥
>
> —गीता अ० २ : ६२-६३

—विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष की उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है आसक्ति से कामना होती है और कामना से क्रोध होता है। क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से होश ठिकाने नहीं रहता, होश ठिकाने न रहने से ज्ञान का नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया वह मृतक तुल्य है।

[५] ढाल गा० ३ :

इस गाथा में 'आसन' शब्द का अर्थ बताया गया है। पाट—अर्थात् बैठने का काठ का तख्ता—पीठ बाजोट—पाट से बड़ा तख्ता सेज्जा—शय्या—सोने का पाट, संथारा—संस्तारक—बिछौना आदि 'आसन' की परिभाषा में आते हैं।

[६] ढाल गा० ४ :

इस गाथा का आधार सूत्र का निम्नलिखित श्लोक है :

> अदु णाईणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एगया होइ ।
> गिद्धा सत्ता कामेहिं रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि ॥
>
> —सू० १, ४।१ : १४

[७] ढाल गा० ५ :

इस गाथा में ब्रह्मचारी को उस स्थान या आसन का तुरंत उपयोग करने की मनाही है जिस स्थान या आसन पर से स्त्री तुरंत ही उठी हो। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए यह आवश्यक माना गया है कि ऐसे स्थान या आसन पर साधु अंतर मुहूर्त के पहले न बैठे।

आचार्य नेमिचन्द्र ने 'उत्तराध्ययन सूत्र' की टीका में लिखा है—ऐसी साम्प्रदायिक मान्यता है कि ऐसे स्थान पर ब्रह्मचारी एक मुहूर्त तक न बैठे। इसका कारण वेद स्वभाव या प्रकृति है [1]।

[८] गा० ६-७ :

नारी वेद और पुरुष वेद के पुद्गलों का परस्पर ऐसा कोई आकर्षण है कि उन पुद्गलों के स्पर्श से परस्पर विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। नारी वेद के पुद्गलों के स्पर्श से पुरुष में काम-राग उत्पन्न हो जाता है और पुरुष वेद के पुद्गलों के स्पर्श से नारी में। अतः इन पुद्गलों के स्पर्श से बचना ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक और उपयोगी माना गया है। एकासन पर न बैठने के नियम का एक हेतु यह वेद-स्वभाव है।

[९] गा० ८९ :

सम्भूत चक्रवर्ती की कथा के लिए देखिये परिशिष्ट-क कथा १९

[१०] ढाल गा० १० :

—स्वामीजी की इस गाथा का आधार आगम के निम्न वाक्य हैं :

"निग्गंथस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा"

—उ० १६ : ३

—स्त्री के साथ एकासन पर बैठने से, ब्रह्मचारी के मन में ब्रह्मचर्य के प्रति शंका होती है। अब्रह्मचर्य की आकांक्षा होती है। उसकी आत्मा में विचिकित्सा होती है। चारित्र का भेद—भंग होता है। उन्माद होता है। दीर्घकालिक रोगातंक होता है। अंत में वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है।

[११] ढाल गा० १२ :

स्वामीजी ने कांजर और कोहळ का जो दृष्टान्त यहाँ दिया है, वह उनकी स्वाभाविक दृष्टान्तिक बुद्धि का सुन्दर नमूना है। ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य के साथ जो एकान्त मनोयोग रहता है वह नारी के साथ एकासन पर बैठने से उसी तरह टूट जाता है जिस तरह कांजर और कोहळ से आटे के रस का नाश हो जाता है।

[१२] ढाल गा० १३ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार सूत्र का निम्न स्थान है :

अवि धूयराहिं सुण्हाहिं, धाईहिं अदुव दासीहिं।
महतीहिं वा कुमारीहिं, संथवं से न कुज्जा अणगारे ॥

सू० १, ४ । १ : १३

—चाहे बेटी हो, बेटे की बहू हो, धाय हो या दासी हो बड़ी स्त्री हो या कुमारी हो, अनगार उसके साथ संस्तव—मेलजोल न करे।

कुव्वन्ति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं।

सू० १ : ४ । १ : १६

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं नच्चा ॥

सू० १ ४ । १ : ११

—जो स्त्रियों के साथ मेलजोल करता है वह समाधि योग से भ्रष्ट हो जाता है। अतः स्त्रियों को विष-लिप्त कंटक के समान जानकर ब्रह्मचारी उनके संसर्ग का वर्जन करे।

---

[1] १—उत्त० नेमि० टी० पृ० २२०

नो स्त्रीभिः सार्द्धं सन्निषद्या—पीठाद्यासनं तद्गतः स्यात्, "निषद्या" आसनमात्रमपि गृह्यते ? तासु उत्थितास्वपि नोपविशेत्, उत्थितास्वपि तत्र मुहूर्त्तं यत्र नोपवेष्टव्यमिति सम्प्रदायः।

१७—चोर पड्यों ते देखनें रे,
पत्री करवा लागों मांण।
चोर कहैं गरबे किसु रे,
म्हारें नारी नेणां रा लागा बांण ॥सु० ना०॥

१७—चोर को गिरा हुआ देखकर क्षत्रिय गर्व करने लगा। तब चोर बोला—क्षत्रिय! तुम किस कारण से इतना गर्व करते हो? मैं तेरे बाणों से घायल नहीं हुआ हूँ। मुझे तो नारी के नयन रूपी बाणों ने बींधा है।

१८—इत्यादिक बहू मांनवी रे,
त्यांरो कहितां न आवें पार।
जे नारी रूप में रीझीया रे,
ते गया जमारो हार ॥सु० ना०॥

१८—इस प्रकार अनेक मनुष्यों ने, जिनकी गिनती संभव नहीं, नारी के रूप में आसक्त होकर अपना मनुष्य-जन्म खो दिया है।

१९—नारी रूप कांनें सुणी रे,
भिष्ट हुआ छें अनेक [१९]।
तो दीठां गुण होसी किहां रे,
समझो आंण विवेक ॥सु० ना०॥

१९—स्त्री के रूप की कथा कानों से सुनकर ही अनेक व्यक्ति भ्रष्ट हो गये। फिर मनुष्य! मन में विवेक लाकर समझ—नारी के रूप को देखने से भला कैसे होगा?

२०—काची कारी आँख नी रे,
सूर्य सांहों जोयां अध होय।
ज्यूं नारी नेंणा निरखीयां रे,
ब्रह्म वरत देवें खोय ॥सु० ना०॥

२०—जिस प्रकार आँख की कच्ची कारीवाला मनुष्य सूरज की ओर देखने से अन्धा हो जाता है, उसी प्रकार नारी के रूप को निरखने से ब्रह्मचारी व्रत को खो देता है।

२१—ब्रह्मचारी निरखे नहीं रे,
नारी रूप सिणगार [११]।
आ सीख दीधी छें तो भणी रें,
रखे चूकेंला चोथी बाड़ ॥सु० ना०॥

२१—अतः हे ब्रह्मचारी! नारी के रूप और शृङ्गार को मत देख। तुमको यह शिक्षा इसलिए दी गई है कि कहीं तुम चौथी बाड़ से न चूक जाओ।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ पूर्वार्द्ध :

चौथी बाड़ का स्वरूप आगम के निम्नलिखित वाक्यों पर आधारित है :

तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीणं इन्दियाइं
मणोहराइं मणोरमाइं आलोएज्जा निज्झाएज्जा[1] ॥

उत्त १६ : ४

—निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों का अवलोकन न करे, निरीक्षण न करे।

न रूवलावण्णविलासहासं न जंपियं इंगियपेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥
अदंसणं चेव अपत्थणं च अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं हियं सया बम्भवए रयाणं ॥

उत्त ३२ : १४-१५

—श्रमण तपस्वी स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मंजुल भाषण, अंग विन्यास, कटाक्ष को चित्त में स्थान दे, देखने का अध्यवसाय न करे।

—ब्रह्मचारी को स्त्री के रूप आदि को नहीं देखना चाहिए। उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिए, उसका चिंतन नहीं करना चाहिए, उसका कीर्तन नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचर्य में रत पुरुष के लिए यह नियम सदा हितकारी और आर्य ध्यान—उत्तम समाधि प्राप्त करने में हितकर है।

[२] दोहा १ उत्तरार्द्ध :

'प्रश्नव्याकरण सूत्र' में कहा है :

उत्तमतवनियमणाणदंसणचरित्तसम्मत्त विणयमूलं मोक्खमग्गं
विसुद्धं सिद्धिगइनिलयं ··· अपुणब्भवं ··· अक्खयकरं
··· ·· निरुवलेवं ··· ··· सम्मग्गीकयदुग्गइपहं सुगइ
पहदेसगं।

—प्रश्न० २।४ : १

—ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विनय का मूल है। यह मोक्ष का मार्ग है। विशुद्ध मोक्षगति का स्थान है। पुनर्जन्म का निवारण करनेवाला है। अक्षय सुख का दाता है। निरुपलेप है। यह दुर्गति के मार्ग को रोकता है, सुगति के मार्ग का प्रदर्शक है।

ब्रह्मचर्य के इन गुणों के कारण जो इस व्रत का दृढ़ता पूर्वक पालन करता है निश्चय ही वह अपने जन्म को सफल करता है क्योंकि इसके द्वारा वह अपने लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

[३] दोहा २ :

इस दोहे का आधार आगम का निम्नलिखित श्लोक है :

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥

—द० ८ : ५४

—आत्मगवेषी पुरुष सुअलंकृत नारी की ओर—यहाँ तक कि दीवार पर अंकित चित्र तक की ओर गृद्ध दृष्टि से न ताके। यदि दृष्टि पड़ भी जाय तो जैसे उसे सूर्य की किरणों के सामने से हटाते हैं उसी तरह हटा ले।

१—ठीक ऐसा ही पाठ [illegible] २ १५ (चौथे व्रत की दूसरी भावना) में मिलता है।

[४] ढाल गाथा १ का पूर्वार्द्ध :

इसका आधार 'दशवैकालिक सूत्र' का निम्नलिखित श्लोक है :

> अंगपच्चंगसंठाणं चारुल्लवियपेहियं ।
> इत्थीणं तं न निज्झाए कामरागविवड्ढणं ॥
>
> दश० ८ : ५८

—ब्रह्मचारी स्त्रियों के अङ्ग प्रत्यङ्ग संस्थान—आकार, उनकी मनोहर वाणी और चक्षु-विन्यास पर ध्यान न लगाये क्योंकि ये काम-राग की वृद्धि करने वाले हैं।

[५] ढाल गाथा १ का उत्तरार्द्ध :

'प्रश्नव्याकरण सूत्र' में कहा है—

> पंकपणगपासजालभूयं
>
> प्र० ४ : २

—अब्रह्मचर्य पङ्क कीच जाल और पाश की तरह है।

सम्भव है स्वामीजी की गाथा का आधार यही सूत्र वाक्य हो।

[६] ढाल गाथा २ :

स्वामीजी की यह गाथा आगम के निम्न लिखित श्लोक के आधार पर है :

> रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
> अकालियं पावइ से विणासं ।
> रागाउरे से जह वा पयंगे,
> आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥
>
> —उत्त० ३२ : २४

—जिस तरह रागातुर पतंग आलोक से मोहित हो अतृप्त अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त करता है, उसी तरह रूप में तीव्र वृद्धि रखने वाला मनुष्य अकाल में ही मरण को प्राप्त होता है।

[७] ढाल गाथा ३ :

'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में कहा है[1]—

अब्रह्मचर्य देव, मनुष्य असुर सबका प्रार्थ्य है। यह स्त्री पुरुष और नपुंसक का चिह्न है। ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक इन तीनों लोकों में इसका अधिष्ठान है। यह चिरपरिचित है। अनादिकाल से जीव का पीछा कर रहा है। इसका अंत करना बड़ा ही कठिन है।

"मोह से मोहित मतिवाले अब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं। भवनपति व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक उसका सेवन करते हैं। मनुष्य जलचर, थलचर, खेचर मोह से आसक्त चित्त होते हैं। काम भोगों में अति तृष्णा सहित हैं, काम भोग के लिये तृषातुर हैं काम-भोगों की महती बलवती तृष्णा से अभिभूत हैं। काम-भोगों में गृद्ध और अत्यन्त मूर्छित हैं। जैसे कोई कीचड़ में फँस जाता है वैसे अब्रह्मचर्य में फँसे रहते हैं। वे तामस भाव से मुक्त नहीं होते। परस्पर एक दूसरे का सेवन करते हुए अपने दर्शन और चारित्रमोहनीय कर्म का पिंजरा अपने लिये तैयार करते हैं।

स्वामीजी की गाथा संभवतः आगम के उपर्युक्त भावों पर आधारित है।

१—प्रश्न १ ४ अबंभं ... सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पत्थणिज्जं ... इत्थिपुरिसनपुंसवेयचिंधं ... उड्ढनरयतिरियतिलोक-पइट्ठाणं ... चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं ... ...

तं च पुण निसेवंति सुरगणा सअच्छरा मोहमोहियमती ... मणुयगणा जलयरथलयरखहयरा य मोहपडिबद्धचित्ता अवितण्हा कामभोगतिसिया तण्हाए बलवईए महईए समभिभूया गढिया य अइमुच्छिया य अबंभे उस्सन्ना तामसेण भावेण अणुम्मुक्का दंसणचरित्तमोहस्स पंजरं पिव करेंति अन्नोन्नं सेवमाणा।

[८] ढाल गा० ४ :

इसका आधार आगम का निम्न वाक्य है :

"केवली बूया—णिग्गंथे णं इत्थीणं मणोहराइं इंदियाइं आलोएमाणे, णिज्झाएमाणे संतिभेया संतिविभंगा जाव धम्माओ भंसेज्जा ।"

—आचारांग २ १५ (चौथे महाव्रत की दूसरी भावना)

—केवली भगवान् कहते हैं—"जो निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियों का अवलोकन करता है निध्यासन करता है उसकी शान्ति का भंग तथा विभङ्ग होता है और वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।"

[९] ढाल गा० ६-८

जब मेघ कुमार ने दीक्षा लेने का भाव प्रगट किया तब उसके माता पिता ने कहा—"हे पुत्र ! तुम्हारी भार्याएँ सदृश शरीर, सदृश त्वचा, सदृश वय तथा सदृश लावण्य-रूप-यौवन और गुणों से युक्त हैं। तू उनके साथ मानुषिक काम भोग भोगने के बाद फिर प्रव्रज्या ग्रहण करना।" यह सुनकर मेघ कुमार बोला—

"माणुस्सगा कामभोगा असुई असासया वंतासवा पित्तासवा खेलासवा सुक्कासवा सोणियासवा दुरुस्सासनीसासा दुरूयमुत्तपुरीसपूयबहुपडिपुन्ना उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणगवंतपित्तसुक्कसोणियसंभवा अधुवा अणितिया असासया सडणपडणविद्धंसणधम्मा पच्छा पुरं च णं अवस्सविप्पजहणिज्जा ।" —ज्ञाता अ० १ पृ० १२-४३

—अर्थात् काम-भोगों का आधार स्त्री का शरीर अपवित्र है—अशाश्वत है। वमन का झरना, पित्त का झरना, श्लेष्म का झरना, शोणित का झरना, और बुरे श्वास-निश्वास का झरना है। दुर्गन्धयुक्त मूत्र, विष्टा, पीप से परिपूर्ण है। विष्टा मूत्र कफ पसीना, श्लेष्म वमन, पित्त, शुक्र शोणित इस में उत्पन्न होते रहते हैं। यह शरीर अध्रुव है, अनित्य है अशाश्वत है सड़न पड़न और विध्वंस स्वभाव वाला है। पहले या पीछे शरीर का अवश्य नाश होता है।

इसी तरह जब छः राजाओं ने मल्लि कुमारी को पाने के लिए महाराजा कुम्भ पर धावा बोला था तब मल्लिकुमारी ने राजाओं को बुलाकर जो उपदेश दिया वह भी प्राय इन्हीं शब्दों में था। उसने अंत में राजाओं से कहा—

"तं मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! माणुस्सएसु कामभोगेसु सज्जह रज्जह गिज्झह मुज्झह अज्झोववज्जह"

—ज्ञाता अ० ८ पृ० १४४

—मानुषिक कामभोगों की संगति मत करो उन में राग मत करो, उसमें गृद्ध मत होओ। उनमें मोह मत करो। उनका अध्यवसाय चिन्तन मत करो।

स्वामीजी ने प्रस्तुत गाथाओं में जो बात कही है उसका आधार 'ज्ञाता धर्म सूत्र' के उपर्युक्त स्थल हैं अथवा अन्य आगमों के ऐसे ही स्थल।

[१०] ढाल गा० ९ का उत्तरार्द्ध :

राजीमती और रथनेमि की घटना के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २०

[११] ढाल गाथा १० :

रूपी राय की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २१

[१२] ढाल गा० ११ १२

एकादी पुत्र की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २२

[१३] ढाल गा० १३ :

मणिरथ मदनरेखा की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २३

[१४] ढाल गा० १४ :

अरणक की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २४

[१५] गा० १९ का पूर्वार्द्ध :

नारी के रूप की कथा सुनकर भ्रष्ट होनेवाले व्यक्तियों के कुछ उदाहरण तीसरी ढाल के विवेचन में आ चुके हैं।

[१६] ढाल गा० २१ का पूर्वार्द्ध :

इस विषय में 'प्रश्न व्याकरण' सूत्र में कहा है

'तइयं नारीण हसिय भणियं चेट्ठियविप्पेक्खियगइ विलास कीलियं विब्बोइयनट्टगीय वाइय सरीर संठाण वण्णकर चरणनयण लावण्ण रूव जोव्वण पयोहरअधर वत्थालंकारभूसणाणि य गुज्झोवगासियाइं अण्णाणि य एवमाइयाइं तवसंजम बंभचेरघाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं न चक्खुसा न मणसा न वयसा पत्थेयव्वाइं पावकम्माइं'।" —प्रश्न० २४ तीसरी भावना

अर्थात्—स्त्री का हास्य, विकारयुक्त वचन, चेष्टा, नजर, गति, विलास, क्रीड़ा, विब्बोक नृत्य, गीत, बाजा बजाना शरीर की बनावट रंग-रूप, हाथ, पैर, नेत्र लावण्य आकार, यौवन, स्तन, अधर, वस्त्र, अलंकार, सजावट गुह्य अंग तथा इसी प्रकार की अन्य पाप जनक वस्तुएँ, जो तप-संयम तथा ब्रह्मचर्य का पूर्ण या आंशिक रूप से घात करती हैं, ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने वाले को नयन, मन, और वचन से त्याग देनी चाहिये।

"एवं इत्थीरूवविरतिसमिइ जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमन विरय गाम धम्मे जिइन्दिए बंभचेर गुत्ते।"

— प्रश्न० २४ तीसरी भावना

अर्थात्—इस प्रकार स्त्री रूपविरतिसमिति के योग से भावित अंतरात्मा ब्रह्मचर्य में आसक्त इन्द्रियों की लोलुपता से रहित, जितेन्द्रिय तथा ब्रह्मचर्य गुप्ति से युक्त होता है।

पाचवीं वाड़

ब्रह्मचारी ने रहिवों नहीं, सब्द पड़े तिहां कान

ढाल ६

दुहा

१—भीत परेच टाटी आंतर,
जिहां रहिवा हुवें नर नार।
तिहां ब्रह्मचारी नें रहिवां नहीं,
ए जिण कही पांचमीं वाड़ ॥

१—ब्रह्मचारी को उस स्थान पर नहीं रहना चाहिए जहां दीवार, पर्दा या टाटी की ओट में स्त्री-पुरुष रहते हों। जिन भगवान् ने पांचवी बाड़ यही कही है।

२—संजोगी पासें रहें,
ब्रह्मचारी दिन रात।
तेह तणा सब्द सुण्यां,
हुवें वरत नी घात ॥

२—यदि ब्रह्मचारी रात दिन संयोगी के पास रहता है तो उसके शब्दों को सुनने से उसके ब्रह्मचर्य व्रत की घात होती है।

३—जेवर नेउर खलकती,
ते सब्द पड़ें तिहां कांन।
जब चल जाए ब्रह्म वरत थी,
लागें विषें सूं ध्यांन ॥

३—जब जेवर और नुपूर की आवाज करती हुई स्त्री चलती है तो उसके शब्द ब्रह्मचारी के कान में पड़ते हैं जिससे वह ब्रह्मचर्य व्रत से विचलित हो जाता है और उसका ध्यान विषय में लग जाता है।

ढाल

[आनन्द समकित सुणजो रे लाल]

१—वाड़ सुणों हिवें पांचमीं रे लाल,
सील तणी रखवाल। ब्रह्मचारी रे।
ज्यूं वरत हुवें रहें तांहरो रे लाल,
वले नावें अछता आल। ब्रह्मचारी रे।
वाड़ सुणों हिवें पांचमीं रे छात ॥

१—हे ब्रह्मचारी! अब तुम पांचवी बाड़ सुनो जो शील-रक्षा की हेतु है, जिससे कि तुम्हारा व्रत दृढ़ रह सके और तुम पर झूठा कलंक न आए।

२—भीत परेच टाटी आंतरें रे लाल,
अस्त्री पुरष रहिता हुवें रात । म० ।
तिहां कुण २ दोषण उपजें रे लाल,
ते सांभलजो चितलाय । म० बा०॥

२—जहाँ पर्दा या टाटी की ओट में स्त्री-पुरुष रात में रहते हों वहाँ रहने से कौन-कौन से दोष उत्पन्न होते हैं, उसका वर्णन करता हूँ। ध्यान पूर्वक सुनो।

३—केल करें निज कंत सूं रे लाल,
ते बोलती जगावें छें काम । म० ।
कुई सब्द करें तिहां रे लाल,
रुदन सब्द करें तिण ठाम । म० बा०॥

३—स्त्री अपने प्रियतम से क्रीड़ा करती है और शब्दों से उसे कामोत्तेजित करती है। वह कभी कूजित-शब्द करती है और कभी रुदन-शब्द।

४—कोयल जिम बोलें कंत सूं रे लाल,
गावें मधुरें साद । म० ।
काम वसें हसि २ हसें रे लाल,
बोलती करें उनमाद । म० बा०॥

४—वह कभी कोयल की तरह मधुर आलाप करती है और कभी मधुर-शब्दों में गाती है। काम के वशीभूत होकर वह कभी अट्टहास करती है और कभी मदमत्त शब्द बोलती है।

५—वले थणित क्रंदित सब्द तिहां रे लाल,
वले विलपति सब्द हुवें तांम । म० ।
तिहां रहितां पड़वा सब्द सांभलें रे लाल,
ब्रह्मचारी चल जायें तुरत परिणांम । म० बा०॥

५—इसी प्रकार वहाँ स्तनित, क्रन्दित और विलापात के शब्द होते हैं। ऐसे स्थान पर रहने से ब्रह्मचारी के कानों में उपर्युक्त शब्द पड़ते हैं और उसके भाव विचलित हो जाते हैं।

६—गाज तणों सब्द सुणी रे लाल,
रति पांमें पपहीया मोर । म० ।
ज्यूं भोग समें रा सब्द सांभल्यां रे लाल,
लागें वरत नें खोड़ । म० बा०॥

६—जिस प्रकार घन-गर्जन सुनकर मोर और पपीहा रति को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार भोग-समय के कामोद्दीपक शब्दों को सुनने से व्रत में दोष लगता है।

७—इम सांभल नें रहिणो नहीं रे लाल
सब्द पड़ें तिहां कांन । म० ।
ए पांचमी बाड़ सुध पालीयां रे लाल,
पांमें सुगति निधांन । म० बा०॥

७—यह सुनकर, जहाँ कानों में शब्द पड़ने की संभावना हो वहाँ ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिए। जो इस पाँचवी बाड़ को शुद्ध रूप से पालन करता है वह परम गति मोक्ष को पाता है।

टिप्पणियाँ

[१] ढाल दोहा १ :

स्वामीजी की यह व्याख्या आगमों के निम्नलिखित वाक्यों पर आधारित है

तम्हा खलु नो निग्गंथे कुड्डंतरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तंतरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कंदियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा।

—उत्त० १६ : ५

—टाटी, पर्दे, भीत आदि की ओट में रहकर निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मधुर ध्वनि, रुदन, गीत, हास्य, विलाप और विषय-प्रेम के शब्दों को न सुने।

यही बात 'उत्तराध्ययन सूत्र' में अन्यत्र भी कही गयी है :

कुइयं रुइयं गीयं हसियं थणियकन्दियं।
बम्भचेररओ थीणं सोयगिज्झं विवज्जए॥

—उत्त० १६ : ५

[२] ढाल गा० ५ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार आगम के निम्नलिखित वाक्य हैं

निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तंतरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा

—उत्त० १६ : ५

—जो ब्रह्मचारी टाटी, परदे, भीत आदि की ओट में रहकर स्त्रियों के कूजन, रुदन गीत, हास्य, विलास, क्रन्दन, विलापादि के शब्द सुनता है, उसके मन में ब्रह्मचर्य के प्रति शंका उत्पन्न होती है। वह अब्रह्मचर्य की आकांक्षा करने लगता है। ब्रह्मचर्य का पालन करूँ या नहीं उसके मन में ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है। ब्रह्मचर्य का भेद होता है। उन्माद और दीर्घकालिक रोगातंक होते हैं और वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

छठी बाड़

खाधों पीधों विलसीयों, ते मत याद अणाय

ढाल ७ :

दुहा

१—हिवें छठी बाड़ में इम कह्यों,
चपल मन म डिगाय।
खाधों पीधों विलसीयां,
ते मत याद अणाय॥

१—छठी बाड़ में ऐसा कहा गया है कि तुम अपने चंचल मन को मत डुलाओ। पूर्व सेवित खान-पान, भोग-विलास का स्मरण मत करो।

२—मन गमता भोग भोगव्या,
ते याद कीयां गुण नांहि।
ए बाड़ भांग्यां वरत खंड हुवें,
वले अजस हुवें लोक मांहि ॥

२—पूर्व में भोगे हुए भोगों के स्मरण करने में कोई हित नहीं है। इस बाड़ का भंग करने से ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित होता है और लोगों में अपयश फैलता है।

ढाल

[रे जीव मोह अनुकम्पा नाणिए]

१—हाव भाव सब्द नारी तणा,
त्यां सुणीयां वधे विषे विकार रे।
एहवा सब्द आगें सुणींया हुवें,
त्यांनें याद न करणा लिगार रे।
छठी बाड़ सुणो ब्रह्मचर्य नीं॥

१—स्त्रियों के हाव-भाव पूर्ण शब्दों के श्रवण से विषय-विकार बढ़ता है। पूर्व में इस प्रकार के सुने हुए शब्दों का जरा भी स्मरण न करे।
हे ब्रह्मचारी! ब्रह्मचर्य की छठी बाड़ सुनो।

२—वर्ण गोरादिक सरीर नों,
रूप सोभागमांन अत्यंत रे।
एहवी अस्त्री सूं भोग भोगव्या,
चींतारे नहीं बरतवंत रे ॥छ०॥

२—गौरादि वर्ण से युक्त अति सुकुमारांग रूपवती स्त्री से भोगे हुए भोगों को ब्रह्मचारी स्मरण न करे।

३—गंध चोवा नें चंदणादिक,
रस मधुरादिक अनेक रे।
ते पिण अस्त्री संघातें भोगव्या,
ते पिण याद न करणों एक रे ॥छ०॥

३—स्त्री के साथ सेवित चोवा, चन्दन आदि अनेक सुगन्धित द्रव्यों की गन्ध एवं विविध मधुर रसों का स्मरण ब्रह्मचारी को नहीं करना चाहिए।

४—हाथ पग सुखमाल नारी तणा,
सुखमाल सरीर सुख दाय रे।
एहवी अस्त्री सूं कीला करी,
ते चीतारे नहीं मन मांय रे ।।छ०।।

४—हाथ-पाँव से सुकुमार कोमलांगी तथा सुख-स्पर्श-वाली स्त्री से पूर्व में की गई क्रीड़ा का मन में चिंतन नहीं करना चाहिए।

५—सब्द रूप गन्ध रस नें फरस,
पांच परकार नां कांम भोग रे।
ते तो अस्त्री सघातें भोगव्या,
त्यांनें याद करणा नहीं जोग रे ।।छ०।।

५—स्त्री के साथ भोगे गये शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकार के काम-भोगों का स्मरण करना उचित नहीं।

६—रम्या सारी पासा सोगटादिक,
जूवटादिक रांमत अनेक रे।
ते अस्त्री संघाते रांमत करी,
त्यांनें याद न करणी एक रे [*]।

६—स्त्री के साथ खेले गये सार-पासा, सोंगटा, जुआ आदि अनेक खेलों का भी स्मरण नहीं करना चाहिए।

७—सब्द सुणीयां भांगे बाड़ पांचमीं,
रूप सूं चोथी बाड़ बिगाड़ रे।
फरस सूं भांगे बाड़ तीसरी,
अस्त्री कथा सूं दूजी बाड़ रे ।।छ०।।

७—कामोद्दीपक शब्द सुनने से पाँचवीं बाड़, रूप देखने से चौथी बाड़, स्पर्श से तीसरी बाड़ तथा स्त्री-कथा से दूसरी बाड़ भङ्ग होती है।

८—एक याद करे पां मांहिलों,
तिण सूं भांगें छठी बाड़ रे।
तो सगलाई याद कीयां थकां,
ब्रह्म बरत नें हुवें बिगाड़ रे ।।छ०।।

८—पूर्व में भोगे हुए शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आदि में से एक का भी स्मरण करने से छठी बाड़ भङ्ग हो जाती है। इन सब को याद करने से ब्रह्मचर्य-व्रत को क्षति पहुँचती है।

९—मन गमता कांम भोग भोगव्या,
तिण सूं हरषत हुवें संभाल रे।
तिण बाड़ सहीत बरत खंडीया,
पांणी किम रहें फूटां पाल रे [*] ।।छ०।।

९—पूर्व में भोगे हुए मनोरम काम-भोगों को याद कर जो हर्षित होता है उसने बाड़ सहित ब्रह्मचर्य-व्रत का खण्डन किया है। बांध के टूट जाने पर पानी कैसे रुका रह सकता है? उसी प्रकार बाड़ के खण्डित होने पर ब्रह्मचर्य-व्रत कैसे सुरक्षित रह सकता है?

१०—पूर्वला कांम भोग चीतार नें,
कीधीं रेंणा देवी सूं प्रीत रे।
जब जिन रिष नें जब न्हांखीयां,
रेंणा दवी मार्यो वेंरीत रे ।।छ०।।

१०—जिनरिक्ष ने पूर्व में भोगे हुए काम-भोगों का स्मरण कर रयणादेवी से प्रीति की। इससे यक्ष ने उसको अपनी पीठ से फेंक दिया और रयणादेवी ने उसको बुरी तरह से मार डाला।

११—जहर सहीत चास पीये चालीयां,
त्यांरो थांकोई न हुवो वाल रे।
त्यांनें घणां वरसां पछें कह्यो,
विष सूं मरण पांम्यो ततकाल रे[१] ॥छ०॥

११—छद्मा के पुत्र ने विष युक्त छाछको पीकर प्रस्थान किया किन्तु उसका बाल भी बाँका न हुआ। पर, बहुत वर्षों के बाद जब छाछ में जहर होने की बात उसे बताई गई तब स्मरण मात्र से उसके शरीर में तुरंत विष व्याप्त हो गया और वह मर गया।

१२—भाई नें पवन सूंध्यो देखनें,
भाई नें न जणायों ताय रे।
जणायों जिण दिन धसको पडे,
ततकाल छोडी तिण काय रे[१] ॥छ०॥

१२—भाई को सर्प ने डॅस लिया, यह देखकर भी उसने अपने भाई को इसकी सूचना नहीं दी। जिस दिन उसको सर्पदंश की जानकारी दी गई, आघात के कारण उसकी तत्काल मृत्यु हो गई।

१३—ए मूंआ जहर याद आवीयां,
पांमी अणचिंतवी असमाध रे।
ज्यूं भोगे ब्रह्मचारी सील सूं,
कांम भोग नें कीधां याद रे ॥छ०॥

१३—जहर की याद दिलाने से अचानक असमाधि को प्राप्त कर उन लोगों की मृत्यु हो गई। इसी तरह काम-भोगों का स्मरण करने से ब्रह्मचारी शील से दूर हो जाता है।

१४—कांम भोग नें याद कीयां थकां,
संका कंखा उपजें मन मांय रे।
सील पालूं के पालूं नहीं,
थले जावक पिण मिट जाय रे ॥छ०॥

१४—काम-भोगों को याद करने से मन में शंका, कांक्षा, शील का पालन करूँ या नहीं—ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है और फिर वह अपने व्रत से समूल भ्रष्ट हो जाता है।

१५—इम सांभल नें नर नारीयां,
मत लोपो छठी बाड़ रे।
तो सील वरत सुध नीपजें,
तिण सूं हुवें खेवो पार रे ॥छ०॥

१५—हे स्त्री-पुरुषो! उपर्युक्त बातों को सोचकर छठी बाड़ का उल्लंघन मत करो। ऐसा करने से शुद्ध शीलव्रत निष्पन्न होगा जिससे तुम्हारा बेड़ा पार हो जायगा।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १२

स्वामीजी की इस छठी बाड़ की व्याख्या का आधार आगम के भिन्न स्थल हैं।

नो निग्गंथे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ

—उत्त० १६ । ६

—निर्ग्रन्थ स्त्री के साथ भोगी हुई पूर्व रति और पूर्व क्रीड़ा का स्मरण न करे।

हासं किड्डं रइं दप्पं सहसावित्तासियाणि य।
बम्भचेररओ थीणं नाणुचिन्ते कयाइ वि॥

—उत्त० १६ । ६

—ब्रह्मचारी गृहस्थ जीवन में स्त्री के साथ भोगे हुए भोग, हास्य क्रीड़ा मैथुन, दर्प, सहसा वित्रासन आदि के प्रसंगों का कभी भी स्मरण न करे।

पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरमाणे संतिभेदा सन्तिविभंगा संति केवलीपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा।

—आचारांग २ : ४-३

पूर्वरत, पूर्व क्रीड़ित भोगों का स्मरण करने से शान्ति का भंग होता है, उसका विनाश होता है और निर्ग्रन्थ केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

[२] ढाल गा० १-६ :

इन गाथाओं का आधार निम्न आगम स्थल लगता है :

पुव्वरय पुव्वकीलिय पुव्व संगथ संथुया जे ते आवाह विवाह चोल्लगेसु य तिहिसु जण्णेसु उस्सवेसु य सिंगारागार चारुवेसाहिं हाव-भाव पललिय विक्खेव विलास सालिणीहिं अणुकूल पेम्मिकाहिं सद्धिं अणुभूया सयण संपओगा उउसुह वर कुसुम सुरभि चन्दन सुगन्धिवर वास धूव सुह फरिस वत्थ भूसण गुणोववेया रमणिज्जा उज्जगेय पउर नडनट्टग जल्ल मल्ल मुट्ठिय वेलंबग कहग पवग लासग आइक्खग लंखमंख तूणइल्ल तुंबवीणिय तालायरपकरणाणि य बहूणि महुरसरगीय सुस्सराइं अण्णाणि य एवमाइयाणि तवसंजमबंभचेरघाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं न ताइं समणेण लब्भा दट्ठुं न कहेउं न वि सुमरिउं।

—प्रश्न० २ : ४ चौथी भावना

पहले (गृहस्थ अवस्था में) भोगे हुए काम-भोगों का, पहले की हुई क्रीड़ाओं का, पहले के श्वसुर आदि सम्बन्धियों का, अन्यान्य सम्बन्धियों का तथा परिचित जनों का स्मरण नहीं करना चाहिए। आवाह (वधू का आगमन) विवाह और बालक के चूड़ाकर्म के अवसर पर, विशिष्ट तिथियों में, यज्ञ (नाग पूजा आदि) तथा उत्सव (इन्द्रोत्सव आदि) के प्रसंग पर शृंगार से सजी हुई सुन्दर वेष वाली स्त्रियों के साथ हाव भाव, ललित विक्षेप, विलास से सुशोभित अनुकूल प्रेमिकाओं के साथ पहले जो शयन या सान्निध्य किया हो उसका स्मरण नहीं करना चाहिए।

ऋतु के अनुकूल सुन्दर पुष्प, सुरभित चन्दन, सुगन्धित द्रव्य सुगन्धित धूप, सुखद स्पर्शवाले वस्त्र, आभूषण आदि से सुशोभित स्त्रियों के साथ भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना चाहिए।

रमणीय वाद्य गीत, नट नर्तक (नाटक) जल्ल (रस्सी पर खेल करनेवाला नट) मल्ल मुष्टिक (मुष्टी से कुश्ती करनेवाला मल्ल) विदूषक कथाकार तैराक रास करनेवाले-भाण्ड शुभाशुभ बताने वाले आख्यायक लंख (बड़े बाँस पर खेल करने वाले) मंख (चित्र दिखाकर भीख मांगने-वाले) तुम्बा बजाने वाले, ताल देने वाले प्रेक्षक इन सब की क्रियाओं को भाँति-भाँति के मधुर स्वर से गाने वालों के गीतों को, तथा इनके अतिरिक्त तप-संयम-ब्रह्मचर्य का एक देश या सर्व देश से घात करनेवाले व्यापारों को, ब्रह्मचर्य की आराधना करनेवाला पुरुष त्यागता है। वह न कभी इनका कथन करे, न स्मरण करे।

[३] ढाल गा० ७-८-९ :

इन गाथाओं में छठी बाड़ का पूर्व बाड़ों के साथ क्या सम्बन्ध है यह बताया गया है। पाँचवीं बाड़ में कामोत्तेजक शब्द सुनने की मनाही है, चौथी बाड़ में रूप निरीक्षण की मनाही है, तीसरी बाड़ में स्पर्श की मनाही है, दूसरी बाड़ में स्त्री-कथा की मनाही है। इस छठी बाड़ में स्त्री के सुने हुए कामोद्दीपक शब्द को स्मरण करने, जो रूप देखा हो उसका स्मरण करने, जो स्पर्श आदि भोग भोगे हों उनका स्मरण करने, जो स्त्री-कथाएँ सुनी हों उनका स्मरण करने की मनाही है। इन में से एक का भी स्मरण करना छठी बाड़ का भङ्ग करना है। जो पूर्व में सेवन की गई सारी बातों का स्मरण करता है उसका ब्रह्मचर्य व्रत विनष्ट हो जाता है।

[४] ढाल गा० १० :

जिनरिख और रयणादेवी की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २५

[५] ढाल गा० ११ :

विष मिश्रित छाछ पीनेवाले की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २६

[६] ढाल गा० १२ :

सर्प दंशित व्यक्ति की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २७

[७] ढाल गा० १४ :

इस गाथा का आधार सूत्र के निम्न लिखित वाक्य हैं

निर्गंथस्स खलु पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा।

—उत्त० १६ : ६

—पूर्वरत पूर्व क्रीड़ित काम भोगों के स्मरण से ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में शंका, अब्रह्मचर्य की आकांक्षा तथा ब्रह्मचर्य का पालन करूँ या नहीं ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है। ब्रह्मचर्य का भंग होता है। उन्माद उत्पन्न होता है तथा दीर्घकालीन रोगातंक होते हैं और वह केवली प्रणीत धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

[८] ढाल गा० १५ :

इस गाथा का भाव आगम के निम्न वाक्यों से मिलता है :

एवं पुव्वरय पुव्व कीलिय विरइसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण विरय गाम धम्मे जिइन्दिए बम्भचेरगुत्ते।

प्रश्न० २ : ४ चौथी भावना।

—इस प्रकार पूर्व-रत, पूर्व-क्रीड़ित विरति समिति के योग से भावित अन्तर आत्मावाला ब्रह्मचर्य में रत, इन्द्रिय लोलुपता से रहित जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य-गुप्तिवाला होता है।

सातमीं वाड़

नित नित अति सरस आहार नें वरज्यों सातमीं वाड़

ढाल ८

दुहा

१—नित नित अति सरस आहार नें,
वरज्यों सातमीं वाड़ ।
ते ब्रह्मचारी नित भोगवें,
तो वरत नें हुवें बिगाड़ ॥

१—सातवीं बाड़ में ब्रह्मचारी को नित्य प्रति अति सरस आहार करने का वर्जन किया है। प्रतिदिन सरस आहार के उपभोग से ब्रह्मचर्य व्रत को क्षति पहुँचती है।

२—घृतादिक सूं पूरण भर्यों,
एहवों भारी आहार ।
ते धातु दीपावें अति घणीं,
तिण सूं वधें छें विकार ॥

२—घृतादि से परिपूर्ण गरिष्ठ आहार अत्यधिक धातु-उद्दीपन करता है, जिससे विकार की वृद्धि होती है।

३—खाटा खारा चरचरा,
वले मीठा मोसन जेह ।
वले विविध घणें रस नीपजें,
ते रसना सब रस लेह ॥

३—खट्टे, नमकीन, चरपरे और मीठे मोसन तथा जो विविध प्रकार के रस होते हैं, उनका जिह्वा आस्वाद लेती है।

४—जेहनीं रसना वस नहीं,
ते चाहें सरस आहार [१] ।
ते वरत भांगे भागल हुवें,
खोवें ब्रह्म वरत सार ॥

४—जिसकी रसना वश में नहीं वह सरस आहार की चाह करता रहता है। परिणाम स्वरूप व्रत का भंग करके वह भ्रष्ट होता है और सारभूत ब्रह्मचर्य व्रत को खो देता है।

ढाळ

[हूं तो वारू साधु नै वंदना]

१—कवलां करें आहार उपारतां,
घृत बिन्दु झरतों आहार भारी रे ।
एहवो आहार सरस चांप २ नें,
नित २ न करें ब्रह्मचारी रे [२] ।
ए वाड़ म लोपो सातमीं ॥

१—ग्रास उठाते समय जिससे घृत बिन्दु झर रहे हों ऐसा सरस आहार ब्रह्मचारी नित्य प्रति ठूँस-ठूँस कर न करे।

हे ब्रह्मचारी ! तू इस सातवीं बाड़ का लोप न कर।

२—वय तुरणी काया रोग रहीत छें,
ते करें सरस आहारो रे।
ते आहार रूडी रीत परगमें,
तिण सूं वधें अथत विकारो रे ॥ए०॥

२—वय में तरुण और निरोग शरीर वाला व्यक्ति जब सरस आहार करता है तो वह अच्छी तरह परिणमन करता है। इससे विकार की अत्यन्त वृद्धि होती है।

३—विकार वध्यां ब्रह्म वरत नें,
दोष अनेक विध लागें रे।
वले अंग कुचेष्टा उपजें,
जावक वरत पिण भांगे रे ॥ए०॥

३—विकार बढ़ने से ब्रह्मचर्य व्रत में अनेक प्रकार के दोष लगते हैं। अंगों में कुचेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं और फिर व्रत सर्वथा भंग हो जाता है।

४—सरस आहार नित चंपि कीधां,
वरत भांगे बिगड़ें वेहूं लोगो रे।
ससार में दुखीयां हुवें,
वधतो जाए रोग नें सोगो र ॥ए०॥

४—नित्य प्रति ठूँस-ठूँस कर सरस आहार करने से व्रत भंग होता है। दोनों लोक बिगड़ते हैं। वह संसार में दुःखी होता है और उसके रोग-शोक की वृद्धि होती जाती है।

५—वय तुरणी काया जीर्ण पड़ी,
ते करें सरस आहारो रे।
तो पेट फाटें पस्यों टलवलें,
वले आवें अजीरण डकारो रे ॥ए०॥

५—तरुण होते हुए भी जिसका शरीर जीर्ण होता है वह यदि ठूँस-ठूँस कर सरस आहार करता है तो उसका पेट फटने लगता है। वह पड़ा पड़ा करवट बदलता रहता है। उसे अजीर्ण की डकारें आने लगती हैं।

६—वले विविध पणे रोग उपजें,
नित सरस आहार कीधां भारी रे।
अकाले मरे धरम खोय नें,
पछें होय जाए अनंत ससारी रे ॥ए०॥

६—नित्य प्रति गरिष्ठ और सरस आहार करने से विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। धर्म खोकर वह अकाल में मृत्यु प्राप्त करता है और अनन्त संसारी बन जाता है।

७—वय तुरणी रो धणीं इण विध मरें,
नित कीधां सरस आहारो रे।
तो बूढा रो कहिवो किसूं,
इणरे पेट तुरत व्हालें भारो रे' ॥ए०॥

७—नित्य सरस आहार करने से यदि तरुण वय के स्वामी की इस तरह मृत्यु होती है तो फिर वृद्ध का तो कहना ही क्या? उसका पेट तो तत्काल ही भारी हो जाता है।

८—दूध दही विविध पकवांन नें,
सरस आहार भोगवे रहें सूतां रे।
पाप समण कह्यां उतराधेन में,
ते साधपणा थी विगूतो रे ॥ए०॥

८—जो नित्य प्रति दूध, दही घृत और विविध पक्वान्न का सरस आहार करता है और सोता रहता है, उसको 'उत्तराध्ययन सूत्र' में पापी श्रमण कहा है। वह साधुत्व से रहित होता है।

९—चक्रवत नीं रसवती भोगवे,
भूदेव ब्राह्मण छोडी लाजो रे।
कांम विटवणा तिण ल्हा,
बेंन बेटी सूं कीयों अकाजो रे ˚ ॥ए०॥

९—चक्रवर्ती के घर के सरस आहार के सेवन से भूदेव नामक ब्राह्मण ने लज्जा छोड़ दी और काम में व्याकुल होकर अपनी बहन-बेटी से दुष्कृत्य किया।

१०—सरस आहार तणों लपटी घणों,
मगू आचार्य तेहो रे।
मरनें गयां व्यंतरीक में,
सञम लारे उडाई खेहो रे ॥ए०॥

१०—सरस आहार में आसक्त मगू नामक आचार्य मरकर व्यन्तर योनि में पैदा हुआ। सरस आहार ग्रहण कर उसने इस प्रकार अपने सयम के पीछे धूल उड़ाई।

११—चले सेलग राय रिषीसरु,
सरस आहार तणो हुवों ग्रिधी रे।
ने ग्रिम्या बस पडीयें थकें,
किरीया अलगी घर दी र ˚ ॥ए०॥

११—राजर्षि शैलक सरस आहार में गृद्ध हुआ। जिह्वा के वशीभूत होकर उसने अपनी क्रिया को अलग धर दिया।

१२—पुंडरीक रस लोलपी थकों,
पाछो घर में आयो रे।
मारी आहार सूं रोग उपन मूंओ,
पडीयो सातमीं नरक में आयो रे ˚˚॥ए०॥

१२—पुण्डरीक रसलोलुप होकर पुनः घर में आ बसा। मारी सरस आहार करने से उसके शरीर में रोग उत्पन्न हुए और मरकर वह सातवीं नरक में गया।

१३—इत्यादिक बहु साध नें साधवी,
लोपी नें सातमीं बाड़ो रे।
ब्रह्मचर्य बरत खोय नें,
गया जमारो हारो रे ॥ए०॥

१३—इस प्रकार अनेक साधु-साध्वियों ने सातवीं बाड़ का उल्लंघन कर ब्रह्मचर्य व्रत को खो दिया और मानव जन्म को हारकर चल बसे।

१४—सनीपातीयो दूध मिश्री पोयें,
तो सनीपात वधतो देखो रे।
ज्यूं ब्रह्मचारी नें सरस आहार सूं,
विकार वधें छें वसेखो रे ˚˚॥ए०॥

१४—सन्निपात के रोगी को जिस प्रकार दूध मिश्री का आहार करने से रोग बढ़ जाता है, उसी प्रकार सरस आहार करने से ब्रह्मचारी के विकार की विशेष रूप से वृद्धि होती है।

१५—इम सांभल ब्रह्मचारीयां,
नित भारी म करजो आहारो रे।
सील बरत सुध पाल नें,
आवा गमण निवारो रे ॥ए०॥

१५—ऐसा सुनकर हे ब्रह्मचारियो! नित्य भारी सरस आहार मत करो। शीलव्रत का शुद्ध पालन कर आवागमन से मुक्त होओ।

१६—सरस आहार तो दूर रह्या, लूखोई पिण आहारो रे।
चांप चांप दिन प्रतें करणों नहीं, ते कहिसूं आठमीं बाड़ो रे ॥ए०॥

१६—सरस आहार तो दूर रहा बल्कि रूखा आहार भी ठूँस-ठूँस कर नित्य प्रति नहीं करना चाहिए। आठवीं बाड़ में मैं यही बताऊँगा।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ :

इस दोहे में स्वामीजी ने सातवीं बाड़ का स्वरूप बताया है। इस सातवीं बाड़ में ब्रह्मचारी के लिए सरस आहार वर्जनीय है। इसका आधार निम्न आगम वाक्य है :

नो निग्गंथे पणीयं आहारं आहरेत्ता।

—उ० १६ : ७

—निर्ग्रंथ प्रणीत आहार का सेवन न करे।

'प्रणीत' शब्द का अर्थ है जिससे घृत बिन्दु झर रहे हों ऐसा आहार। उपलक्षण रूप से धातु को अत्यन्त उत्तेजित करनेवाले अन्य आहार भी प्रणीत आहार में समाविष्ट हैं[1]।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि ब्रह्मचारी सर्व प्रकार के कामोत्तेजक आहार-पान का परिवर्जन करे। स्वामीजी ने स्पष्ट किया है कि ब्रह्मचारी नित्य प्रति ऐसा आहार न करे। यदा-कदा सरस आहार करने का प्रसंग उपस्थित हो तो अति मात्रा में उसका सेवन न करे।

[२] दोहा २ :

ब्रह्मचारी के लिए स्निग्ध सरस आहार क्यों वर्जनीय है इसका कारण इस दोहे में बताया गया है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है :

पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥

—उत्त० १६ : ७

—प्रणीत आहार कामोद्रेक—विषय-वासना को शीघ्र उत्तेजित करनेवाला होता है। अतः ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु ऐसे भोजन पान से सर्वदा दूर रहे।

स्वामीजी के प्रस्तुत दोहे का आधार 'उत्तराध्ययन सूत्र' का उपर्युक्त श्लोक ही है।

'दशवैकालिक सूत्र' में कहा है :

विभूसा इत्थिसंसग्गी, पणीयं रसभोयणं।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा॥

—दश० ८ : ५७

—प्रणीत रसयुक्त भोजन, विभूषा और स्त्री संसर्ग आत्म-गवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष की तरह है।

घृतादि से परिपूर्ण आहार स्निग्ध—भारी होता है। स्निग्ध आहार धातु को दीप्त करता है। धातु के दीप्त होने से मनोविकार बढ़ता है। मनोविकार बढ़ने से काम-कुचेष्टा होती है। इससे मनुष्य भोग में प्रवृत्त होता है। इस तरह वह बहुमूल्य ब्रह्मचर्य व्रत को नष्ट कर डालता है।

---

[1] १—उत्त० १६ : ७ की नेमि० टी० पृ० २२१ में 'प्रणीतं' गलद्बिन्दु, उपलक्षणत्वाद् अत्यन्तधातूद्रेककारिणम्, आहारम् अशनादिक [illegible]

[३] दोहा ३-४ :

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है—"जिह्वा रस की ग्राहक है और रस जिह्वा का ग्राह्य है। अमनोज्ञ रस द्वेष का हेतु और मनोज्ञ रस राग का हेतु होता है[1]।"

आम्ल, मधुर, कटुक, कषैला और तिक्त ये पाँच रस हैं। जिह्वा इन सब रसों की ग्राहक है। जिसकी जिह्वा संयमित नहीं होती वह स्वादिष्ट रसों की कामना करता है। जो स्वादिष्ट रसों का नित्य प्रति अथवा अतिमात्रा में सेवन करता है उसके कामोद्रेक हो ब्रह्मचर्य का नाश होता है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है

रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥

—उत्त० ३२ : १०

—दूध, दही, घी आदि स्निग्ध और खट्टे, मीठे चरपरे आदि रसों से स्वादिष्ट पदार्थों का ब्रह्मचारी बहुधा सेवन न करे। ऐसे पदार्थों के आहार पान से वीर्य की वृद्धि होती है—वे दीप्तिकर होते हैं। जिस तरह स्वादुफल वाले वृक्ष की ओर पक्षी दल के दल उड़ते चले आते हैं, उसी तरह वीर्य से दीप्त पुरुष को काम सताने लगता है।

[४] दोहा ४ का उत्तरार्द्ध :

स्वामीजी के इन भावों का आधार 'उत्तराध्ययन सूत्र' के निम्न वाक्य हैं :

निग्गन्थस्स खलु पणीयं आहारं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। — उत्त० १६ : ७

—प्रणीत आहार करनेवाले ब्रह्मचारी के मन में ब्रह्मचर्य के प्रति शंका होने लगती है। वह अब्रह्मचर्य की आकांक्षा करने लगता है। उसे विचिकित्सा उत्पन्न होती है। ब्रह्मचर्य से उसका मन भग्न हो जाता है। उसे उन्माद हो जाता है। दीर्घकालिक रोगातंक होते हैं और वह केवली प्ररूपित धर्म से गिर जाता है।

[५] ढाल गा० १ :

स्वामीजी ने यहाँ जो कहा है उसका आधार 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' के निम्न स्थल में मिलता है

पञ्चमगं आहारपणीयनिद्धभोयणविवज्जए संजए सुसाहू ववगयखीरदहिसप्पिनवनीयतेल्लगुलखंडमच्छंडिगमहुमज्जमंसखज्जगविगइपरिचत्तकयाहारे ण दप्पणं न य बहुसो न नितिकं न सायसूपाहिकं न खद्धं, तहा भोत्तव्वं जहा से जायामाया य भवइ न य भवइ विब्भमो न भंसणा य धम्मस्स। एवं पणीयाहारविरतिसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमणविरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

—प्रश्न० २ : ४ पाँचवीं भावना।

—संयमी सुसाधु प्रणीत और स्निग्ध आहार के सेवन का विवर्जन करे। ब्रह्मचारी दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड़, खाँड, शक्कर, मधु, मद्य, मांस, खाजा आदि विकृतियों से रहित भोजन करे। वह दर्पकारी आहार न करे।

संयमी को वैसा आहार करना चाहिए जिससे संयम-यात्रा का निर्वाह हो, मोह का उदय न हो और ब्रह्मचर्य धर्म से च्युत न गिरे।

इस प्रकार प्रणीत-आहार समिति के योग से भावित अंतरात्मा ब्रह्मचर्य में आसक्त मनवाला, इन्द्रिय विषयों से विरक्त जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य में गुप्त होता है।

1—उत्त० ३२ : ६२
रसस्स जिब्भं गहणं वयंति जिब्भाए रसं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

[६] ढाल गा० २७ :

स्वामीजी ने इन गाथाओं में सरस आहार का दुष्परिणाम बताया है। व्यक्ति चार तरह के हो सकते हैं। एक युवक और शरीर से स्वस्थ, एक युवक पर शरीर से जीर्ण, एक वृद्ध पर शरीर से स्वस्थ और एक वृद्ध तथा शरीर से अस्वस्थ।

स्वामीजी कहते हैं स्वस्थ युवक जब सरस आहार करता है तो उसे शीघ्र पचा डालता है। आहार का परिणमन अच्छी तरह होने से इन्द्रियों का बल बढ़ता है। शरीर में कामोद्रेक होता है। अंगों में कुचेष्टा उत्पन्न होती है। अंग-कुचेष्टा के कारण मनुष्य ब्रह्मचर्य से पतित हो जाता है। इससे रोग उत्पन्न होते हैं। परलोक में भी वह संताप को प्राप्त होता है।

तरुण वय में या वृद्धावस्था में जब शरीर स्वस्थ नहीं होता तब किया हुआ आहार हजम न होने से अजीर्णादि रोगों को उत्पन्न करता है। इससे अकाल में ही उसकी मृत्यु होती है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है :

> रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
> रागाउरे बडिसविभिन्नकाए, मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे॥
>
> —उत्त० ३२ : ६३

जिस तरह रागातुर मछली—आमिष की गृद्धि के वश काँटे से बिंधी जाकर अकाल में मरण को प्राप्त होती है उसी तरह जो रस में तीव्र गृद्धि रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

स्वामीजी कहते हैं—जब सरस आहार से तरुण की ऐसी हालत होती है, तब वृद्ध की इससे भी बुरी हालत हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या? सरस आहार से उसके शारीरिक कष्टों का कोई पार नहीं रहता।

स्वामीजी कहते हैं—जो प्रतिदिन सरस आहार करता है वह अकाल में मृत्यु प्राप्त करता है, धर्म को खोता है और इससे अनन्त संसारी होता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य का नाश कर वह अनन्त काल तक जन्म-मरण करता है।

[७] ढाल गा० ८ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार निम्न आगम वाक्य है :

> दुद्धदहीविगईओ आहारेइ अभिक्खणं।
> अरए य तवोकम्मे, पावसमणि त्ति वुच्चई॥
>
> —उत्त० १७ : १५

जो दूध दही आदि विगय का बार बार आहार करता है और तप कर्म से विरत रहता है वही पापी श्रमण कहा गया है।

[८] ढाल गा० ९ :

मूर्ख ब्राह्मण की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २८

[९] ढाल गा० १० :

मंगु आचार्य की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २९

[१०] ढाल गा० ११ :

सेलक राजर्षि की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा ३०

[११] ढाल गा० १२ :

कुण्डरीक की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा ३१

[१२] ढाल गा० १३ :

आचारांग' में लिखा है—

" पणीयरसभोयणभोई य से संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा।

—आचा० २ : २४ चौथी भावना

—जो भिक्षु प्रणीत रसयुक्त आहार का सेवन करता है उसकी शान्ति का भङ्ग-विभङ्ग होता है और वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

यह स्पष्ट ही है कि जो धर्म से भ्रष्ट होता है वह दुर्लभ मनुष्य-भव को भी खोता है क्योंकि मनुष्य-भव और धर्म इन दोनों का पाना बड़ा ही दुर्लभ है।

[१३] ढाल गा० १४ :

यहाँ पर स्वामीजी ने जो उदाहरण दिया है वह उनकी औत्पत्तिकी बुद्धि का परिचायक है। सन्निपात रोग में दूध और मिश्री का आहार करने से वायु का प्रकोप होजाने से सन्निपात और भी तीव्र हो जाता है, उसी तरह सरस आहार से विकार की विशेष वृद्धि होती है।

आठमीं बाड़

आठमी बाड़ में इम कह्यों, चांप चांप न करणो आहार

ढाल ६

दुहा

१—आठमीं बाड़ में इम कह्यों,
चांप २ न करणो आहार।
प्रमांण लोप इधको करें,
तो बरत नें हुवें बिगाड़ ' ॥

१—आठवीं बाड़ में भगवान् ने कहा है—साधु ठूँस-ठूँस कर आहार न करे। प्रमाण से अधिक आहार करने से व्रत को क्षति पहुँचती है।

२—अति आहार थी दुख हुवें,
गलें रूप बल गात।
परमाद निद्रा आलस हुवें,
चले अनेक रोग होय जात॥

२—अति-आहार से मनुष्य दुःखी होता है। रूप, बल और गात्र क्षीण हो जाते हैं। प्रमाद, निद्रा और आलस्य होते हैं तथा अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

३—अति आहार थी विषें बधें,
घणोंइज फाटें पट।
धांन अमाउ उरवां,
हांडी फाटें नेट ॥

३—अधिक आहार से विषय-वासना बढ़ती है। जिस प्रकार सेर की हांडी में सवा सेर अनाज डालने से हांडी फूट जाती है, उसी प्रकार अधिक आहार से बुरी तरह पेट फटने लगता है।

४—केई बाड़ लोपे बिकल थका,
करमी इधक आहार।
त्यांरें हुण २ ओगुण नीपजें,
ते सुणजो बिस्तार॥

४—जो विकल होकर, बाड़ की मर्यादा का उल्लंघन कर, अधिक आहार करते हैं—उनमें किन किन दुर्गुणों की उत्पत्ति होती है उसका वृतान्त विस्तारपूर्वक सुनो।

ढाल

[जिमत केवली एक रे कन्या भारी]

१—भर जोबन रे मांहि रे,
दह निरोगी हुवें।
मांहि तेजस रा जोरो घणां ए॥

१—पूर्ण यौवनावस्था में देह निरोग होती है और पाचन शक्ति बलवती होती है।

२—ते चांपे करे आहार रे,
ते पचें सताब सूं।
तो विषें वधें तिण रें घणीं ए॥

२—ठांस-ठूंस कर किया हुआ आहार शीघ्र पचता है जिससे अति विषय विकार की वृद्धि होती है।

३—जब गमता लागें भोग रे,
ध्यांन माठो रहें।
वले गमती लागें अस्त्री ए॥

३—विषय-विकार की वृद्धि से भोग अच्छे लगते हैं, ध्यान विकार-ग्रस्त होता है और स्त्री मन को अच्छी लगने लगती है।

४—हूं सील पालूं कें नांहि रे,
ए संका उपजें।
पछें भोग तणी वंछा हुवें ए॥

४—शील का पालन करूं या नहीं, ऐसी शंका उत्पन्न होती है। फिर भोग की कामना होने लगती है।

५—मोंनें लाभ होसी कें नांहि रे,
सील वरत पालीयां।
ए पिण सांसो उपजें ए॥

५-६ फिर, शीलव्रत के पालन से मुझे लाभ होगा या नहीं, ऐसा संशय उत्पन्न होता है।

६—जब भिष्ट हुवें वरत भांग रे,
भेष मांहे थकां।
केइ भेष छोडी हुवें ग्रहस्थी ए॥

इस तरह शंका, कांक्षा, विचिकित्सा उत्पन्न होने से कई वेष में रहते हुए व्रत को भंगकर भ्रष्ट हो जाते हैं और कई साधु का वेष छोड़कर गृहस्थ हो जाते हैं।

७—जे चांपि कीधां आहार रे,
पचें आछी तरें।
तो इसड़ो अनरथ नीपजें ए॥

७—ठूंस-ठूंस कर आहार करने पर यदि वह अच्छी तरह पचता है तो ऐसा अनर्थ उत्पन्न होता है।

८—के करिं रे हुवें रोग रे,
आहार इधको कीधां।
वधें असाता वेदनी ए॥

९—फाटें पेट अतंत रे,
बंध हुवें नाड़ीयां।
वले सास लेवें अबखो थको ए॥

८-९—जब अधिक आहार ठीक से नहीं पचता है तो शरीर को रोग आ घेरते हैं। शारीरिक वेदना बढ़ती है। पेट फटने लगता है। नाड़ियों की गति मन्द हो जाती है और श्वास-ग्रहण में कठिनाई होती है।

१०—वले हुवें अजीरण रोग रे,
मुख वासें बुरो।
पेटें झालें आफरो ए॥

१०—फिर अजीर्ण हो जाता है। मुख बुरी तरह बदबू देने लगता है। पेट अफर जाता है।

११—घले उठें उकाला पट रे,
घालें फलमली ।
घले छूटें मुख थूकणी ए ॥

११—पेट में जलन होती है। बेचैनी रहने लगती है तथा मुँह से थूक छूटने लगता है।

१२—डील फिरें चकडोल रे,
पित घूमे घणां ।
घालें मुखल घले मुलकणी ए ॥

१२—पित्त का प्रकोप होता है। सिर में चक्कर आने लगता है। मुँह से जल छूटने लगता है।

१३—आवें माठी घणीं डकार रे,
घले आवें गूचरका ।
जब आहार भाग उलटौं पड़ें ए ॥

१३—खराब डकार और गुचकियाँ आने लगती हैं। इससे आहार का भाग कै के द्वारा बाहर आ जाता है।

१४—घले घालें मरोडा पीड रे,
पेट दुखें घणों ।
लोही ठाँण फेरो हुवें ए ॥

१४—पेट में मरोड़े चलने लगते हैं। जोरों का दर्द होता है। खून की दस्तें होने लगती हैं।

१५—घले नाड्यां में हुवें रोग रे,
ते आहार झेलें नहीं ।
ज्यूं खाजें ज्यूं नीकलें ए ॥

१५—रोगग्रस्त होने से आँतें आहार को ग्रहण नहीं कर सकतीं। खाया हुआ आहार वैसा ही वापिस निकल जाता है।

१६—घले ताव चढें ततकाल रे,
मघ हुवें मातरो ।
आहार इधको कीयां थका ए ॥

१६—अधिक आहार करने से तत्काल ज्वर चढ़ जाता है। पेशाब बन्द हो जाता है।

१७—घणीं दही पडें कथाय रे,
आहार भावें नहीं ।
जप मांम लोही दिन २ घटें ए ॥

१७—देह में अत्यन्त पीड़ा हो जाती है। आहार में रुचि नहीं रहती। ऐसी अवस्था में माँस एवं रक्त दिन प्रतिदिन घटने लगते हैं।

१८—खीण पडें जब देह रे,
निपलाई पडें ।
हाथ पगां सोजो चढ़ ए ॥

१८ जब देह क्षीण हो जाती है, तब शरीर निबल हो जाता है। हाथ पैर में सूजन हो जाती है।

१९—जब ठमे अतीचार रे,
ओषध करें घणां ।
दिन २ फरो इधको हुवें ए ॥

१९—इससे अतिसार का प्रकोप हो जाता है। ज्यों-ज्यों औषध की जाती है त्यों-त्यों दस्तें बढ़ती जाती हैं।

२०—पछें आसक छूटें अन रे,
चूकें धर्म ध्यान थी।
वले बोलें घणों दयामणो ए॥

२०—ऐसी अवस्था में उससे अन्न सर्वथा छूट जाता है। वह धर्म-ध्यान नहीं कर पाता, आर्त नाद करने लगता है।

२१—वले हुवें सास नें खास रे,
जलोदर वधें।
सूंन चूंन देही पड़े ए॥

२१—तब, श्वास और खाँसी के रोग हो जाते हैं, जलोदर बढ़ जाता है। शरीर की सुध बुध नहीं रहती।

२२—वधें अपचो रोग रे,
आहार पचें नहीं।
ओषध को लागें नहीं ए॥

२२—तब, अपच का रोग बढ़ जाता है। आहार जरा भी नहीं पचता। कोई भी औषधि कारगर नहीं होती।

२३—वले उपजें दाह सरीर रे,
बलत लागी रहें।
पेट सूल चालें घणीं ए॥

२३—शरीर में दाह उत्पन्न होता है। निरन्तर जलन रहती है। पेट में अत्यन्त शूल उठने लगता है।

२४—वेदन हुवें आंख नें कांन रे,
खाज हुवें घणीं।
वले रोग पीतजर उपजें ए॥

२४—आँख और कान में वेदना होने लगती है। खुजली हो जाती है। पित्त-ज्वर का रोग उत्पन्न होता है।

२५—इत्यादिक बहु रोग रे,
उपजें आहार थी।
कहि २ नें कितरो कहूं ए * ॥

२५—अधिक आहार से ऐसे अनेक रोग हो जाते हैं। उनका वर्णन कहाँ तक किया जाय?

२६—ए हुवें आहार थी रोग रे,
अब नांम लें अवर नों।
कूड़ कपट वधें घणों ए॥

२६—ये समस्त रोग अधिक आहार के सेवन से होते हैं। नाम भले ही कोई दूसरे का ले। इससे कूड़-कपट की अत्यन्त वृद्धि होती है।

२७—जे धपि करें आहार रे,
ग्रिधी पट रो।
त्यांनें साच बोलणो दोहिलो ए॥

२७—जो पेटू बन ठूँस-ठूँस कर आहार ग्रहण करता है उसके लिए सच बोलना दुष्कर हो जाता है।

२८—कोइ साध कहें एम रे,
ओ आहार इधको करें।
तो घणों कुढें तिण उपरें ए॥

२८—कोई साधु यदि कहता है कि अमुक साधु अधिक आहार करता है तो उसकी बात सुनकर वह उस पर अत्यन्त चिढ़ने लगता है।

२९—जो मिलनें कहै अनेक रे,
तं आहार घणों करें।
तो ही कह्यों न मानें केहनों ए ॥

२९—अगर सब मिलकर भी उसे कहें कि तू अधिक आहार करता है तो भी वह किसी की कुछ नहीं मानता।

३०—कइ पूरण भरें नित पेट र,
इधको चांप नें।
जब पांणी पूरो मावें नहीं ए ॥

३०—कोई प्रति दिन चांप-चांप कर अधिक खाता है और पूरा पेट भर लेता है यहाँ तक कि पेट में पानी के लिए भी जगह नहीं रह जाती।

३१—जब तिरपा लागें अवत रे,
पट फाटें घणां।
तब टलवलाट करें घणां ए ॥

३१—जब जोरों की प्यास लगने लगती है और पेट फटने लगता है, तब वह कराहने लगता है।

३२—बले खाजें आंबला ढील रे,
जक नहीं तेहनें।
अजक घणीं बले जेहनें ए ॥

३२—शरीर लोट-पोट होने लगता है। उसको जरा भी चैन नहीं पड़ती। उसे अत्यन्त बेचैनी रहती है।

३३—इसडी पडें विपत रे,
तो ही ग्रिधी पट रो।
निज अवगुण छोडें नहीं ए ॥

३३—इस प्रकार की विपत्ति पड़ने पर भी अधिक आहार का गृद्ध अपने अवगुण को नहीं छोड़ता।

३४—जब रोग पीडलें आंण रे,
मरें माठी तरे।
श्री जिण धर्म गमाय नें ए ॥

३४—जब रोग शरीर को घर दबाते हैं तब भी जिनेश्वर देव के धर्म को खोकर वह बुरी तरह से मरता है।

३५—पछें च्यारू गति र मांहि रे,
भमण करें घणां।
अनत काल दु:ख भोगवें ए ॥

३५—फिर वह चारों गतियों में परिभ्रमण करता है और अनन्त काल तक दुःख उठाता रहता है।

३६—कूंडरीक रे उपनां रोग रे,
आहार इधका कीधां।
ते मरनें गयां नरक सातमीं ए ॥

३६ अधिक आहार करने से कुण्डरिक को रोग उत्पन्न हुआ और मरकर वह सातवीं नरक में पहुँचा।

३७—हांडी फटें भर र,
इधको उरायां।
तो पेट म फाटें किण विधें ए ॥

३७—परिमाण से अधिक अन्न डालने से हांडी फूट जाती है। फिर भला अधिक खाने से पेट क्यों नहीं फटेगा?

३८—ब्रह्मचारी इम जांण रे,
इधको नहीं जीमीयें।
अणोदरीए गुण घणां ए॥

३८—ब्रह्मचारी को यह सब जानकर अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। ऊनोदरी में बहुत गुण हैं।

३९—ए उतम अणोदरी तप रे,
करतां दोहिलो।
वैराग विनां हुवें नहीं ए॥

३९—ऊनोदरी उत्तम तप है। इसका करना बहुत मुश्किल है। यह वैराग्य के बिना नहीं होता।

४०—ए कही आठमीं वाड़ रे,
ब्रह्मचारी मणी।
चोखें चित आराधजो ए॥

४०—ब्रह्मचारी के लिए यह आठवीं बाड़ है। मुनि उत्तम भाव से इसकी आराधना करे।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ :

इस दोहे में आठवीं बाड़ का स्वरूप बताया गया है कि मात्रा से अधिक आहार करना ब्रह्मचर्य-व्रत के लिए घातक होता है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र में कहा है—"नो निग्गंथे अइमायाए पाणभोयणं आहारेज्जा" (१६ : ८)—निर्ग्रंथ अति मात्रा में आहार न करे। यह सूत्र-वाक्य ही इस बाड़ का आधार है।

'प्रश्न व्याकरण' सूत्र में कहा गया है :

न बहुसो न निइगं, न सायसूपाहियं, न खद्धं तहा भोत्तव्वं जहा से जायामायाए भवइ।

—प्रश्न० २ : ४ : भा० ५

—ब्रह्मचारी एक दिन में बहुत आहार न करे, प्रतिदिन आहार न करे, अधिक शाक-दाल न खाय, अधिक मात्रा में भोजन न करे, जितना संयम यात्रा के लिए जरूरी हो उसी मात्रा में ब्रह्मचारी आहार करे।

न य भवइ विब्भमो न भंसणा य धम्मस्स। एवं पणीयाहार विरइसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण विरय गामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

—प्रश्न २ : ४ भा० ५

—विभ्रम न हो, धर्म से भ्रंश न हो—आहार उतनी ही मात्रा में लेना चाहिए। इस समिति के योग से जो भावित होता है, उसकी अंतर आत्मा तल्लीन, इन्द्रियों के विषय से निवृत्त, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय से युक्त होती है।

इसी तरह 'उत्तराध्ययन' सूत्र में कहा है :

धम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा बंभचेररओ सया।

—उत्त० १६ श्लो० ८

—ब्रह्मचारी गोचरी में धर्मानुसार प्राप्त आहार, जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए ही नियत समय और मित मात्रा में ग्रहण करे। वह कभी भी अति मात्रा में आहार का सेवन न करे।

नवमीं वाड़

नवमीं बाड़ ब्रह्मचर्य नीं, विभूषा न करणी अग

ढाल १०

दुहा

१—नवमीं बाड ब्रह्मचर्य नीं,
विभूषा न करणी अग।
विभूषा कीयां थकां,
थायें वरत नों भग ॥

१—ब्रह्मचर्य की नवीं बाड़ यह है कि ब्रह्मचारी को विभूषा—शरीर-श्रृङ्गार नहीं करना चाहिए। विभूषा-श्रृङ्गार करने से व्रत भंग हो जाता है।

२—सरीर विभूषा जे करें,
ते करें तन सिणगार।
भले रहै मठल्या मठारीया,
त्यां लोपी ब्रह्मव्रत बाड़ ॥

२—जो शरीर-विभूषा करते हैं वे तन-श्रृङ्गार करते हैं तथा ठाट-बाट से रहते हैं। वे ब्रह्मचर्य व्रत की बाड़ को खण्डित करते हैं।

३—सरीर विभूषा जे करें,
ते सजोगी होय।
ब्रह्मचारी तन सोभवे,
ते कारण नहीं कोय ॥

३—शरीर की विभूषा करनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही संयोगी हो जाता है। ऐसा कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता जिससे ब्रह्मचारी तन को सुशोभित करे।

४—बाड़ भांग्यां किण विध रहै,
अमोलक सील रतन।
तिण सूं ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य नां,
किण विध करें जतन ॥

४—बाड़ के भंग होने पर शील रूपी अमूल्य रत्न किस प्रकार सुरक्षित रह सकता है ? अत: इस ढाल में यह बताया गया है कि ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य की रक्षा किस प्रकार करे।

ढाल

[सीज करैं सीता सती रे लाल]

१—सोभा न करणी देह नीं रे लाल
नहीं करणो तन सिणगार ब्रह्मचारी रे।
पीठी उगटणों करणो नहीं रे लाल,
मरदन नहीं करणो सिगार। ब्र०॥
बाड़ ब्रह्म बरतनीं रे लाल ॥

१—हे ब्रह्मचारी ! तुम्हें देह विभूषा अथवा शरीर-श्रृङ्गार नहीं करना चाहिए। पीठी उबटन आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए और न तैल आदि का मर्दन ही। यह ब्रह्मचर्य-व्रत की नवीं बाड़ है।

[६] ढाल गा० ३६ :

कुम्भरिक की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा ४२

[७] ढाल गा० ३७-३६ :

इन उपसंहारात्मक गाथाओं में स्वामीजी कहते हैं कि अति आहार के आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोष ऊपर बताये जा चुके हैं। उन पर विचार कर ब्रह्मचारी कभी भी अति मात्रा में आहार न करे। मात्रा से कम खाय। इस प्रकार ऊनोदरी करने में बहुत लाभ है। ऊनोदरी एक कठिन तप है और वह वैराग्य का द्योतक है।

—विभूषा करनेवाला भिक्षु उस कारण से चिकने कर्मों का बन्ध करता है जिससे दुस्तर संसार-सागर में पतित होता है।

—ज्ञानी विभूषा-सम्बन्धी संकल्प विकल्प करनेवाले मन को ऐसा ही दुष्परिणाम करनेवाला मानते हैं। यह सावद्य बहुल कर्म है। यह निर्ग्रंथों द्वारा सेव्य नहीं।

[४] ढाल गा० ७ :

इस गाथा का आधार सूत्र का निम्न वाक्य है :

विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स
अभिलसणिज्जे हवइ —उत्त० १६ : ९

—विभूषा की भावनावाला ब्रह्मचारी निश्चय ही विभूषित शरीर के कारण स्त्रियों का काम्य—उनकी अभिलाषा का पदार्थ हो जाता है।

तओ णं इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। —उत्त० १६ : ९

—जो ब्रह्मचारी इस प्रकार स्त्रियों की अभिलाषा का शिकार बनता है उसके मन में ब्रह्मचर्य का पालन करूं या नहीं, ऐसी शंका उत्पन्न हो जाती है। वह स्त्री-सेवन की कामना करने लगता है। ब्रह्मचर्य के उत्तम फल में उसे विचिकित्सा—विकल्प—सन्देह उत्पन्न होता है। इस तरह ब्रह्मचर्य से उसका मन भेद हो जाता है। वह उन्माद का शिकार बनता है उसके दीर्घकालिक रोग हो जाते हैं। वह केवली प्ररूपित धर्म से पतित हो जाता है।

[५] ढाल गा० ८-९ :

गा० ७ में जो बात लिखी है उसी को स्वामीजी ने एक उदाहरण द्वारा समझाया है।

जैसे एक गरीब के हाथ में रत्न होने पर उसके प्रति आँख गड़ जाती है और राजा उस रत्न को उससे छीन लेता है उसी तरह से जो तन को शृंगारित करता है उस पर स्त्रियों की आँखें टिक जाती हैं और मोहित स्त्रियाँ उसके शीलरूपी रत्न को उससे छीन लेती हैं। पुरुष इस तरह स्त्रियों का काम्य न बने। उसका शीलव्रत भग्न न हो इसके लिए आवश्यक है कि वह कदापि किसी तरह का शृंगार न करे। जो ब्रह्मचारी शृंगार से बचता है वह ब्रह्मचर्य की अखण्ड आराधना करने में सफल होता है और फलस्वरूप भव-समुद्र को पार करने में समर्थ होता है।

कोट

सब्द रूप गन्ध रस फरस, भला मूंडा हलका भारी सरस।
यां सूं राग धेष करणो नाहीं, रहसी एहवा कोट मांही॥

ढाल ११

दुहा

१—ए नव वाड़ कही ब्रह्मचर्य री,
हिवें दसमों कहूं छूं कोट।
ए वाड़ लोपी घींरे रह्यो,
तिण में मूल न चाले खोट॥

१—ब्रह्मचर्य की नव बाड़ कही जा चुकी है। अब दसवें कोट के बारे में कहता हूं। यह कोट बाड़ों को बाहर से घेरे हुए है। इसमें जरा भी दोष नहीं चल सकता।

२—कोट भांगा जोखो छें वाड़ नें,
वाड़ भांगा वरत नें जांण।
तिण सूं कोट मिलण देवें नहीं,
ते डाहा चतुर सुजांण॥

२—कोट के भंग होने से बाड़ों को जोखिम है और बाड़ों के खंडित होने से व्रत को। इसलिए बुद्धिमान और ज्ञानी पुरुष कोट को गिरने नहीं देते।

३—कोट भांग वधारा पडीयां थकां,
वाड़ भांगतां किसी एक वार।
तिण सूं वसेष कोट रो,
करणो जतन विचार॥

३—कोट भंग होकर यदि वह दरार युक्त हो जाय तो बाड़ों के भग्न होने में कितना समय लगेगा? यह विचार कर कोट का विशेष रूप से संरक्षण करना चाहिए।

४—सेर कोट सेंठों हुवें,
तो चिंता न पांमें लोक।
ज्यूं अडिग कोट ब्रह्मचर्य रो,
तिण सूं सील न पांमें दोख॥

४—जिस प्रकार शहर का कोट मजबूत होने पर लोग चिन्ताग्रस्त नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत का कोट अगर अडिग हो तो शील पर किसी प्रकार का आघात नहीं आ सकता।

५—ते कोट करणो किण विध कह्यो,
किण विध करणो जतन।
ते ब्रह्मचारी वियरा सुध,
सांभलज्यो एक मन॥

५—अब मैं बतलाता हूं कि शील-संरक्षण के लिए कोट का निर्माण किस तरह करना चाहिए और किस प्रकार उसका संरक्षण करना चाहिए। हे ब्रह्मचारी! इसके ब्योरेवार वर्णन को एकाग्र मन से सुनो।

ढाल

[काम मुंजटिक की देशी]

१—मन गमता सब्द रसाल,
अण गमता सब्द विकराल।
गमता सब्द सुण्यां नहीं रीझै,
अण गमता सुण्यां नहीं खीजै॥

१—शब्द दो तरह के होते हैं—एक मन को अच्छे लगनेवाले मधुर शब्द और दूसरे मन को बुरे लगनेवाले विकराल शब्द।

ब्रह्मचारी मनोज्ञ शब्दों को सुनकर प्रसन्न न हो और न अमनोज्ञ शब्दों को सुनकर द्वेष ही करे।

२—काला नीला राता पीला धोला,
पांच परकार नां रूप मोहला।
राग नांणें भला रूप देख,
माठा देख न आंणणो धेख।

२—काला, पीला, लाल, नीला और सफेद इन पांच वर्णों के अनेक रूप होते हैं। अच्छे रूप को देखकर ब्रह्मचारी राग न करे और न बुरे रूप को देखकर द्वेष।

३—गंध सुगंध दुर्गंध छै दोय,
गमता अण गमता सोय।
गमता में नहीं रति सोय,
अण गमता में अरति न कोय॥

३—गन्ध दो प्रकार की होती है—एक सुगन्ध और दूसरी दुर्गन्ध। सुगन्ध मन को अच्छी लगती है और दुर्गन्ध बुरी। ब्रह्मचारी मनोज्ञ गन्ध में रति न करे और न अमनोज्ञ गन्ध में अरति।

४—रस पांच परकार नां जांणी,
त्यांरा स्वाद अनेक पिछांणी।
गमता में राग न करणो,
अण गमता में धेष न धरणो॥

४—रस पांच प्रकार के जानो। उनके स्वाद अनेक प्रकार के हैं। ब्रह्मचारी को मनोज्ञ रस में राग नहीं करना चाहिए और न अमनोज्ञ रस में द्वेष।

५—फरस आठ परकार नां तांम,
त्यांरा जूआ २ छै नांम।
रागी गमता रा अण गमता रा धेषी,
यां दोयां में रहणों निरापेखी॥

५—स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं। उनके नाम अलग अलग हैं। मनुष्य मनोज्ञ स्पर्शों में राग करने लगता है और अमनोज्ञ में द्वेष। ब्रह्मचारी को इन दोनों में निरपेक्ष रहना चाहिए।

६—सब्द रूप गंध रस फरस,
भला भूंडा इनका भांगा सरस।
यां में राग धेष करणा नांहीं,
सील रहसी एहवा काज मांहीं॥

६—शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श—अच्छे बुरे अनेक किस्म इनके भांगे कहे गए हैं। ब्रह्मचारी को इनमें न तो राग करना चाहिए और न द्वेष। यही एक ठौर है जिसमें शील सुरक्षित रहता है।

कोट

सब्द रूप गन्ध रस फरस, भला भूंडा हलका भारी सरस।
यां सूं राग धेष करणो नाहीं, रहसी दसवा कोट मांही॥

ढाळ ११

दुहा

१—ए नव बाड़ कही ब्रह्मचर्य री,
हिवें दसमों कहूं छें कोट।
ए बाड़ लोपी घेरि रह्यो,
तिण में मूल न चाले खोट॥

१—ब्रह्मचर्य की नव बाड़ कही जा चुकी है। अब दसवें कोट के बारे में कहता हूँ। यह कोट बाड़ों को बाहर से घेरे हुए है। इसमें जरा भी लोप नहीं चल सकता।

२—कोट भांगा जोखो छें बाड़ नें,
बाड़ भांगा वरत नें खांण।
तिण सूं कोट भिलण देवें नहीं,
ते डाहा चतुर सुजांण॥

२—कोट के भंग होने से बाड़ों को जोखिम है और बाड़ों के खंडित होने से व्रत को। इसलिए बुद्धिमान और ज्ञानी पुरुष कोट को गिरने नहीं देते।

३—कोट भांग पधारा पडीयां थकां,
बाड़ भांगतां किती एक वार।
तिण सूं विशेष कोट रो,
करजो जतन विचार॥

३—कोट भंग होकर यदि वह दरार युक्त हो जाय तो बाड़ों के भग्न होने में कितना समय लगेगा? यह विचार कर कोट का विशेष रूप से संरक्षण करना चाहिए।

४—सेर कोट सेंठो हुवें,
तो चिंता न पामें लोक।
ज्यूं अडिग कोट ब्रह्मचर्य रो,
तिण सूं सील न पामें दोख॥

४—जिस प्रकार शहर का कोट मजबूत होने पर लोग चिन्ताग्रस्त नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत का कोट अगर अडिग हो तो शील पर किसी प्रकार का आघात नहीं आ सकता।

५—ते कोट करणो किण विध कह्यों,
किण विध करणो जतन।
ते ब्रह्मचारी विवरा सुध,
सांभलज्यो एक मन॥

५—अब मैं बतलाता हूँ कि शील-संरक्षण के लिए कोट का निर्माण किस तरह करना चाहिए और किस प्रकार उसका संरक्षण करना चाहिए। हे ब्रह्मचारी! इसके ब्योरेवार वर्णन को एकाग्र मन से सुनो।

—नाक में आई हुई गंध को न सूंघना सम्भव नहीं। भिक्षु प्रिय गन्ध के प्रति राग और अप्रिय गंध के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

नो सक्का रसमस्साउं जीहाविसयमागयं
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए।

—आचारांग

—जिह्वा के सम्पर्क में आए हुए रसों का स्वाद न लेना सम्भव नहीं। भिक्षु प्रिय रस के प्रति राग और अप्रिय रस के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

नो सक्का फासमवेदेउं फासविसयमागयं
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए।

—आचारांग

—शरीर के स्पर्श में आए हुए स्पर्शों का अनुभव न करना सम्भव नहीं। भिक्षु प्रिय स्पर्शों के प्रति राग और अप्रिय स्पर्शों के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

स्वामीजी कहते हैं : शब्द, रूप आदि विषयों के प्रति उपर्युक्त निषेध मात्र ही ब्रह्मचर्य की सुरक्षा का दसवां स्थानक अथवा सुदृढ़ परकोटा है।

[२] ढाल गाथा ६-७ :

गाथा १ से ५ में जो भाव आये हैं उन भावों का सार संक्षेप में इस गाथा में प्रस्तुत हुआ है। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श दो तरह के होते हैं। अच्छे-बुरे शब्द-रूपादि के प्रति राग-द्वेष न करना समभाव या वीतरागता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है :

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ : २२

—रूप चक्षु ग्राह्य है। रूप चक्षु का विषय है। प्रिय रूप राग का हेतु है और अप्रिय रूप द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

सोयस्स सद्दं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ : ३५

—शब्द श्रोत-ग्राह्य है। शब्द कान का विषय है। प्रिय शब्द राग का हेतु है और अप्रिय शब्द द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

घाणस्स गंधं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ : ४८

—गंध घ्राण ग्राह्य है। गंध नाक का विषय है। प्रिय गंध राग का हेतु है और अप्रिय गंध द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

जिब्भाए रसं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ : ६१

—रस जिह्वा-ग्राह्य है। रस जिह्वा का विषय है। प्रिय रस राग का हेतु है और अप्रिय रस द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

कायस्स फासं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ : ७४

—स्पर्श काय-ग्राह्य है। स्पर्श शरीर का विषय है। प्रिय स्पर्श राग का हेतु है और अप्रिय स्पर्श द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

मणस्स भावं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥ —उत्त० ३२ : ८८

—भाव मन-ग्राह्य है। भाव मन का विषय है। प्रिय भाव राग का हेतु है और अप्रिय भाव द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

स्वामीजी कहते हैं कि शील रूपी रत्न ऐसे समभाव या वीतरागता रूपी कोट में ही सुरक्षित रह सकता है। यह बताया जा चुका है कि शील व्रत किस तरह सब व्रतों में महान् है। शील एक महामूल्यवान रत्न है जिसकी रक्षा के लिए विशेष उपाय करने की आवश्यकता है। इसीलिए भगवान् ने विषयों के प्रति समभाव रूपी इस कोट को ब्रह्मचर्य की समाधि का दसवां स्थानक बतलाया है।

[४] ढाल गाथा ८-११ :

आठवीं गाथा में यह बताया गया है कि यह कोट किस प्रकार भंग होता है और इसके भंग होने से ब्रह्मचारी को क्या हानि होती है। स्वामीजी कहते हैं : जो शब्दादि विषयों में रागादि रखता है, वह इस कोट को खंडित करता है। कोट के भंग होने से बाड़ें भी चकनाचूर हो जाती हैं और उनके विनाश से ब्रह्मचर्य रूपी धान्य विनष्ट होता है। शील रूपी रत्न की रक्षा करनी हो तो कोट को सुरक्षित रखने का हर प्रयत्न करना चाहिये। कोट के अखंडित रहने से सब विघ्न दूर हो जाते हैं, शील अखंड रहता है और इससे अविचल मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आगम में कहा है :—

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेंति किंचि॥ —उत्त० ३२ : १००

—इन्द्रियों के और मन के विषय रागी मनुष्य को ही दुःख के हेतु होते हैं। ये विषय वीतराग को कदापि किंचित् मात्र—थोड़ा भी दुःख नहीं पहुँचा सकते।

सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरम्परेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

—उत्त० ३२ : ४७

—शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भाव के विषयों से विरक्त पुरुष शोक रहित होता है। वह इस संसार में बसता हुआ भी दुःख समूह की परम्परा से उसी तरह लिप्त नहीं होता जिस तरह पुष्करिणी का पलाश जल से।

स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चन्तरायं पकरेइ कम्मं॥ —उत्त० ३२ : १०८

—जो वीतराग है वह सब तरह से कृतकृत्य है। वह क्षणमात्र में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर देता है और इसी तरह से जो दर्शन को ढंकता है, उस दर्शनावरणीय और विघ्न करता है, उस अन्तराय-कर्म का भी क्षय कर डालता है।

सव्वं तओ जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे॥

—उत्त० ३२ : १०९

—तदनन्तर वह आत्मा सब कुछ जानती देखती है तथा मोह और अन्तराय से सर्वथा रहित हो जाती है। फिर आस्रवों से रहित, ध्यान और समाधि से युक्त वह विशुद्ध आत्मा, आयु समाप्त होने पर मोक्ष को प्राप्त होती है।

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, जं बाहई सययं जंतुमेयं।
दीहामयविप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो॥

—उत्त० ३२ : ११०

—फिर वह सर्व दुःख से, जो जीव को सतत पीड़ा देते हैं, मुक्त हो जाती है। दीर्घ रोग से विप्रमुक्त हो वह कृतार्थ आत्मा अत्यन्त प्रशस्त सुखी होती है।

[५] ढाल गा० १२ :

स्वामीजी की रचना मुख्यतः उत्तराध्ययन के आधार पर है। उत्तराध्ययन का १६ वाँ अध्ययन परिशिष्ट में दे दिया गया है। देखें परिशिष्ट-क।

परिशिष्ट—क

कथा और दृष्टान्त

नेमिनाथ और राजीमती[1]

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा १२ (पृ० ३) के साथ है।]

मिथिला नगरी में उग्रसेन नामक एक उग्रवंशीय राजा राज्य करते थे। इनके धारिणी नाम की राणी थी। इनके एक पुत्र था, जिसका नाम कंस था और एक पुत्री थी, जिसका नाम राजीमती था। राजीमती अत्यन्त सुशील, सुन्दर और सर्व लक्षणों से सम्पन्न राजकन्या थी। उसकी कान्ति विद्युत की तरह देदीप्यमान थी।

उस समय शौर्यपुर नामक नगर में वसुदेव, समुद्र विजय वगैरह दश दशार्ह (यादव) भाई रहते थे। सबसे छोटे वसुदेव के रोहिणी और देवकी नामक दो राणियाँ थीं। प्रत्येक राणी के एक-एक राजकुमार था। कुमारों के नाम क्रमशः राम (बलभद्र) और केशव (कृष्ण थे।

राजा समुद्रविजय की पत्नि का नाम शिवा था। शिवा की कुक्ष से एक महा भाग्यवान और यशस्वी पुत्र का जन्म हुआ। इसका नाम अरिष्टनेमि रक्खा गया।

अरिष्टनेमि जब काल पाकर युवा हुए तो इनके लिए केशव (कृष्ण) ने राजीमती की माँग का प्रस्ताव राजा उग्रसेन के पास भेजा।

अरिष्टनेमि शौर्य-वीर्य आदि सब गुणों से सम्पन्न थे। उनका स्वर बहुत सुन्दर था। उनका शरीर सर्व शुभ लक्षण और चिह्नों से युक्त था। शरीर-सौष्ठव और आकृति उत्तम कोटि के थे। उनका वर्ण श्याम था। पेट मछली के आकार-सा सुन्दर था।

ऐसे सर्व गुण सम्पन्न राजकुमार के लिए राजीमती की माँग को सुनकर राजा उग्रसेन के हर्ष का पारावार न रहा। उन्होंने कृष्ण को कहला भेजा—"यदि अरिष्टनेमि विवाह के लिए मेरे घर पर पधारें, तो राजीमती का पाणिग्रहण उनके साथ कर सकता हूँ।"

कृष्ण ने यह बात मंजूर की और विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

नियत दिन आने पर कुमार अरिष्टनेमि को उत्तम औषधियों से स्नान कराया गया। अनेक कौतुक और मांगलिक कार्य किए गए। उत्तम वस्त्राभूषणों से उन्हें सुसज्जित किया गया। वासुदेव के सब से बड़े गन्धहस्ती पर उनको बिठाया गया। उनके सिर पर उत्तम छत्र शोभित था। दोनों ओर चवर डोलाए जा रहे थे। यादव वंशी क्षत्रियों से वे घिरे हुए थे। हाथी, घोड़े रथ और पायदलों की चतुरंगिणी सेना उनके साथ थी। भिन्न भिन्न वादित्रों के दिव्य और गगनस्पर्शी शब्दों से आकाश गुंजायमान हो रहा था।

इस प्रकार सर्व प्रकार की रिद्धि और सिद्धि के साथ यादव-कुलभूषण अरिष्टनेमि अपने भवन से अग्रसर हुए।

अभी बरात राजा उग्रसेन के यहाँ नहीं पहुँची थी कि रास्ते में कुमार अरिष्टनेमि ने पींजरों और बाड़ों में भरे हुए और भय से काँपते हुए दुःखित प्राणियों को देखा। यह देखकर उन्होंने अपने सारथी से पूछा : "सुख के कामी इन प्राणियों को इन बाड़ों और पींजरों में क्यों रोक रक्खा है ?"

इस पर सारथी ने जवाब दिया : "ये पशु बड़े भाग्यशाली हैं, आप के विवाहोत्सव में आए हुए बराती लोगों की दावत के लिए ये हैं।"

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २२ के आधार पर

सारथी के मुख से इस हिंसापूर्ण प्रयोजन की बात सुन कर जीवों के प्रति दयावृत्ति—अनुकम्पा रखने वाले महामना अरिष्टनेमि सोचने लगे

"यदि मेरे ही कारण से ये सब पशु मारे जाय तो यह मेरे लिए इस लोक या परलोक में कल्याणकारी नहीं हो सकता।"

यह विचार कर यशस्वी अरिष्टनेमि ने अपने कान के कुण्डल, कण्ठ-सूत्र और सब आभूषण उतार डाले और सारथी को समझा दिए और वहीं से वापिस द्वारिका को लौट आए। द्वारिका से वे रैवतक पर्वत पर गए और वहीं एक उद्यान में अपने ही हाथ से अपने केशों को लोचकर—उपाड़ कर उन्होंने साधु प्रव्रज्या अंगीकार की।

उस समय वासुदेव ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया "हे दमेश्वर। आप अपने इच्छित मनोरथ को शीघ्र पावें, तथा ज्ञान दर्शन, चारित्र, क्षमा और निर्लोभता द्वारा अपनी उन्नति करें।"

इसके बाद राम, केशव तथा इतर यादव और नगरजन अरिष्टनेमि को वंदन कर द्वारिका आए।

इधर जब राजकन्या राजिमती को यह मालूम हुआ कि अरिष्टनेमि ने एकाएक दीक्षा ले ली है तो उसकी सारी हँसी और खुशी जाती रही और वह शोक विह्वल हो उठी। माता-पिता ने उसे बहुत समझाया और किसी अन्य योग्य वर से विवाह करने का आश्वासन दिया परन्तु राजिमती इससे सहमत न हुई। उसने विचार किया—"उन्होंने (अरिष्ट नेमि ने) मुझे त्याग दिया—युवा होने पर भी मेरे प्रति जरा भी मोह नहीं किया। धन्य है उनको। मेरे जीवन को धिक्कार है कि मैं अब भी उनके प्रति मोह रखती हूँ। अब मुझे इस संसार में रहकर क्या करना है? मेरे लिए भी यही श्रेयस्कर है कि मैं दीक्षा ले लूं।"

ऐसा दृढ़ विचार कर राजीमती ने कोंगमी—कंघी से सँवारे हुए अपने भंवर के से काले केशों को उपाड़ डाला। तथा सर्व इन्द्रियों को जीत कर मुण्ड-मुण्ड हो दीक्षा के लिए तैयार हुई। राजीमती को कृष्ण ने आशीर्वाद दिया "हे कन्या। इस भयंकर संसार-सागर से तू शीघ्र तर"। राजीमती ने प्रव्रज्या की।

★

कथा २ [1]

कंजूणी का दृष्टान्त

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ६ की टि० ५ (पृ ७) के साथ है।]

कोई निर्धन धनोपार्जन के लिए परदेश गया। वहाँ उसने एक हजार स्वर्ण मुद्रायें कमायीं और उन्हें लेकर वह घर की ओर चला। दैवयोग से उसे रास्ते में पड़ी हुई एक कौड़ी दिखलाई पड़ी। वह उसे छोड़ कर आगे बढ़ चला। कुछ दूर जाने के बाद उसके मन में उस कौड़ी को ले लेने की इच्छा जाग पड़ी। वह उसे ले लेने के लिए वापस लौटा।

रास्ते में उसने सोचा—"मैं व्यर्थ ही इन एक सहस्र मुद्राओं का भार क्यों वहन करूँ? क्यों न इन्हें यहीं गाड़ दूं?" यही सोचकर उसने एक वृक्ष के नीचे सहस्र मुद्राओं को गाड़ दिया और कौड़ी लेने के लिए वापस चला। जब वह उस जगह पहुँचा, जहाँ कौड़ी पड़ी हुई थी तो वह भी वहाँ नहीं थी। उसे पहले ही कोई उठा ले गया था। निराश होकर वह मुद्राओं की ओर चला। उन्हें भी कोई चोर खोदकर ले गया था।

जैसे एक कौड़ी के लोभ में एक हजार मुद्राओं को गवाँकर वह मूर्ख पश्चाताप करता हुआ घर आया, उसी प्रकार मूर्ख तुच्छ मानुषी भोगों में फँस उत्तम सुखों को खो देता है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ ७ गा० ११ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर।

कथा—३ :

आम्र फल [1]

[इसका सम्बन्ध गाठ १ दोहा ४ की टि० ५ (पृ० ७) के साथ है।]

एक राजा था। आम्रफल के अत्यधिक सेवन से उसे विशूचिका रोग हुआ। राजा ने बड़े-बड़े चिकित्सक बुलाकर अपनी चिकित्सा करवाई। उसका रोग शांत हुआ। सब वैद्यों ने राजा से कहा—"राजन्। अब आप आम्र फल न खावें। अगर आपने पुनः आम्र फल का सेवन किया तो फिर यही असाध्य रोग होगा।" राजा ने चिकित्सकों की बात मान ली।

कई दिनों के बाद राजा मंत्री को साथ लेकर घूमने के लिए निकला। धूप के कारण रास्ते में उसे थकावट महसूस होने लगी। तब उसने मंत्री से कहा—"मैं थक गया हूँ। अतः कहीं विश्राम के लिए ठहरना चाहिये।" पास ही फल से लदा हुआ एक आम्र वृक्ष था। राजा ने उसकी छाया में बैठने के लिए मंत्री से कहा। मंत्री बोला—"राजन्! आप को आम्र वृक्ष की छाया में भी नहीं बैठना चाहिए। कारण, आप की बीमारी के लिए यह कुपथ्य है। मंत्री के बार-बार कहने पर भी राजा नहीं माना और वह आम्र वृक्ष की छाया में बैठ गया। शीतल हवा बह रही थी। राजा थका हुआ था। बोला "थोड़ा लेटकर विश्राम कर लूँ।" राजा लेटकर विश्राम करने लगा। उसकी आँखें एकटक होकर आम्र फलों को देखने लगीं। मंत्री का कलेजा फटने लगा। वह बोला "महाराज! आम्र फलों की ओर देखना वर्जित है।" राजा बोला—"खाना मना है या देखना भी? क्या देखने से भी कभी अनर्थ हुआ है?" इतने में हवा के वेग से आमों की एक डाल नीचे राजा की पलथी में आ पड़ी। राजा ने आम उठा लिया। बोला : "ये फल कितने प्रिय थे मुझ को एक दिन। आज इन्हें खा नहीं सकता तो सूँघकर तो तृप्त होऊँ।" राजा आमों को बारबार सूँघने लगा। मंत्री बोला "महाराज! आम सूँघना वर्जित है।" राजा हँसा : "सूँघने से खाया थोड़े ही जाता है?" थोड़ी देर बाद राजा बोला : "आमों की सुगन्ध बड़ी मीठी है। इनका स्वाद कैसा है—चखकर देखता हूँ।" मंत्री ने राजा को ऐसा न करने का अनुरोध किया। राजा ने कहा—"मंत्री! मैं खाऊँगा नहीं, किन्तु, थोड़ा जीभ पर रखकर इसका स्वाद लेना चाहता हूँ।" फल को काट कर उस का थोड़ा भाग उसने अपने मुँह में रख लिया। फल बड़ा मधुर एवं स्वादिष्ट था। राजा का मन नहीं माना और उसने समूचा फल खा लिया।

फल के खाने से उसे पुनः पुरानी असाध्य बिमारी हो गई। उसने बहुत चिकित्सा करवाई किन्तु उस का कुछ भी फल नहीं निकला। उसकी बीमारी बढ़ती गई और वह मर गया।

जिस तरह तुच्छ आम्र फल के लालच में आकर राजा ने सारा साम्राज्य एवं जीवन खो दिया, उसी प्रकार मनुष्य मानुषिक भोगों के लोभ में फँस महान् सुखों को खो देता है।

*

1—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ७। गा० ११ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर।

कथा—४ :

चूल्हे का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य-जन्म की दुर्लभता पर प्रथम दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

दक्षिण भारत के सम्पन्न समृद्धिशाली नगर कम्पिलपुर के राजा ब्रह्म अपनी प्रजावत्सलता के लिए सुविख्यात थे। उनके मंत्रियों में सर्वगुणसम्पन्न धनु को अपने विलक्षण बुद्धि के कारण सर्वप्रथम स्थान प्राप्त था। मधुर वचन, अनुपम कला एवं स्वर्गीय सौन्दर्य की अधिष्ठात्री रानी चूलणी राजा के विशिष्ट प्रेम की पात्री थी। काशी, गजपुर, कौशल एवं चम्पा के नरेश राजा के अभिन्न मित्रों में थे। राजा ब्रह्म और रानी चूलणी का दाम्पत्य-जीवन सुखमय था। ऐसे सुखमय अवसर पर उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। सौभाग्य या दुर्भाग्य से ब्रह्मदत्त पाँच वर्ष का ही होने पाया था कि उसके पिता काल-धर्म को प्राप्त हुए। राजा ब्रह्म की अन्त्येष्ठिक्रिया के अवसर पर उनके चारों अभिन्न स्नेही उपस्थित थे। सब के सामने यह विकट समस्या थी कि राज्य का संचालन किस प्रकार किया जावे।

पंचवर्षीय शिशु ब्रह्मदत्त का राज्याभिषेक किया गया और दिवंगत आत्मा के हितचिन्तकों के विचार से कौशल नरेश दीर्घ को अभिभावकस्वरूप राज्यकी सुरक्षा-व्यवस्था का दायित्व सौंपा गया। कालक्रम में राजा दीर्घ और रानी में अनुचित सम्बन्ध हो गया। इधर कुमार ब्रह्मदत्त में भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान का पूर्णतः विकास हो चुका था। वह रानी चूलणी और दीर्घ के सम्बन्ध से सुपरिचित हो चुका था और एक दिन उसने संकेत द्वारा परोक्ष रूप में दीर्घ को भी अपनी जानकारी की सूचना दे दी। कुमार के इस ज्ञान से दोनों अत्यन्त ही आतंकित हुए। सुख में बाधा समझ कर रानी ने कुमार की हत्या का षड्यंत्र किया। इस षड्यंत्र का पता वयोवृद्ध मंत्री धनु को मिल गया एवं कुमार के रक्षार्थ उसने अपने पुत्र वरधनु को साथ कर दिया। वरधनु की सहायता से कुमार का बाल भी बाँका नहीं होने पाया और षड्यंत्र की आग से मुक्त होकर वह अन्यत्र निकल पड़ा। इसी बीच कुमार ब्रह्मदत्त और मंत्रीपुत्र वरधनु का साथ छूट गया।

जंगलों एवं कन्दराओं की ठोकरें खाते-खाते कुमार ब्रह्मदत्त की अवस्था विपन्न हो चली थी। अन्न-जल के अभाव में उसका युवा शरीर क्षरित होने लगा। ऐसी कारुणिक अवस्था में वह एक ग्राम में पहुँचा, जहाँ के वृद्ध ब्राह्मण ने उसकी काफी आवभगत की। ब्राह्मण के स्वागत-सत्कार से प्रसन्न होकर ब्रह्मदत्त ने उसे अपनी राजधानी में आने का आमंत्रण दिया। कालान्तर में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सम्राट् बना।

राजगद्दी पर आसीन होने की खुशी में चक्रवर्ती सम्राट की राजधानी में द्वादशोत्सव मनाया जा रहा था, ऐसी शुभ वेला में वह ब्राह्मण वहाँ पहुँचा। चक्रवर्ती ने प्रसन्न होकर उसे मुँहमाँगा पारितोषिक देने का वचन दिया। किन्तु, उस भाग्यहीन ब्राह्मण ने अपनी पत्नी के परामर्श पर यह क्षुद्र याचना की कि राजा के साम्राज्य में जितने भी परिवार हैं, सबों के यहाँ क्रमानुसार उसे कुटुम्ब सहित भोजन और एक स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त हो। चक्रवर्ती ने उसे कई बार समझाया लेकिन वह अपनी माँग पर अटल रहा। अन्त में राजा ने कहा—"एवमस्तु।" दिन पर दिन जैसे बीतते गये ब्राह्मण को निम्नकोटि का भोजन मिलता गया। उस ब्राह्मण के पास पश्चात्ताप के सिवा अन्य कोई विकल्प नहीं रह गया।

जिस प्रकार क्रमानुसार सब परिवारों के पश्चात् चक्रवर्ती का क्रम आना कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य-जन्म पाकर उसका सदुपयोग नहीं करनेवाले को जन्म जन्मान्तर तक पश्चाताप ही करना पड़ता है, पुनः मनुष्य जन्म की प्राप्ति सुलभ नहीं होती। संयोगवश चक्रवर्ती के चूल्हे का प्रसाद प्राप्त हो सकता है, उनके यहाँ भोजन की बारी भी आ सकती है लेकिन सांसारिक सुख प्राप्ति की लालसा में लिप्त मनुष्य को पुनः वह मानव-शरीर प्राप्त करना दुर्लभ ही रह जाता है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर।

कथा—५ :

पाशा का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर दूसरा दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

सौराष्ट्र देश के चाणिक्य गाँव में चणिक-चणेश्वरी ब्राह्मण-दम्पत्ति रहती थी। उनके घर दन्तयुक्त पुत्रोत्पत्ति हुई जिसे अपशकुन मानकर उन्होंने नवजात शिशु के दाँतों को घिस दिया। ऋषियों से जब उन्होंने बच्चे का भाग्यफल जानने की जिज्ञासा की तो पता चला कि अगर उसके दाँत न घिसे जाते तो वह राजा होता किन्तु अब वह बिंबांतरित राजा होगा। इस बच्चे का नाम चाणक्य रखा गया और यौवनावस्था प्राप्त होने पर माता पिताने इसका विवाह उत्तम कुल में कर दिया।

एक दिन चाणक्य की पत्नी अपने भाई के विवाह में सम्मिलित होने के निमित्त पीहर गई। वहाँ महिलाओं ने निर्धनता के कारण उसका अनादर किया एवं उसकी मान-मर्यादा की धज्जियाँ उड़ा दी। वह शीघ्र ही अपने घर लौट आई। उसके म्लान मुखमंडल को देखकर उसके पति चाणक्य ने उदासी का कारण बताने पर जोर दिया। जब चाणक्य को यह विदित हुआ कि उसकी निर्धनता के कारण उसकी पत्नी का अपमान हुआ, तो उसने प्रचुर धनोपार्जन का संकल्प किया। इसी क्रम में वह राजा नन्द के दरबार में पहुँचा। नन्द की दासियों ने वहाँ उसका घोर अपमान किया। अपमान के प्रतिशोध की अग्नि निर्धन ब्राह्मण के शरीर में प्रज्वलित हो उठी और उसने नन्दवंश को समूल नष्ट करने की प्रतिज्ञा की।

पृथ्वी का पर्यटन करते हुए चाणक्य मयूरपोषकों के गाँव में पहुँचा। वहाँ एक मयूरपोषक की पत्नी को चन्द्र को पी लेने का दोहला हुआ। चाणक्य ने येन् केन प्रकारेण उसका दोहला तो पूर्ण करा दिया, लेकिन यह वचन ले लिया कि उसे जो पुत्र पैदा होगा उसे वह चाणक्य के हवाले कर देगी। इसी शिशु का नाम चन्द्रगुप्त रखा गया। होनहार बिरवान के होत चिकने पात। चन्द्रगुप्त बचपन से ही पराक्रमशील निकला। इधर चाणक्य ने भी तपस्या द्वारा स्वर्णसिद्धि प्राप्त की। लौट कर आने पर चाणक्य ने देखा कि चन्द्रगुप्त में चक्रवर्ती के समस्त लक्षण विद्यमान हैं। उसने चन्द्रगुप्त को साथ लेकर नन्द राजा पर चढ़ाई कर दी। लेकिन प्रथम बार उसे मुँहकी खानी पड़ी। चाणक्य अपने धुन और प्रतिज्ञा का पक्का था। उसने हिमवंत पर्वत के राजा पर्वतक से प्रीति की और उसकी सहायता चन्द्रगुप्त को दिलाकर नन्दराजा पर पुनः आक्रमण करवा दिया। इस बार राजा नन्द की सेना के पाँव उखड़ गए और राजमहल पर चन्द्रगुप्त का विजयकेतु फहराने लगा।

चाणक्य चन्द्रगुप्त का प्रधान मंत्री बना। प्रजावत्सल चन्द्रगुप्त ने प्रजा के अनुरोध पर समस्त करों को माफ कर दिया। अब समस्या यह उत्पन्न हुई कि राजकोष की पूर्ति किस प्रकार हो। चाणक्य ने अपने इष्टदेव की आराधना के द्वारा इस समस्या का समाधान ढूँढ़ निकाला। देव-कृपा से उसे दो पाशे प्राप्त हुए। उसने समस्त व्यापारियों को आमंत्रित किया और राजकोष से बहुमूल्य रत्न निकाल कर दावपर लगाने लगा। परिणाम यह निकला कि धनी व्यापारियों के धन राजकोष में आ गये।

चाणक्य के पाशे पर विजय प्राप्त करना यद्यपि कठिन है लेकिन संयोगवश संभव है कि कोई व्यक्ति विजय भी प्राप्त कर ले, और खोया हुआ धन जुआरी व्यापारियों को वापस भी मिल जाये किन्तु एक बार हाथ से निकला हुआ मनुष्य-जन्म पुनः प्राप्त करना दुर्लभ ही है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर।

कथा—६ :

धान्य का दृष्टान्त[1]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर तीसरा दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

भरतक्षेत्र में जितने प्रकार के धान्य होते हैं, उन सर्व प्रकार के सर्व धान्यों को सम्मिश्रित कर उसमें एक सेर सरसों के दाने मिलाकर एक बार किसी देव ने एक शतवर्षीया वृद्धा से, जिसका शरीर जर्जर, नेत्रों की ज्योति मंद एवं क्रियाशक्ति विनष्ट हो चुकी थी, कहा—"हे वृद्धा ! इस समस्त प्रकार के धान्यों को चुन चुनकर क्रमानुसार विभक्त कर दो और उनमें एक सेर सरसों के जो दाने डाले गये हैं, उन्हें एकत्रित कर लो।"

एक तो शतवर्षीया वृद्धा, फिर शरीर काम करने में सर्वथा असमर्थ, आँखों में रोशनी नहीं, हाथ-पाँव शिथिल और कंपित, और भरत क्षेत्र के सब प्रकार के सर्व धान्यों का ढेर, उसके धान्यों को अलग करना, और उसमें से सरसों के दानों को अलग करना। यह उस वृद्धा के लिये असम्भव है। फिर भी कदाचित उस वृद्धा को सफलता भी मिल सकती है लेकिन एक बार खो देने के बाद पुन मनुष्य जन्म की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है।

★

कथा—७ :

द्यूत का दृष्टान्त[2]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर चौथा दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

वसन्तपुर के राजा जितशत्रु की राजसभा में १०८ स्तम्भ थे तथा प्रत्येक स्तम्भ के १०८ कोण। राजकुमार पुरन्दर ने वृद्ध पिता को मारकर स्वतः गद्दी पर बैठने का सोचा। मन्त्री के द्वारा राजा को इस षड्यन्त्र का पता चल गया। उसने सोचा पिता-पुत्र दोनों जीवित रहें, ऐसी कोई योजना बनानी चाहिए। उसने राजकुमार को बुलाकर कहा—"हे पुत्र ! वृद्धावस्था के कारण शासन-सूत्र मैं तुम्हें सौंपता हूँ। लेकिन शासन की बागडोर थामने के पूर्व पारिवारिक परम्परानुसार तुम्हें मेरे साथ जुआ खेलना पड़ेगा। एक बार जीतने पर सभामंडप के एक स्तम्भ का एक कोण तुम्हारा होगा। इस प्रकार १०८ बार जीतने पर एक स्तंभ तुम्हारा और १०८ स्तंभ जीतने पर यह सम्पूर्ण राज्य तुम्हारा होगा। शर्त यह होगी कि अगर बीच में तू एक बार भी हार गया तो पूर्व के जीते हुए दाँव भी हारे हुए समझे जायेंगे।" राज पाने के लोभ में पड़कर इतनी कड़ी शर्त को भी कुमार ने स्वीकार कर लिया। परन्तु, कई दिनों तक खेलने के बाद भी कुमार एक कोण भी नहीं जीत सका।

प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार के द्यूत में राजकुमार जीत सकता था ? कदापि नहीं। कदाचित्, दैवयोग से यदि उसे जयश्री मिल भी जाये लेकिन एकबार खोने के बाद यह मनुष्य-जन्म पाना अत्यंत दुर्लभ है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रिय टीका के आधार पर।

२—उत्तराध्ययन सू० अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रिय टीका के आधार पर।

कथा—८ :

रत्न का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर पाँचवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

किसी नगर में एक महान् धनवान एवं समृद्धिशाली रत्न-पारखी वणिक था। बहुमूल्य रत्नों का संग्रह करना उसका प्रधान कार्य था। वह संग्रहीत रत्नों को कभी बेचता नहीं था। उसके पाँच गुणवान पुत्र थे। पुत्रों की इच्छा थी कि दुगने तीगुने मूल्य पर इन रत्नों को बेचकर अपार धनराशि प्राप्त की जाये। किन्तु, अपने पिता के आगे इनकी एक न चलती थी। एक बार संयोगवश वह वृद्ध नगर से कहीं बाहर चला गया। उसके पुत्र तो ऐसे अवसर की बाट जोह ही रहे थे। उन्होंने अपने पिता द्वारा अर्जित सभी रत्नों को दूर देश से आए व्यापारियों को ऊँचे मूल्य पर बेचकर काफी धन प्राप्त कर लिया। वृद्ध वणिक जब लौटा तो रत्न नहीं पाकर बड़ा ही क्रुद्ध हुआ। उसने अपने पुत्रों को यह आज्ञा दी कि जिस प्रकार भी हो, वे उन रत्नों को वापस ले आयें। पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए उसके पाँच पुत्र रत्नों की तलाश में निकले। तबतक वे सारे रत्न विभिन्न व्यापारियों द्वारा विभिन्न देशों के विभिन्न व्यक्तियों के हाथ बेचे जा चुके थे। रत्नों का पाना दुर्लभ हुआ। दैव-संयोग से वे खोये रत्न मिल भी जायें, लेकिन, खोया हुआ मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ ही है।

कथा—९ :

स्वप्न का दृष्टान्त [2]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर छठा दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

द्यूत-व्यसन के कारण पाटलिपुत्र से निष्कासित राजकुमार मंगलदेव घूमते घूमते उज्जयिनी नगरी में पहुँचा। कुशल वीणा-वादन एवं मधुर-संगीत से उसने उज्जयिनी के नागरिकों को मुग्ध कर लिया। उसी नगरी में रूप-लावण्य गर्विता देवदत्ता वेश्या रहती थी। पारस्परिक कला के आकर्षण से दोनों में आसक्ति हो गई। मंगलदेव देवदत्ता के यहाँ ही रहने लगा। लेकिन देवदत्ता की माँ ने मंगलदेव को निर्धन समझ उसे घर से निकाल दिया। फिर भटकता हुआ, कई दिनों का उपवास व्रतधारी मंगलदेव अटवी पारकर एक गाँव में पहुँचा। वहाँ भिक्षा में उसे उड़द के बाकले मिले। उन बाकलों को स्वयं न ग्रहण कर उसने तालाब के किनारे ध्यान लगानेवाले साधु को पारणा के निमित्त दे दिया। मंगलदेव के इस काम से पास की देवी बहुत ही प्रसन्न हुई और उन्होंने उसे वरदान माँगने को कहा। मंगलदेव ने कहा—"मुझे देवदत्ता गणिका सहित सहस्र हस्तियुक्त राज्य प्राप्त हो।" देवी से प्रत्युत्तर मिला "ऐसा ही होगा।"

रात्रिकाल में मंगलदेव उस तपस्वी की कुटिया में ही सो गया। कुटिया में तपस्वी का शिष्य भी शयन कर रहा था। मंगलदेव एवं ऋषि-शिष्य दोनों ने स्वप्न में चन्द्रमा को अपने मुँह में प्रवेश करते देखा। तपस्वी के समक्ष जाकर शिष्यने स्वप्नफल जानने की जिज्ञासा की। तपस्वी ने कहा—"आज तुम्हें भिक्षा में घी और शक्कर का रोट मिलेगा।" शिष्य का जब स्वप्नफल सत्य हुआ, वह बड़ा ही प्रसन्न हुआ। उधर मंगलदेव एक स्वप्न-विशेषज्ञ के पास गया जिसने उसे बताया कि एक सप्ताह में उसे एक बहुत बड़ा राज्य मिलेगा। सातवें दिन नगर का संतानविहीन राजा कालधर्म को प्राप्त

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रिय टीका के आधार पर।

२—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रिय टीका के आधार पर।

हुआ। वहाँ के नगरवासियों ने मंगलदेव को अपना राजा बनाया। देवदत्ता पटरानी के रूप में राजमहल में आई। इस प्रकार मंगलदेव का स्वप्न सत्य निकला।

तपस्वी के शिष्य को जब मंगलदेव के राजा होने का समाचार ज्ञात हुआ, उसने नियमित रूप से कुटिया में शयन कर पुन उस स्वप्न की प्राप्ति की अभिलाषा की, लेकिन उसे पुन वह स्वप्न नहीं दीखा। स्यात् ऋषि-शिष्य को स्वप्न दर्शन हो भी जाए, लेकिन खोये मनुष्य-जीवन को पुन पाना दुर्लभ है।

★

कथा—१० :

राधावेध का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर सातवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

इन्द्रपुर के राजा इन्द्रदेव के २२ पुत्र थे। इसके बावजूद राजा ने अपने प्रधान की पुत्री पर मोहित हो, उससे भी विवाह कर लिया। लेकिन दोनों का प्रेम-संबंध अस्थिर रहा। प्रधान की पुत्री पिता के पास रहने लगी। कुछ दिनों के बाद राजा जब बाहर जा रहा था, झरोखे पर खड़ी एक सुन्दरी पर उसकी दृष्टि पड़ी। जिज्ञासा करने पर उसे ज्ञात हुआ कि सुन्दरी अन्य कोई नहीं बल्कि उसीकी परित्यक्ता रानी थी। राजा काम-भावना को संवरण नहीं कर सका और उस रात्रि को अपने प्रधान के यहाँ ही ठहर गया। शुभमुहूर्त में दोनों के सहवास से पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई जिसका नाम सुरेन्द्रदत्त रखा गया। २२ राजपुत्रों के साथ ही सुरेन्द्रदत्त ने भी एक ही आचार्य के यहाँ शिक्षा प्राप्त की।

उस समय मथुरा नगरी के राजा जितशत्रु की कन्या निवृत्ति का स्वयंवर होनेवाला था। अपने २२ पुत्रों सहित स्वयंवर में उपस्थित होने का आमंत्रण राजा इन्द्रदेव को भी भेजा गया। निवृत्ति कुमारी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जो व्यक्ति राधावेध बध सकेगा, उसीको वह वरण करेगी। राजा इन्द्रदेव अपने २२ पुत्रों के साथ स्वयंवर भवन में पधारे। प्रधान भी अपने दुहिते के साथ वहाँ उपस्थित था। एक एक कर २२ राजपुत्रों को राधावेध साधने का अवसर दिया गया लेकिन सबके सब असमर्थ रहे। पुत्रों की अकर्मण्यता से इन्द्रदेव को घोर क्षोभ हुआ। राजा को खिन्न देखकर प्रधान ने उनसे कहा—"अभी आपका २३ वाँ पुत्र बाकी है, उसे मौका दीजिए।" ऐसा कहकर प्रधान ने सुरेन्द्रदत्त के जन्म का पूर्ण वृत्तान्त इन्द्रदेव को बताया। राजा के प्रसन्नता की सीमा नहीं रही। उसने २३ वें पुत्र को राधावेध साधने की आज्ञा दी। पिता, गुरु एवं अग्रजों का स्मरण कर उसने राधावेध साधने में सफलता प्राप्त की। जितशत्रु की पुत्री निवृत्ति कुमारी के साथ ही उसे मथुरा नगरी का राज्य भी प्राप्त हुआ।

राजा के २२ पुत्र राधावेध करने में असफल रहे। कदाचित् दैव प्रयोग से उन्हें सफलता मिल भी जाती लेकिन जो मनुष्य एकबार कर्मच्युत हो मनुष्य भव को हार जाता है उसे यह जीवन पुनः प्राप्त करना दुर्लभ ही है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रिय टीका के आधार पर।

कथा—११ :

कच्छप का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर आठवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

एक हजार योजन प्रमाणवाले एक तालाब में एक बहुत बड़ा कच्छप अपने परिवार सहित रहता था। तालाब के ऊपर सेवाल आच्छादित थे। एक रात्रि को एक फल तालाब में गिरा जिससे सेवाल में छिद्र हो गया। गगनमंडल में चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओं से प्रकाशमान थे। नक्षत्र सहित चन्द्र को देखकर कच्छप को महान् विस्मय हुआ। उसने अपने परिवार के सदस्यों को भी चन्द्रदर्शन कराना चाहा, इसलिए जल के अन्दर उन्हें बुलाने गया। जबतक वह कुटुम्बियों को लेकर ऊपर लौटा तबतक हवा के झोंके से पानी पर फिर सेवाल छा गए। कच्छप को पुनः चन्द्रदर्शन नहीं हुए और कुटुम्ब सहित निराश होना पड़ा। जिस प्रकार उस कच्छप के लिए पुन चन्द्रदर्शन दुर्लभ हुआ उसी प्रकार मानव देहधारी प्राणियों को दुबारा मनुष्य जन्म पाना भी दुर्लभ है।

कथा—१२ :

युग का दृष्टान्त [2]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर नवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

यदि विश्व के सबसे बड़े समुद्र के पूर्व भाग में कोई देवता धूसरा डालें और पश्चिमी छोर पर उसी समुद्र में सामेला डालें तो उस धूसरे के छिद्र में सामेले का प्रवेश मुश्किल है। कदाचित् संयोगवश उनका सम्बन्ध मिल भी जाये लेकिन खोया हुआ मनुष्य-जीवन मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

कथा—१३

परमाणु का दृष्टान्त [3]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर दसवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

एक बार एक देवता ने पत्थर की एक दीवार को अपने वज्र के प्रहार से चूरचूर कर दिया और फिर भस्म सम चूर्ण को एक पर्वत शिखर के ऊपर चढ़कर हवा में उड़ा दिया। यदि किसी व्यक्ति का इन परमाणुओं को फिर से एकत्र करने का कार्य दिया जाय तो यह करना असंभव है। इसी प्रकार एक बार मनुष्य जीवन पाकर खोदेने के बाद इसे फिर से पाना अत्यंत ही दुर्लभ है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रिय टीका के आधार पर।

२—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रिय टीका के आधार पर।

३—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमीचन्द्रिय टीका के आधार पर।

कथा—१४।

सिंह गुफावासी यति ¹

[इसका संबंध ढाल २ गाथा ७ (पृ० ११) के साथ है]

पाटलिपुत्र नगर में नन्द राजा का प्रधान मंत्री शकडाल था। उसकी भार्या का नाम लांछन देवी था। इससे उसको दो पुत्र हुए। बड़े का नाम स्थूलिभद्र था और छोटे का नाम श्रीयक। श्रीयक नंद राजा के यहाँ अंगरक्षक के रूप में काम करता था। वह राजा का अत्यन्त विश्वासपात्र था। स्थूलिभद्र बड़ा बुद्धिशाली था किन्तु वह कोशा नामकी एक गणिका के प्रेम में फँस गया। यहाँ तक कि अपने घर को छोड़कर वह उस गणिका के घर में ही रहने लगा। इस प्रकार प्राय बारह वर्ष निकल गये। स्थूलिभद्र ने गणिका के सहवास में प्रचुर धन खोया।

घटनावश राजा के कोप के कारण शकडाल-मंत्री मार डाला गया। राजा नंद ने मंत्री-पद ग्रहण के लिए स्थूलि-भद्र को बुला भेजा। जब उसने आकर देखा कि उसका पिता मंत्री शकडाल मारा गया तो वह बड़ा खिन्न हुआ। वह सोचने लगा—"मैं कितना अभागा हूँ कि वेश्या के मोह के कारण मुझे पिता की मृत्यु की घटना तक का पता नहीं चला! उनकी सेवा सुश्रूषा करना तो दूर रहा, अंतिम समय में मैं उनके दर्शन तक नहीं कर सका। धिक्कार है मेरे जीवन को।" इस प्रकार शोक करते-करते स्थूलिभद्र का हृदय संसार से उदासीन हो गया। मंत्री-पद स्वीकार न कर, वह संभूति विजय नामक आचार्य के पास गया और मुनित्व धारण कर लिया।

जब यह खबर कोशा गणिका के पास पहुँची, उसका हृदय दुःख से भग्न हो गया। अब उसके लिए धीरज के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं था।

एक बार वर्षा काल के समीप आनेपर शिष्य आचार्य संभूति के पास आकर चातुर्मास की आज्ञा मांगने लगे। उस समय एक मुनि ने सिंह की गुफा के द्वारपर उपवास करते हुए चौमासा बिताने का निश्चय किया। दूसरे मुनि ने दृष्टि-विष सर्प के बिल के पास चौमासा करने का निश्चय किया। तीसरे मुनि ने कुएँ की परण पर कायोत्सर्ग-ध्यान में चातुर्मास व्यतीत करने का निश्चय किया। जब मुनि स्थूलिभद्र के आज्ञा लेने का अवसर आया तो उन्होंने नाना कामो द्दीपक चित्रों से चित्रित, अपनी पूर्व परिचिता सुन्दरी नायिका कोशा गणिका की चित्रशाला में षट्रसयुक्त भोजन करते हुए चातुर्मास करने की आज्ञा मांगी। आचार्य ने आज्ञा प्रदान की, सब साधुओं ने अपने-अपने चातुर्मास के स्थान की ओर विहार किया। मुनि स्थूलिभद्र कोशा गणिका के घर पहुँचे।

स्थूलिभद्र के प्रति कोशा गणिका का आंतरिक प्रेम था। इसलिए दीर्घ काल बीत जाने पर भी वह उन्हें न भुला सकी थी। उनके वियोग में वह जर्जरित हो गई थी। चिरकाल के बाद उनको वापस उपस्थित हुए देखकर उसका रोम रोम हर्षित हो रहा था। मुनि स्थूलिभद्र कोशा की आज्ञा लेकर उसकी चित्रशाला में चातुर्मास के लिए ठहरे। यद्यपि उस समय स्थूलिभद्र मुनि-वेष में थे, फिर भी गणिका को बड़ी आशा बंधी। उसने सोचा—"मेरे यहाँ चातुर्मास करने का और क्या अभिप्राय हो सकता है? इसका कारण उनके हृदय में मेरे प्रति रहा हुआ सूक्ष्म मोह भाव ही है।" यह सोचकर यह मुनि को पूर्व-क्रीड़ाओं का स्मरण कराने लगी। वह नाना प्रकार के शृङ्गार कर तथा उत्तम से उत्तम वस्त्राभूषण पहनकर उनको अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगी। परन्तु गणिका की नाना प्रकार की चेष्टा से भी मुनि स्थूलिभद्र किंचित् भी विचलित नहीं हुए। वे सदा धर्म-ध्यान में लीन रहते।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २ गा० १० की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर।

इधर कोशा उन्हें विचलित करना चाहती थी और उधर मुनिवर स्थूलिभद्र उसे प्रतिबोधित करना चाहते थे। जब जब वह उनके पास आती, वे उसे विविध उपदेश देते —

"विषय-सुख चाहे कितने ही दीर्घ समय तक के लिए भोगने को मिल जाय, आखिर एक न एक दिन उनका अन्त अवश्य होता है। ऐसे नाशवान विषयों को मनुष्य स्वयं क्यों नहीं छोड़ता ? विषय जब अपने आप छूटते हैं, तो मनको अत्यन्त परिताप होता है, परन्तु यदि उनको स्वयं ही प्रसन्नता पूर्वक त्याग दिया जाता है, तो मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है।"

" धर्म-कार्य से बढ़कर कोई दूसरा श्रेष्ठ कार्य नहीं है। प्राणी-हिंसा से बढ़कर कोई दूसरा जघन्य कार्य नहीं है। प्रेम, राग, मोह से बढ़कर कोई बन्धन नहीं और बोधि (सम्यक्त्व)-लाभ से विशेष कोई लाभ नहीं है।"

मुनि स्थूलिभद्र के उपदेश से कोशा को अन्तर प्रकाश मिला। उनकी अद्भुत जितेन्द्रियता को देखकर उसका हृदय पवित्र भावनाओं से भर गया। अपने भोगासक्त जीवन के प्रति उसे बड़ी घृणा हुई। वह महान् अनुताप करने लगी। उसने मुनि से विनयपूर्वक क्षमा माँगी तथा सम्यक्त्व और बारह व्रत अंगीकार कर वह श्राविका हुई। उसने नियम किया—"राजा के हुक्म से आये हुए पुरुष के सिवाय मैं अन्य किसी पुरुष से शरीर-सम्बन्ध नहीं करूँगी"।

इस प्रकार व्रत और प्रत्याख्यान कर कोशा गणिका उत्तम श्राविका जीवन बिताने लगी।

चातुर्मास समाप्त होनेपर मुनिवर स्थूलिभद्र ने वहाँ से विहार किया। समय पाकर राजा ने कोशा के पास एक रथिक को भेजा। वह बाण-संधान विद्या में बड़ा निपुण था। अपनी कुशलता दिखलाने के लिए उसने झरोखे में बैठे बैठ ही बाण चलाना शुरू किये और उनका एक ऐसा ताँता लगा दिया कि उनके सहारे से उसने दूर के आम्र वृक्ष की फल सहित डालियों को तोड़-तोड़ कर उसे कोशा के घर तक खींच लिया।

इधर कोशा ने भी अपनी कला दिखलाने के लिए आँगन में सरसों का ढेर करवाया, उस पर एक सुई टिकाई और एक पुष्प रखकर नयनाभिराम नृत्य करना शुरू किया। नृत्य को देखकर रथिक चकित हो गया। उसने प्रशंसा करते हुए कोशा से कहा—"तुमने बड़ा अनोखा काम किया है"।

यह सुनकर कोशा बोली—"न तो बाण-विद्या से दूर बैठे आम की लूंब तोड़ लाना ही कोई अनोखा काम है और न सरसों के ढेर पर सुई रखकर और उस पर फूल रखकर नाचना ही। वास्तव में अनोखा काम तो वह है जो महा श्रमण स्थूलिभद्र मुनि ने किया।

"वे प्रमदा-रूपी वन में निशंक विहार करते रहे, फिर भी मोह प्राप्त होकर भटके नहीं।

"अग्नि में प्रवेश करने पर भी जिन्हें आँच नहीं लगी खड्ग की धार पर चलने पर भी जो छिद नहीं गए, काले नाग के बिल के पास वास करने पर भी जो काटे नहीं गए और काजल के घर में वास करने पर भी जिन्हें दाग नहीं लगा, ऐसे असिधारा व्रत को निभाने वाले, नर-पुंगव स्थूलिभद्र तो एक ही हैं। धन्य है उन्हें।"

"भोग के सभी अनुकूल साधन उन्हें प्राप्त थे। पूर्व परिचित वेश्या और वह भी अनुकूल चलनेवाली, षड्रस युक्त भोजन, सुन्दर महल, युवावस्था सुन्दर शरीर और वर्षा ऋतु—इनके योग होने पर भी जिन्होंने असीम मनोबल का परिचय देते हुए काम-राग का पूर्ण रूप से जीता और भोग रूपी कीचड़ में फँसी हुई मुझ जैसी गणिका का अपने उच्चादर्श और उपदेश के प्रभाव से प्रति बोधित किया उन कुशल महान आत्मा स्थूलिभद्र मुनि को मैं नमस्कार करती हूँ।

"कामदेव ! तू ने नंदीषेण, रथनेमि और आर्द्रकुमार मुनीश्वर की तरह ही स्थूलिभद्र मुनि को समझा होगा और सोचा होगा कि ये भी उनके ही साथी होंगे परन्तु तू ने यह नहीं जाना कि ये मुनीश्वर तो रणांगन में तुम्हें परास्त कर नेमिनाथ, जम्बु मुनि और सुदर्शन सेठ की श्रेणी में आसीन होंगे।

"हम तो भगवान् नेमिनाथ से भी बढ़कर योद्धा मुनि स्थूलिभद्र को मानते हैं। भगवान् नेमिनाथ ने तो गिरनार दुर्ग का आश्रय लेकर मोह को जीता, परन्तु, इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखनेवाले स्थूलिभद्र मुनि ने तो साक्षात् मोह के घर में प्रवेश कर उसको जीता।

"पर्वत पर, गुफा में, वन में या इसी प्रकार अन्य किसी एकान्त स्थान में रहकर इन्द्रियों को वश में करने वाले हजारों हैं परन्तु अत्यन्त विलासपूर्ण भवन में, लावण्यवती युवती के समीप में रहकर, इन्द्रियों को वश में रखनेवाले तो शकडाल-नन्दन स्थूलिभद्र एक ही हुए।"

इस प्रकार स्तुति कर कोशा ने स्थूलिभद्र मुनि की सारी कथा रथिक को सुनायी।

स्तुति-वचनों से रथिक को प्रतिबोध प्राप्त हुआ और स्थूलिभद्र के पास जा उसने मुनित्व धारण किया।

(२)

वर्षा-ऋतु समाप्त होने पर चातुर्मास के लिए गये हुए साधु वापस लौटे। आचार्य संभूति ने प्रत्येक शिष्य का यथोचित शब्दों में अभिवादन किया और कठिन काम पूरा कर आने के लिए बधाई दी। बाद में स्थूलिभद्र भी आये। जब उन्होंने प्रवेश किया तो आचार्य उनके स्वागत के लिए खड़े हो गये और "कठिन से कठिन करनी—कार्य करनेवाले तथा 'महात्मा' आदि अत्यन्त प्रशंसासूचक सम्बोधनों से उनका अभिवादन किया। यह देखकर सिंह गुफावासी मुनि के चित्त में ईर्ष्या का संचार हुआ। वह विचारने लगा—"वेश्या के यहाँ षट् रस खाकर रहना इतना क्या कठिन है कि स्थूलिभद्र का ऐसा अनन्य सन्मान ?"

देखते देखते दूसरा चातुर्मास आगया। जिस साधु ने गत चातुर्मास के अवसर पर सिंह की गुफा के सामने तपस्या करने का नियम लिया था, उसने कोशा के यहाँ चातुर्मास करने की इच्छा प्रगट की। आचार्य वास्तविक कठिनाई को समझते थे इसलिए उन्होंने अपनी ओर से अनुमति नहीं दी। परन्तु, शिष्य के अत्यन्त आग्रह को देखकर, शेष तक सुफल की आशा से, बाधा भी न दी। मुनि विहार कर ग्रामानुग्राम विचरते हुए पाटलिपुत्र नगर में पहुँचे एवं कोशा से यथा नियम आज्ञा प्राप्त कर उसकी चित्रशाला में ठहरे।

मुनि अपने को सम्पूर्ण जितेन्द्रिय समझता था। अपने मनोबल पर उसे आवश्यकता से अधिक भरोसा था। वह अपने को अजेय समझता था। परन्तु कोशा के स्वाभाविक शरीर-सौंदर्य को देखकर वह पहली ही रात्रि में चित्त विह्वल हो गया और कोशा से विषय भोग की प्रार्थना करने लगा।

प्रतिबोध प्राप्त श्राविका ने क्षण भर में ही अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। उसने कहा—"यदि मुझे नेपाल के राजा के यहाँ से रत्न-कम्बल लाकर दे सकें, तो मैं आपको अवश्य अंगीकार कर सकती हूँ।"

विषय वासना में साधु अत्यन्त आसक्त हो रहा था। उसे चातुर्मास तक का ध्यान न रहा। वह उसी समय विहार कर अनेक कठिनाइयों को झेलता हुआ नेपाल पहुँचा और बहुत कष्ट से रत्न-कम्बल प्राप्त कर कोशा के पास लौटा। मुनि ने बड़ी व्यग्रता और प्रेम के साथ कम्बल कोशा को भेंट की।

कोशा ने बड़े प्रेम और हर्ष के साथ उसे ग्रहण किया। मुनि के हिम्मत की बड़ी प्रशंसा की और रत्न कम्बल को बहुत सराहनीय बताया। स्नान करने के बाद कोशा ने मुनि को देखते-देखते ही उस कम्बल से अपने पैर पोंछकर उसी समय उसे गन्दे नाले में फेंक दिया।

यह सब देखकर मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बोला—इतनी मिहनत से प्राप्त कर लाई हुई इस बहुमूल्य रत्न कम्बल से पैर पोंछकर नाले में फेंकते हुए क्या तुम्हें जरा भी विचार नहीं आया ?"

कोशा ने गंभीर स्वर में उत्तर दिया—"हे मुनि ! इस रत्न-कम्बल को गंदे नाले में फेंक देने से आपको इतना कष्ट हुआ, परन्तु आप तो अनुपम चारित्र-रत्न को गवाकर अपनी आत्मा को नरक में फेंक रहे हैं, क्या इसका भी आपको फिक्र है ? आप जितनी बड़ी गलती करने जा रहे हैं, उतनी तो मैंने नहीं की।"

"ज्येष्ठ व्रत ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पर्वत के भार को वहन करना है। उसे वहन करने में अत्यन्त उद्यमी मुनि भी युवती के संसर्ग से द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से यतित्व से भ्रष्ट हो जाते हैं।"

"चाहे कोई कायोत्सर्गधारी हो, चाहे मौनी, चाहे कोई मुण्डित मस्तक वाला हो, चाहे कोई वल्कल के वस्त्र पहिनने वाला हो अथवा चाहे कोई अनेक प्रकार के तप करनेवाला हो—यदि वह मैथुन की प्रार्थना—कामना करनेवाला है, तो चाहे वह ब्रह्मा ही क्यों न हो, वह मुझे प्रिय नहीं।"

जो अकुलीन के संसर्ग रूप आपदा में पड़ने पर भी, और स्त्री के आमंत्रित करने पर भी, अकार्य कुकृत्य की ओर नहीं बढ़ता, उसी का पढ़ना, गुनना, जानना और आत्मस्वरूप का चिन्तन करना प्रमाण समझना चाहिए।"

"वही पुरुष धन्य है, वही पुरुष साधु है वही पुरुष नमस्कार के योग्य है जो अकार्य से निवृत्त है और असि धार सदृश—खड्ग की धार पर चलने जैसे कठिन व्रत—चतुर्थ व्रत का स्थूलिभद्र मुनि की तरह धीरता पूर्वक पालन करता है।"

कोशा की इन सारगर्भित बातों को सुनकर मुनि की आँखें खुलीं। घुमुल अंधकार में आलोक हुआ। कोशा के प्रति मुनि का हृदय कृतज्ञता से भर आया। वह बोला —"कोशा तू धन्य है। तूने मुझे भव-कूप से बचा लिया। अब मैं पाप से आत्मा को हटाता हूँ। तुमसे मैं क्षमा चाहता हूँ।"

कोशा बोली—"मुनि ! मैंने आपको संयम में स्थिर करने के लिए ही यह सब किया है। मैं श्राविका हूं। हे मुनि ! अब आचार्य के पास शीघ्र जाकर अपने दुष्कृत्य का प्रायश्चित्त अंगीकार करें और भविष्य में गुणवान् के प्रति ईर्ष्या-भाव न रखें।"

मुनि आचार्य के पास लौटे। अवज्ञा के लिए क्षमा-याचना की। अपने दुष्कृत्य की निन्दा करते हुए प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हुए।

कोशा गणिका होकर भी उत्तम श्राविका निकली। वह ब्रह्मचर्य व्रत में दृढ़ रही और उसके बल से चलचित्त मुनि को भी उसने फिर से संयम में दृढ़ कर दिया।

★

कथा—१५।

कुलवालुका[1]

[इसका सम्बन्ध अध्ययन २ गाथा ८ (पृष्ठ ११) के साथ है]

आचार्य के समस्त गुणों से युक्त एक आचार्य थे। उनके अनेक शिष्य थे जिनमें एक अविनीत शिष्य भी था। वह सदैव आचार्य के दोषों की ही खोज किया करता था। आचार्य उसके आत्म-सुधार के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते और अन्य शिष्यों के साथ-साथ उसे भी ज्ञानाभ्यास करवाते थे।

एक समय आचार्य शिष्य-परिवार के साथ विहार कर रहे थे। बीच में पर्वत को पार करने के समय कुछ शिष्य पीछे रह गये और कुछ आगे बढ़ गये। आचार्य केवल अकेले ही पर्वत से नीचे उतर रहे थे। पीछे अविनीत शिष्य आ रहा था। उसने आचार्य को पर्वत से नीचे उतरते हुए देखा। आचार्य को अकेला जानकर उसने उनकी हत्या करने का विचार कर लिया। इस विचार से उसने एक बड़ा पत्थर पहाड़ पर से नीचे लुढ़काया। पत्थर की गड़गड़ाहट सुनकर आचार्य ने पीछे मुड़कर देखा तो मालूम हुआ कि कुपात्र शिष्य ने उनकी हत्या के लिए पत्थर लुढ़काया था। उसी समय उन्होंने अपने दोनों पाँव फैला दिये। पत्थर दोनों पाँव के बीच से निकल गया। आचार्य के प्राण बच गए। शीघ्रता से चलकर वे अपने शिष्यसमूह में मिल गये। उन्होंने सारी बात शिष्यों से कही। यह बात सुनकर सभी अविनीत शिष्य का तिरस्कार करने लगे, किन्तु उसने तो आचार्य को ही दोषी बताया और अपना सारा अपराध उन्हीं के सिर पर डाल दिया।

आचार्य बहुत समताधारी थे, फिर भी "उलटा चोर कोतवाल को डाँटे" की कहावत को चरितार्थ होते देखकर उन्हें उसके व्यवहार पर क्रोध आया। उन्होंने उसे शाप दिया "जा तेरा पतन एक स्त्री से होगा और तू अनन्त संसारी बनेगा।" ऐसा सुनकर शिष्य उलटा आचार्य की मजाक करने लगा। अन्य शिष्यों ने उस कुपात्र शिष्य की अधिक उद्दंडता पूर्ण हरकतें देखी तो उसे संघ से निकाल दिया।

वहाँ से निकल कर वह वेणी नदी के तट पर तापस के आश्रम में रहने लगा। वह कठोर तप करने लगा। आने जाने वाले पथिकों से शुद्ध आहार-पानी ग्रहण कर संयम का पालन करने लगा। वर्षाकाल आया। एक दिन इतनी अधिक वर्षा हुई कि नदी में जोरों की बाढ़ आ गई। इससे गाँव और आश्रम को खतरा पहुँचने लगा किन्तु उस तपस्वी की तप साधना से पानी का प्रवाह आश्रम को बचाते दूसरी तरफ बह निकला। आश्रम खतरे से बच गया और समस्त आश्रम वासी निर्भय हो गये। लोगों ने जब यह चमत्कार देखा तो उस तपस्वी से बहुत प्रभावित हुए और उस तपस्वी का नाम 'कुलवालुका'—नदी के प्रवाह को बदलनेवाला रखा। सब लोग उसको कुलवालुका ही कहने लगे।

उस समय राजगृही नगर में महाराजा श्रेणिक ने अपने पुत्र हल्ल-विहल्ल कुमार को सिंचानक हस्ती व वंकचूड़ामणि नाम का अठारहसरा हार दिया। कोणिक कुमार ने अपने पिता की हत्या कर राज्य के ग्यारह हिस्से कर ग्यारह भाइयों में बाँट दिये और स्वयं एक हिस्से पर राज्य करने लगा था। पिता की हत्या से उसको बहुत पश्चाताप हुआ। उसने राजगृही को छोड़कर चंपा नगरी को अपनी राजधानी बना ली।

एक समय रानी पद्मावती ने सिंचानक गंध हस्ती के साथ हल्ल विहल्ल कुमार को आनन्द करते हुए देखा। उसके दिल में हार हाथी को प्राप्त करने की इच्छा हुई। उसने अपने पति कोणिक से यह बात कही। कोणिक ने रानी को

1—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १ गा० ३ की श्री नेमिचन्द्रीय टीका एवं उत्तराध्ययन सूत्र की 'कंताली कथा' के आधार पर।

बहुत समझाया और कहा—"पिताजी ने स्वयं अपने हाथ से हार और हाथी को दे दिया तब हमें उसे माँगने का क्या अधिकार है ?" स्त्री का हठ जबर्दस्त होता है। उसने राजा की एक नहीं सुनी। अपने आग्रह पर दृढ़ रही। अन्त में कोणिक को रानी की बात माननी पड़ी।

कोणिक राजा ने हल-विहल्ल कुमार को कहला भेजा—"हार और हाथी तो राज्य की शोभा है, अतः ये मेरे पास ही रहेंगे। उन्हें राज्य के कोष में हाजिर किया जावे।" उत्तर में हल-विहल्ल कुमार ने कहलाया—"अगर हमें राज्य का हिस्सा मिल जाय तो हम हार और हाथी को देने के लिए तैयार हैं, अन्यथा नहीं।" कोणिक ने कहा—"मेरे राज्य का सूई जितना हिस्सा भी नहीं मिलेगा और तुमको हार और हाथी देना पड़ेगा।"

हल विहल्ल कुमार ने देखा कि यहाँ रहने से न हार-हाथी ही रहेगा और न राज्य का ही हिस्सा मिलेगा। ऐसा सोचकर दोनों ही अपने नाना चेटक राजा के पास चले गये।

जब राजा कोणिक को यह मालूम हुआ तो उसने राजा चेटक को दूत के द्वारा यह कहला भेजा—"हार और हाथी के साथ हल-विहल्ल कुमार को मेरे पास भेज दो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।" चेटक ने उत्तर में कहला भेजा—"चेटक किसी भी मूल्य पर शरणागत की रक्षा करेगा। वह हल-विहल्ल को नहीं भेज सकता। युद्ध के लिए किया गया आह्वान स्वीकार्य है।"

कोणिक राजा ने अपने ग्यारह भाइयों के साथ विशाल चतुरंगिणी सेना को लेकर विशाला नगरी पर चढ़ाई कर दी। इधर चेटक भी नौ मल्ली और नौ लिच्छवी, इस तरह १८ देशों के राजाओं की सहायता लेकर कोणिक का सामना करने के लिए तैयार था। परस्पर युद्ध चालू हो गया। चेटक ने कोणिक के दस भाइयों को अपने शक्तिशाली बाणों से मार दिया। दो दिनों में १ करोड़ ८० लाख सेना का संहार हो गया।

कोणिक घबड़ा गया और उसने अपने पूर्व-भव के मित्र चमरेन्द्र को याद किया। चमरेन्द्र के प्रकट होने पर कोणिक ने उसे अपनी रक्षा के लिए कहा और चेटक को किसी भी उपाय से मार डालने की बात कही। चमरेन्द्र ने कहा—"चेटक मेरा धर्म मित्र है। अतः मैं उसकी हत्या नहीं करवा सकता, किन्तु तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ।" ऐसा कह चमरेन्द्र ने उसे वज्रकोट दिया। कोणिक उसे पहनकर युद्ध करने लगा।

चेटक राजा जो बाण मारता था इन्द्र के प्रभाव से वह कोणिक को नहीं लगता था। चेटक के बाणों की निष्फलता देख सेना घबड़ा गई और उसमें भगदड़ मच गई। चेटक भी घबड़ाकर नगर में घुस गया और नगर के फाटक बन्द करवा दिये।

कोणिक ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं विशाला नगरी में गदहे से हल चलाऊँगा। उसने नगरी को सेना से घेर लिया। वह बहुत दिनों तक घेरा डाले रहा पर कोट का तोड़ने का भरसक प्रयत्न करने पर भी वह उसे भग्न नहीं कर सका। इससे वह बहुत आकुल-व्याकुल होने लगा।

नैमित्तिक ने बताया कि जब कुलबालुडा मागधिका नाम की वेश्या से भ्रष्ट होगा तब चेटक की विशाला नगरी कोणिक के अधीन हो सकती है।

कोणिक ने मागधिका वेश्या को बुलाकर कुलबालुडा को वश में करने का आदेश दिया। राजा का आदेश पाकर मागधिका कुलबालुडा की कृत्रिम भाविका बन उसके पास आने जाने लगी।

एक दिन कुलबालुडा साधु उद्यपना मागधिका वेश्या के अनुरोध से उसके घर गोचरी के लिए गया। वेश्या ने पहले ही साधु के आहार में औषधि मिला रखी थी। उस आहार को लेकर साधु स्थान आया और उसने वह आहार का लिया। औषधि के कारण उसे वस्त्र में ही दस्तें लगने लगी और वह बेहाल हो गया।

कथा—१५ ।

कुलवालुका [1]

[इसका सम्बन्ध पाठ २ गाथा ८ (पृष्ठ १३) के साथ है]

आचार्य के समस्त गुणों से युक्त एक आचार्य थे। उनके अनेक शिष्य थे जिनमें एक अविनीत शिष्य भी था। वह सदैव आचार्य के दोषों की ही खोज किया करता था। आचार्य उसके आत्म-सुधार के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते और अन्य शिष्यों के साथ-साथ उसे भी ज्ञानाभ्यास करवाते थे।

एक समय आचार्य शिष्य-परिवार के साथ विहार कर रहे थे। बीच में पर्वत को पार करने के समय कुछ शिष्य पीछे रह गये और कुछ आगे बढ़ गये। आचार्य केवल अकेले ही पर्वत से नीचे उतर रहे थे। पीछे अविनीत शिष्य आ रहा था। उसने आचार्य को पर्वत से नीचे उतरते हुए देखा। आचार्य को अकेला जानकर उसने उनकी हत्या करने का विचार कर लिया। इस विचार से उसने एक बड़ा पत्थर पहाड़ पर से नीचे लुढ़काया। पत्थर की गड़गड़ाहट सुनकर आचार्य ने पीछे मुड़कर देखा तो मालूम हुआ कि कुपात्र शिष्य ने उनकी हत्या के लिए पत्थर लुढ़काया था। उसी समय उन्होंने अपने दोनों पाँव फैला दिये। पत्थर दोनों पाँव के बीच से निकल गया। आचार्य के प्राण बच गए। शीघ्रता से चलकर वे अपने शिष्यसमूह में मिल गये। उन्होंने सारी बात शिष्यों से कही। यह बात सुनकर सभी अविनीत शिष्य का तिरस्कार करने लगे, किन्तु उसने तो आचार्य को ही दोषी बताया और अपना सारा अपराध उन्हीं के सिर पर डाल दिया।

आचार्य बहुत समताधारी थे, फिर भी "उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे" की कहावत को चरितार्थ होते देखकर उन्हें उसके व्यवहार पर क्रोध आया। उन्होंने उसे शाप दिया "जा तेरा पतन एक स्त्री से होगा और तू अनन्त संसारी बनेगा।" ऐसा सुनकर शिष्य उल्टा आचार्य की मखौल करने लगा। अन्य शिष्यों ने उस कुपात्र शिष्य की अधिक उद्दंडता पूर्ण हरकतें देखी तो उसे संघ से निकाल दिया।

वहाँ से निकल कर वह वेणी नदी के तट पर तापस के आश्रम में रहने लगा। वह कठोर तप करने लगा। आने जाने वाले पथिकों से शुद्ध आहार-पानी ग्रहण कर संयम का पालन करने लगा। वर्षाकाल आया। एक दिन इतनी अधिक वर्षा हुई कि नदी में जोरों की बाढ़ आ गई। इससे गाँव और आश्रम को खतरा पहुँचने लगा किन्तु उस तपस्वी की तप साधना से पानी का प्रवाह आश्रम को बचाते दूसरी तरफ बह निकला। आश्रम खतरे से बच गया और समस्त आश्रम वासी निर्भय हो गये। लोगों ने जब यह चमत्कार देखा तो उस तपस्वी से बहुत प्रभावित हुए और उस तपस्वी का नाम 'कुलवालुका'—नदी के प्रवाह को बदलनेवाला रखा। सब लोग उसको कुलवालुका ही कहने लगे।

उस समय राजगृही नगर में महाराजा श्रेणिक ने अपने पुत्र हल-विहल कुमार को सिचानक हस्ती व वंकचूडामणि नाम का अठारहसरा हार दिया। कोणिक कुमार ने अपने पिता की हत्या कर राज्य के ग्यारह हिस्से कर ग्यारह भाइयों में बाँट दिये और स्वयं एक हिस्से पर राज्य करने लगा था। पिता की हत्या से उसको बहुत पश्चाताप हुआ। उसने राजगृही को छोड़कर चंपा नगरी को अपनी राजधानी बना ली।

एक समय रानी पद्मावती ने सिचानक गंध हस्ती के साथ हल विहल कुमार को आनन्द करते हुए देखा। उसके दिल में हार हाथी को प्राप्त करने की इच्छा हुई। उसने अपने पति कोणिक से यह बात कही। कोणिक ने रानी को

1—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १ गा० ३ की श्री नेमिचन्द्रीय टीका एवं 'उत्तराध्ययन सूत्र की चौरासी कथा' के आधार पर।

बहुत समझाया और कहा—"पिताजी ने स्वयं अपने हाथ से हार और हाथी को दे दिया तब हमें उसे माँगने का क्या अधिकार है ?" स्त्री का हठ जबर्दस्त होता है। उसने राजा की एक नहीं सुनी। अपने आग्रह पर दृढ़ रही। अन्त में कोणिक को रानी की बात माननी पड़ी।

कोणिक राजा ने हल-विहल कुमार को कहला भेजा—"हार और हाथी तो राज्य की शोभा है, अतः ये मेरे पास ही रहेंगे। उन्हें राज्य के कोष में हाजिर किया जाये।" उत्तर में हल विहल कुमार ने कहलाया—"अगर हमें राज्य का हिस्सा मिल जाय तो हम हार और हाथी को देने के लिए तैयार हैं, अन्यथा नहीं।" कोणिक ने कहा—"मेरे राज्य का सूई जितना हिस्सा भी नहीं मिलेगा और तुमको हार और हाथी देना पड़ेगा।"

हल-विहल कुमार ने देखा कि यहाँ रहने से न हार-हाथी ही रहेगा और न राज्य का ही हिस्सा मिलेगा। ऐसा सोचकर दोनों ही अपने नाना चेटक राजा के पास चले गये।

जब राजा कोणिक को यह मालूम हुआ तो उसने राजा चेटक को दूत के द्वारा यह कहला भेजा—"हार और हाथी के साथ हल-विहल कुमार को मेरे पास भेज दो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।" चेटक ने उत्तर में कहला भेजा—"चेटक किसी भी मूल्य पर शरणागत की रक्षा करेगा। वह हल-विहल को नहीं भेज सकता। युद्ध के लिए किया गया आह्वान स्वीकार्य है।"

कोणिक राजा ने अपने ग्यारह भाइयों के साथ विशाल चतुरंगिणी सेना को लेकर विशाला नगरी पर चढ़ाई कर दी। इधर चेटक भी नौ मल्ली और नौ लिच्छवी, इस तरह १८ देशों के राजाओं की सहायता लेकर कोणिक का सामना करने के लिए तैयार था। परस्पर युद्ध चालू हो गया। चेटक ने कोणिक के दस भाइयों को अपने शक्तिशाली बाणों से मार दिया। दो दिनों में १ करोड़ ८० लाख सेना का संहार हो गया।

कोणिक घबड़ा गया और उसने अपने पूर्व-भव के मित्र चमरेन्द्र को याद किया। चमरेन्द्र के प्रकट होने पर कोणिक ने उसे अपनी रक्षा के लिए कहा और चेटक का किसी भी उपाय से मार डालने की बात कही। चमरेन्द्र ने कहा—"चेटक मेरा धर्म मित्र है। अतः मैं उसकी हत्या नहीं करवा सकता किन्तु तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ।" ऐसा कह चमरेन्द्र ने उसे वज्रकोट दिया। कोणिक उसे पहनकर युद्ध करने लगा।

चेटक राजा जो बाण मारता था इन्द्र के प्रभाव से वह कोणिक को नहीं लगता था। चेटक के बाणों की निष्फलता देख सेना घबड़ा गई और उसमें भगदड़ मच गई। चेटक भी घबड़ाकर नगर में घुस गया और नगर के फाटक बन्द करवा दिये।

कोणिक ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं विशाला नगरी में गधे से हल चलाऊंगा। उसने नगरी को सेना से घेर लिया। वह बहुत दिनों तक घेरा डाले रहा, पर कोट को तोड़ने का भरसक प्रयत्न करने पर भी वह उसे भग्न नहीं कर सका। इससे वह बहुत आकुल-व्याकुल होने लगा।

नैमित्तिक ने बताया कि जब कुलवालुक मागधिका नाम की वेश्या से भ्रष्ट होगा तब चेटक की विशाला नगरी कोणिक के अधीन हो सकती है।

कोणिक ने मागधिका वेश्या को बुलाकर कुलवालुक को वश में करने का आदेश दिया। राजा का आदेश पाकर मागधिका कुलवालुक की कृत्रिम श्राविका बन उसके पास आने जाने लगी।

एक दिन कुलवालुक साधु इस्तवश मागधिका वेश्या के अनुरोध से उसके घर गोचरी के लिए गया। वेश्या ने पहले ही साधु के आहार में औषधि मिला रखी थी। उस आहार को लेकर साधु स्थान आया और उसने वह आहार का लिया। औषधि के कारण उसे पल में ही दस्तें लगने लगीं और वह बेहाल हो गया।

इधर वेश्या मागधिका साधु के स्थान में आ उसकी परिचर्या करने लगी। उसने साधु के वस्त्रों एवं शरीर को धोकर साफ किया। साधु की बेहोशी को मिटाने के लिए वह उसके अंग प्रत्यङ्ग को मसलने लगी। साधु को होश हुआ तब अपने समीप एक नारी को बैठी हुई देख कर वह बोला—"तुम यहाँ किस लिए बैठी हो ?" वेश्या ने कहा—स्वामी! आप मूर्च्छित अवस्था में पड़े हुए थे। आपका शरीर और वस्त्र मल मूत्र से भर गया था। ऐसी अवस्था में आपकी सेवा करना मेरा कर्तव्य था। यही सोचकर मैंने आपके वस्त्रों एवं शरीर को साफ कर दिया और आपकी बेहोशी को मिटाने के लिए हाथ और पैर मसलने लगी। अब आपको होश हुआ है आप मुझसे किसी भी प्रकार का संकोच न करें। आप तो महापुरुष हैं, मैं आपकी सेवा से घृणा कैसे कर सकती हूँ ? आप जब तक स्वस्थ न हो जाय तब तक आपकी सेवा करना चाहती हूँ। अपनी सेवा से मुझे वंचित न रखें।" इस प्रकार मागधिका ने मधुर वचनों एवं हाव भाव से कूलबालुका साधु के चित्त को मोह लिया। वेश्या के संग से साधु भ्रष्ट हो गया। उसने अपने हाव-भावों से कूलबालुका को अपने वश में कर लिया। कूलबालुका अपने तप से भ्रष्ट होकर मागधिका वेश्या से भोग भोगने लगा। एक दिन वेश्या ने कहा—"अब आपको कमा कर लाना चाहिए।" तब उसने ज्योतिषी का धंधा शुरू कर दिया।

ज्योतिषी कूलबालुका एक दिन कोणिक राजा के पास गया। कोणिक ने उसे पूछा—"बताओ कौन-सा उपाय करने से विशाला नगरी मेरे अधीन हो सकती है ?" तब उसने निमित्त शास्त्र से बताया कि विशाला नगरी में जो स्तंभ गड़ा है, वह अच्छे मुहूर्त में गड़ा है। अगर उस स्तंभ को उखाड़ दिया जाय तो नगरी तुम्हारे अधीन हो सकती है।

कूलबालुका विशाला नगरी में घूमता हुआ लोगों से यह कहने लगा कि इस स्तम्भ का अब समय हो गया है। इसको उखाड़ देने से नगर का संकट दूर हो सकता है। लोगों ने उसपर विश्वास कर लिया और स्तंभ को उखाड़ना शुरू कर दिया।

उसने कोणिक से कह दिया कि जब ये लोग स्तंभ को उखाड़ने लगें तब अपनी सेना को वहाँ से हटाकर दूर ले जाना और बाद में अचानक हमला बोल देना। कोणिक ने ऐसा ही किया।

विशाला नगर-वासियों को यह विश्वास हो गया कि स्तंभ को मूल से उखाड़ देने से कोणिक की सेना हट गई।

समय पाकर कोणिक ने पुन हमला बोल दिया और विशाला नगरी का पतन हो गया। कोणिक ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार विशाला नगरी में गदहे से हल चलाया।

व्रत की आराधना कर चेटक देवलोक गया। हल-विहल कुमारों ने दीक्षा ले ली। हाथी अग्नि-कुण्ड में पड़कर मर गया और कूलबालुका मर कर नरक में गया।

*

मल्लि [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ३ गा० ७ (पृ० १९) के साथ है]

विदेह की राजधानी मिथिला में कुम्भ नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम प्रभावती था। उसके मल्लदिन्न नाम का एक राजकुमार और मल्लि नाम की एक पुत्री थी।

मल्लि का सौंदर्य अनुपम था। उसके केश काले थे। नेत्र अत्यन्त सुन्दर थे। बिम्ब फल की तरह उसके अधर लाल थे। उसके दाँतों की पंक्तियाँ श्वेत थीं। उसका शरीर श्रेष्ठ कमल के गर्भ की कान्तिवाला था। उसका श्वासो च्छ्वास विकस्वर कमल की तरह सुगन्धित था।

देखते-देखते मल्लिकुमारी बाल्यावस्था से मुक्त हुई एवं रूप में, यौवन में, लावण्य में, अत्यन्त उत्कृष्ट शरीरवाली हो गयी।

उस समय अंग नाम का एक जनपद था। उसमें चंपा नाम की नगरी थी। वहाँ राजा चन्द्रच्छाय राज्य करता था। उस नगरी में बहुत से नौ-वणिक् (नौका द्वारा व्यापार करनेवाले) रहते थे जो समृद्धिशाली और अपरिभूत थे। वे बार-बार लवण-समुद्र की यात्रा करते थे। उनमें अर्हन्नक नामक एक श्रमणोपासक था।

एक बार समुद्र यात्रा से लौटते समय अर्हन्नकादि नौ-यात्रिक दक्षिण दिशा में स्थित मिथिला नगरी पहुँचे। उन्होंने उद्यान में अपना पड़ाव डाला। बहुमूल्य उपहार एवं कुण्डल युगल लेकर वहाँ के राजा कुम्भ की सेवा में पहुँचे और हाथ जोड़कर विनय पूर्वक उन्होंने वह भेंट महाराजा को प्रदान की।

महाराजा कुम्भ ने मल्लिकुमारी को बुला दिव्य कुण्डल उसे पहना दिया। इसके बाद उन्होंने अर्हन्नादिक वणिकों का बहुत सम्मान किया। महसूल माफकर उन्हें रहने के लिए एक बड़ा आवास दे दिया। यहाँ कुछ दिन व्यापार करने के बाद उन्होंने अपने जहाजों में चार प्रकार का किराना भरकर समुद्र-मार्ग से चंपानगरी की ओर प्रस्थान कर दिया।

चम्पा नगरी में पहुँचने पर उन्होंने बहुमूल्य कुण्डल युगल वहाँ के महाराजा चन्द्रच्छाय को भेंट किया। अंगराज चन्द्रच्छाय ने भेंट को स्वीकार कर अर्हन्नकादि श्रावकों से पूछा—"तुम लोग अनेकानेक ग्राम-नगरों में घूमते हो। बार बार लवण समुद्र की यात्रा करते हो। बताओ, ऐसा कोई आश्चर्य है जिसे तुमने पहली बार देखा हो।" अर्हन्नक श्रमणो पासक बोला—"हम लोग इस बार व्यापारार्थ मिथिला नगरी भी गये थे। वहाँ हमलोगों ने कुम्भ महाराज का दिव्य कुंडल-युगल भेंट की। महाराजा ने अपनी पुत्री मल्लिकुमारी को बुलाकर वे दिव्य कुंडल उसे पहना दिये। मल्लिकुमारी को हमने वहाँ एक आश्चर्य के रूप में देखा। विदेहराज की श्रेष्ठ कन्या मल्लिकुमारी जितनी सुन्दर है उतनी सुन्दर देवकन्यायें भी नहीं देखी जाती।"

महाराज चन्द्रच्छाय ने अर्हन्नकादि व्यापारियों का सत्कार सम्मान कर उन्हें विदा किया।

व्यापारियों के मुख से मल्लिकुमारी की ऐसी प्रशंसा सुनकर महाराज चन्द्रच्छाय उसपर अनुरक्त हो गए। दूत को बुलाकर कहा—"तुम मिथिला नगरी जाओ और जाकर कुम्भराजा से मल्लिकुमारी को मेरी भार्या के रूप में मंगनी करो। अगर कन्या के बदले में वे मेरे राज्य की भी मांग करें तो स्वीकार कर लेना।" महाराजा का सन्देश लेकर दूत मिथिला पहुँचा।

---

[1] —ज्ञाताधर्म अ० ८ के आधार पर

उस समय कोशल जनपद में साकेतपुर नाम का नगर था। वहाँ इक्ष्वाकु वंश के प्रतिबुद्धि नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम पद्मावती था। राजा के प्रधान मंत्री का नाम सुबुद्धि था। वह साम, दाम, दण्ड और भेद नीति में कुशल और राज्य धुरा का छुम चिन्तक था। उस नगर के ईशान कोण में एक विशाल नाग गृह था।

एक बार नाग महोत्सव का दिन आया। महारानी पद्मावती ने राजा प्रतिबुद्धि से निवेदन किया—"स्वामी! कल नागपूजा का दिन है। आपकी इच्छा से उसे मनाना चाहती हूँ। उसमें आपको भी साथ जाना होगा।"

राजाने पद्मावती देवी की प्रार्थना स्वीकार की। इसके बाद महारानी ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा—"तुम माली को बुलाकर कहो कि कल पद्मावती देवी नागपूजा करेगी। अतः जल-थल में उत्पन्न होनेवाले विकस्वर, पंचवर्णी पुष्पों एवं एक श्रीदाम महाकाण्ड को नागगृह में रखो। जल-थल में उत्पन्न विकस्वर पंचवर्णी पुष्पों को विविध प्रकार से सजाकर एक विशाल पुष्प-मंडप बनाओ। उसमें फूलों के अनेक प्रकार के हंस, मृग, मयूर, क्रौंच, सारस, चक्रवाक, मैना, कोयल, ईहामृग, वृषभ, घोड़ा, मनुष्य, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, मृग, अष्टापद, चमरी गाय, हाथी, वनलता एवं पद्मलता के चित्रों को सजाओ। उस पुष्पमंडप के मध्य भाग में सुगन्धित पदार्थ रखो एवं उसमें श्रीदामकाण्ड लटकाओ और पद्मावती देवी की प्रतीक्षा करते हुए रहो।" कौटुम्बिक पुरुषों ने वैसा ही किया।

प्रातः महारानी की आज्ञानुसार सारे नगर की सफाई की गई, सुगन्धित जल सारे नगर में छिड़का गया।

महारानी ने स्नान किया एवं सर्व वस्त्रालंकारों से विभूषित हो धार्मिक यान पर बैठी। नगर के मध्य होती हुई वह पुष्करणी के पास आई। पुष्करणी में प्रवेश कर महारानी ने स्नान किया और गीली साड़ी पहने ही कमल पुष्पों को ग्रहण कर पुष्करणी से निकल कर नागगृह में आई। वहाँ उसने सर्वप्रथम लोमहस्तक से नागप्रतिमा का प्रमार्जन किया और उसकी पूजा की। फिर महाराजा की प्रतीक्षा करने लगी।

इधर प्रतिबुद्धि महाराज ने भी स्नान किया। फिर सर्व अलंकार पहनकर सुबुद्धि प्रधान के साथ हाथी पर बैठकर जहाँ नागगृह था, वहाँ आये। हाथी से नीचे उतरकर सुबुद्धि प्रधान के साथ नागगृह में प्रवेश किया। दोनों ने नागप्रतिमा को प्रणाम किया। नागगृह से निकलकर वे पुष्प-मंडप में आये और श्रीदामकाण्ड को देखा। उसकी रचना को देखकर महाराजा विस्मित हुए और अमात्य से कहा—"सुबुद्धि! तुम मेरे दूत के रूप में अनेक ग्राम-नगरों में घूमे हो। राजा महाराजाओं के घर में प्रवेश किया है। कहो, आज तुमने पद्मावती देवी का जैसा श्रीदामकाण्ड देखा, वैसा अन्यत्र भी कहीं देखा है?"

सुबुद्धि बोला—"स्वामी! एक दिन आपके दूत के रूप में मैं मिथिला नगरी गया था। वहाँ विदेहराज की पुत्री, प्रभावती की आत्मजा मल्लिकुमारी का संवत्सर प्रतिलेखन महोत्सव था। उस दिन मैंने पहले-पहल जो श्रीदाम काण्ड देखा पद्मावती देवी का वह श्री दामकाण्ड उसके लाखवें भाग की भी बराबरी नहीं कर सकता। महाराज ने पूछा—"वह विदेह राजकन्या मल्लिकुमारी रूप में कैसी है?" मन्त्री ने कहा—"स्वामी! विदेह राजा की श्रेष्ठ कन्या मल्लिकुमारी सुप्रतिष्ठित कूर्मोन्नत और चारुचरणा है। वह रूप और लावण्य में अत्यन्त सम्पन्न तथा वर्णनीय है।

मंत्री के मुख से मल्लिकुमारी के रूप की प्रशंसा सुनकर महाराज प्रतिबुद्धि ने हर्षित होकर दूत बुलाकर कहा—"तू मिथिला राजधानी जा। वहाँ विदेहराज की मल्लि नाम की श्रेष्ठ कन्या है। मेरी भार्या के रूप में उसकी मँगनी कर। अगर इसके लिए मुझे समस्त राज्य भी देना पड़े तो स्वीकार कर लेना।"

इसके बाद उस दूत ने चार घंटा वाले अश्वरथ पर आरूढ़ होकर अपने अनेक सुभटों के साथ मिथिला की ओर प्रस्थान किया।

उस समय कुणाल नाम का एक जनपद था जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी। वहाँ रुक्मी राजा का शासन था।

धारणी उसकी रानी थी तथा सुबाहु उसकी कन्या। वह रूप, यौवन और लावण्य में उत्कृष्ट थी। उसका शरीर उत्कृष्ट था। सुबाहु कन्या के चातुर्मासिक स्नान महोत्सव का दिन आया जानकर महाराज ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर आज्ञा दी—"कल सुबाहु कुमारी का चातुर्मासिक स्नान है। इसलिए जल-थल में उत्पन्न होनेवाले पंचवर्णीय पुष्पों का मण्डप बनाओ और उसमें श्रीदामकाण्ड लटकाओ।"

कौटुम्बिक पुरुषों ने वैसा ही किया।

महाराजा ने स्वर्णकारों को बुलाकर कहा—"शीघ्र ही राजमार्ग के बीच पुष्प-मण्डप में विविध प्रकार के पाँच वर्णों के चावलों से नगर का चित्र आलेखित करो और उसके मध्य भाग में पाटोट रखो।"

स्वर्णकारों ने महाराज की आज्ञा का पालन किया।

इसके बाद महाराजा गन्ध हस्ति पर आरूढ़ हो कोरंट पुष्पों से सजे हुए छत्र-चँवर को धारण कर, चतुरंगिणी सेना से सुसज्जित हो, राजकुमारी सुबाहु को आगे बैठाकर नगर के मध्य होते हुए पुष्प-मण्डप में पहुँचे। वहाँ पहुँचकर महाराजा हाथी से नीचे उतरे और पूर्व दिशा की ओर मुँहकर सिंहासन पर आसीन हुए।

अंतःपुर की स्त्रियों ने सुबाहु कन्या को पाट पर बैठाकर सोने और चाँदी के कलशों से नहलाया। फिर उसे सर्व वस्त्रालंकारों से सुसज्जित कर पिता को नमस्कार करने के लिए भेजा। राजकुमारी ने पिता के चरणों में नमस्कार किया। पिता ने उसे अपनी गोद में बिठा लिया। अलंकारों से सज्जित पुत्री के रूप-यौवन को देखकर महाराजा विस्मित हुए। अपने मंत्री वर्षधर को बुलाकर वे बोले—"मंत्री! तुम अनेक ग्राम, नगर तथा राजा-महाराजाओं के पास कार्यवश जाते हो। यह बताओ कि आज सुबाहु कुमारी का जैसा चातुर्मासिक स्नान महोत्सव हुआ है, वैसा पहले भी कहीं देखा है?"

मंत्री ने कहा—"स्वामी! मैं आपके कार्य के लिए दूत बनकर किसी समय मिथिला नगरी गया था। वहाँ कुम्भ राजा की पुत्री, प्रभावती देवी की आत्मजा, मल्लिनामकी राजकुमारी का स्नान-महोत्सव देखा। उस स्नान-महोत्सव के सामने सुबाहुकन्या का स्नान महोत्सव लाखवें हिस्से की भी बराबरी नहीं कर सकता।" इसके बाद मंत्री ने मल्लिकुमारी के रूप का वर्णन किया।

मंत्री के मुख से मल्लिकुमारी की प्रशंसा सुनकर राजा उसकी ओर आकर्षित हो गया और राजकुमारी की मगनी के लिए अपना दूत कुम्भ राजा के पास मिथिला भेजा।

उस समय काशी नामक जनपद में वाराणसी नाम की नगरी थी। वहाँ शंख नामक राजा का राज्य था।

एक बार मल्लिकुमारी के दिव्य कुण्डल युगल का संधि भाग टूट गया। महाराजा ने नगर के समस्त स्वर्णकारों को बुलाकर कुण्डल युगल को जोड़ने की आज्ञा दी।

स्वर्णकारों ने बहुत प्रयत्न किया पर वे कुंडल को जोड़ने में असमर्थ रहे। तब क्रुद्ध महाराजा ने उन समस्त स्वर्णकारों को देश निकाले का आदेश दिया। स्वर्णकार काशी देश की राजधानी वाराणसी पहुँचे। वहाँ के राजा को बहुमूल्य उपहार भेंटकर कहने लगे—"स्वामी! हमलोगों को मिथिला नगर के कुंभ राजा ने देश निष्कासन की आज्ञा दी है। वहाँ से निर्वासित होकर हमलोग यहाँ आये हैं। हमलोग आपकी छत्र-छाया में निर्भय होकर सुखपूर्वक रहने की इच्छा करते हैं।"

काशी-नरेश ने स्वर्णकारों से पूछा—"कुंभ राजा ने आपको देश निकाले की आज्ञा क्यों दी?" स्वर्णकारों ने उत्तर दिया—"स्वामी! कुंभ राजा की पुत्री मल्लिकुमारी का कुंडल युगल टूट गया। हमें जोड़ने का काम सौंपा गया किन्तु हम लोग उसके संधिभाग को जोड़ नहीं सके, जिससे रुष्ट हो महाराजा ने देश निकाले की आज्ञा दी है।"

दूत ने महाराज की आज्ञा शिरोधार्य कर मिथिला की ओर प्रस्थान किया।

तत्कालीन पांचाल देश की राजधानी कांपिल्यपुर थी। यहाँ का राजा जितशत्रु था। उसकी धारणी प्रमुख हजार रानियाँ थीं।

एक समय चोक्षा नामकी परिव्राजिका मिथिला नगरी में आई। वह ऋग्वेद आदि षष्ठी तंत्र की ज्ञाता थी। वह दान-धर्म, शौच धर्म, तीर्थाभिषेक-धर्म की प्ररूपणा किया करती थी।

एक दिन वह मल्लिकुमारी के पास आकर शुचि धर्म का उपदेश करने लगी। उसने बताया कि उसके धर्मानुसार अपवित्र वस्तु की शुद्धि जल और मिट्टी से होती है। मल्लिकुमारी ने कहा "परिव्राजिके! रुधिर से लिप्त वस्त्र को रुधिर से धोने पर क्या उसकी शुद्धि हो सकती है?" इस पर परिव्राजिका ने कहा—"नहीं।" मल्ली बोली—"इसी प्रकार हिंसा से हिंसा की (पाप स्थानों की) शुद्धि नहीं हो सकती।" मल्लिकुमारी का युक्तिपूर्ण वचन सुनकर चोक्षा परिव्राजिका निरुत्तर हो गई। इसपर मल्लिकुमारी की दासियों ने उसका परिहास किया। कुछ ने गला पकड़कर उसको बाहर निकाल दिया।

चोक्षा परिव्राजिका क्रोधित हो मिथिला छोड़कर अपनी शिष्याओं के साथ शुचि धर्म का उपदेश करती हुई कांपिल्यपुर आई। एक दिन वह यहाँ के महाराजा के महल में गई और वहाँ जाकर उसने दान धर्म, शुचि धर्म एवं तीर्थाभिषेक-धर्म का प्रतिपादन किया।

महाराजा अपने अन्तःपुर की रानियों के रूप-सौन्दर्य से विस्मित थे। महाराजा ने पूछा—"परिव्राजिके! तुम अनेक ग्राम-नगरों में घूमती हो, राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों के मकानों में प्रवेश करती हो। मेरे जैसा अन्तःपुर तुमने कहीं देखा है?" परिव्राजिका ने कहा—"राजन्! आप कूपमंडूक प्रतीत होते हैं। आपने दूसरों की पुत्र-वधुओं भार्याओं, पुत्रियों को नहीं देखा, इसीलिए ऐसा कहते हैं। मैंने मिथिला नगर के विदेहराज की श्रेष्ठ कन्या मल्लिकुमारी का जो रूप देखा है वैसा रूप किसी देवकुमारी या नागकन्या का भी नहीं।"

मल्लि के रूप की प्रशंसा सुनकर कांपिल्यपुर के महाराज ने भी मल्लिकुमारी की मगनी के लिए मिथिला नगर को दूत भेजा।

राजदूतों ने आकर अपने-अपने स्वामियों की माँग कुंभ राजा के सामने पेश की। राजा कुंभ ने सबके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

विवाह के लिए आये हुए प्रस्तावों की बात मल्लि के पास पहुँची। उसने विचार किया हो न हो ये राजा क्रोध के आवेश में उसके पिता पर चढ़ाई किये बिना नहीं रहेंगे। यह सोचकर कामान्ध हुए इन राजाओं को शान्त कर सुमार्ग पर लाने के लिए उसने एक युक्ति सोच निकाली।

अपने महल के एक सुन्दर विशाल भवन में उसने अपनी एक मूर्ति बनवाकर रखवाई। यह मूर्ति सोने की बनी हुई थी। यह भीतर से पोली एवं सिर पर पद्माकार ढक्कन से ढकी हुई थी। देखने में यह मूर्ति इतनी सुन्दर थी मानो साक्षात् मल्लि ही आकर खड़ी हो।

राजकुमारी नित्यप्रति इस मूर्ति के पेट में सुगन्धित खाद्य-पदार्थ डालने लगी। ऐसा करते-करते जब यह मूर्ति भीतर से सम्पूर्ण भर गई तो मल्लि ने उसे ढक्कन से मजबूती के साथ ढँक दिया।

इधर राजदूत अपने अपने स्वामियों के पास वापस आए और राजा कुंभ से मिले हुए निराशाजनक उत्तर को कह सुनाया। उत्तर सुनकर वे बहुत कुपित हुए और सब ने राजा कुम्भ पर चढ़ाई करने का विचार ठान लिया। यह जानकर राजा कुम्भ ने भी युद्ध की तैयारी शुरू कर दी। थोड़े दिनों में ही भयङ्कर युद्ध छिड़ गया। कुम्भ अकेला था इसलिए पूरा मुकाबला नहीं कर सकता था, फिर भी जरा भी हताश न होकर उसने युद्ध जारी रखा। वह रात दिन इस चिंता में रहने लगा कि शत्रुओं पर कैसे विजय मिले?

दूसरी ओर इस नर संहारकारी महा भयकर युद्ध को देखकर मल्लि ने अपने पिता से विनती की—"मेरे लिए एक दूसरा लड़ाई को बढ़ाने की जरूरत नहीं है। अगर आप एक बार इन सब राजाओं को मेरे पास आने दें तो मैं उन्हें समझा कर निश्चय ही शान्ति स्थापित करवा दूँ।"

राजा कुंभ ने अपने दूतों के द्वारा मल्लि का सन्देश राजाओं के पास भेज दिया। यह सन्देश मिलते ही राजाओं ने संतुष्ट होकर अपनी अपनी सेनाओं को रण क्षेत्र से हटा लिया। उनके आने पर, जिस कमरे में मल्लि की सुवर्ण मूर्ति अवस्थित थी, उसीमें उनको अलग-अलग बैठाया गया।

राजाओं ने इस मूर्ति को ही साक्षात् मल्लि समझा और उसके सौंदय को देखकर और भी अधिक मोहित हो गए। बाद में वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर राजकुमारी मल्लि जब उस कमरे में आई, तभी उनको होश हुआ कि यह मल्लि नहीं परन्तु उसकी मूर्ति मात्र है। वहाँ आकर राजकुमारी मल्लि ने बैठने के पहले मूर्ति के ढक्कन को हटा दिया। ढक्कन दूर करते ही मूर्ति के भीतर से निकलती हुई तीव्र दुर्गन्ध से समस्त कमरा एकदम भर गया। राजा लोग घबड़ा उठे और सब ने अपनी-अपनी नाक बन्द कर ली।

राजाओं को ऐसा करते देख मल्लि नम्र भाव से बोली—"हे राजाओ। तुम लोगों ने अपनी नाकें क्यों बन्द कर ली? जिस मूर्ति के सौंदर्य को देखकर तुम मुग्ध हो गये थे उसी मूर्ति में से यह दुर्गन्ध निकल रही है। यह मेरा सुन्दर दिखाई देनेवाला शरीर भी इसी तरह लोही, रुधिर, थूक, मूत्र और विष्ठा आदि घृणोत्पादक वस्तुओं से भरा पड़ा है। शरीर में आनेवाली अच्छी से अच्छी सुगन्धवाली और स्वादिष्ट वस्तुएँ भी दुर्गन्धयुक्त विष्ठा बन कर बाहर निकलती हैं। तब फिर इस दुर्गन्ध से भरे हुए और विष्टा के भाण्डार-रूप इस शरीर के बाह्य सौंदर्य पर कौन विवेकी पुरुष मुग्ध होगा?"

मल्लि की मार्मिक बातों को सुनकर सब के सब राजा लज्जित हुए और अधोगति के मार्ग से बचानेवाली मल्लि का आभार मानते हुए कहने लगे—"हे देवानुप्रिये। तू जो कहती है वह बिलकुल ठीक है। हमलोग अपनी भूल के कारण अत्यन्त पछता रहे हैं।"

इसके बाद मल्लि ने फिर उनसे कहा —"हे राजाओ। मनुष्य के काम-सुख ऐसे दुर्गन्धयुक्त शरीर पर ही अवलम्बित हैं। शरीर का यह बाहरी सौंदर्य भी स्थायी नहीं है। जब यह शरीर जरा से अभिभूत होता है तब उसकी कांति बिगड़ जाती है चमड़ी निस्तेज होकर ढीली पड़ जाती है मुख से लार टपकने लगती है और सारा शरीर थर-थर काँपने लगता है। हे देवानुप्रियो। ऐसे शरीर से उत्पन्न होनेवाले काम सुखों में कौन आसक्ति रखेगा और कौन उनमें मोहित होगा?"

"हे राजाओ। मुझे ऐसे काम-सुखों में जरा भी आसक्ति नहीं है। इन सब सुखों को त्याग कर मैं दीक्षा लेना चाहती हूँ। आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर संयम पालन द्वारा, चित्त में रही हुई काम क्रोध मोह आदि असद्वृत्तियों को निर्मूल करने का मैंने निश्चय कर लिया है। इस सम्बन्ध में तुमलोगों के क्या विचार है सो मुझे बताओ?"

यह बात सुनकर राजाओं ने बहुत नम्र भाव से उत्तर दिया—हे देवानुप्रिये। तुम्हारा कहना ठीक है। हम लोग भी तुम्हारी ही तरह काम-सुख छोड़कर प्रव्रज्या लेने के लिए तैयार हैं।"

मल्लि ने उनके विचारों की सराहना की और उन्हें एकबार अपनी-अपनी राजधानी में जाकर अपने-अपने पुत्रों को राज्यभार सौंपकर तथा दीक्षा के लिए उनकी अनुमति लेकर वापस आने के लिए कहा।

यह निश्चय हो जाने पर मल्लि सब राजाओं को लेकर अपने पिता के पास आई। वहाँ पर सब राजाओं ने अपने अपराध के लिए कुम्भ राजा से क्षमा माँगी। कुम्भ राजा ने भी उनका यथेष्ट सत्कार किया और सबको अपनी अपनी राजधानी की ओर विदा किया।

राजाओं के चले जाने के बाद मल्लि ने प्रव्रज्या ली। राजकुमारी होने पर भी वह ग्राम ग्राम विहार करने लगी और भिक्षा में मिले हुए रूखे-सूखे अन्न द्वारा अपना निर्वाह करने लगी। मल्लि की इस दिनचर्या को देखकर दूसरी अनेक स्त्रियों ने भी उसके पास दीक्षा लेकर साधु-मार्ग अङ्गीकार किया।

वे सब राजा लोग भी अपनी-अपनी राजधानी में जाकर अपने पुत्रों को राज्य-भार सौंपकर वापस मल्लि के पास आए और प्रव्रजित हुए।

मल्लि तीर्थकर हुई और प्राणियों के उत्कर्ष के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करने लगी। उपरोक्त छः राजा भी उसके आजीवन सहचारी रहे।

इस प्रकार मगध देश में विहार करती हुई मल्लि ने अपना अन्तिम जीवन बिहार में आए हुए सम्मेत पर्वत पर बिताया और अजरामरता का मार्ग साधा।

मल्लि का जीवन विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए स्त्री-जीवन का एक अनुपम चित्र है।

महारानी मृगावती

[इसका संबन्ध ढाल ३ गाथा ८ (पृ० १९) के साथ है]

कोशाम्बी नगरी में शतानिक नाम के राजा राज्य करते थे। रूप-लावण्य-सम्पन्ना मृगावती उनकी पटरानी थी। वह भगवान् महावीर की परम उपासिका थी।

एक समय एक वृद्ध चित्रकार राजसभा में आया। महाराजा ने उसकी चित्रकला पर प्रसन्न होकर उसे चित्र शाला को चित्रित करने का काम सौंपा। चित्रकारी करते हुए चित्रकार की दृष्टि पर्दे के अन्दर की महारानी मृगावती के अँगूठे पर पड़ी। केवल अँगूठे को देखकर उसने महारानी मृगावती का सम्पूर्ण चित्र बना लिया। चित्रशाला को सुन्दर चित्रों से चित्रित करने का कार्य पूरा हुआ। एकबार महाराजा स्वयं चित्रकारी को देखने के लिए चित्रशाला में आये। वहाँ मृगावती के चित्र को देखा। मृगावती के जंघा पर काला तिल चित्रित देखकर महाराजा का मन शंका-ग्रस्त हो गया। वे बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने चित्रकार के शिरोच्छेद का आदेश दिया। चित्रकार के बहुत अनुनय-विनय करने पर और देव-वरदान की बात कहने पर महाराजा ने उसका अंगूठा कटवाकर उसके देश निकाले का आदेश दे दिया।

क्रुद्ध चित्रकार ने वहाँ से निकल कर महारानी मृगावती का पुनः वैसा ही चित्र बनाया और अवन्ति के महाराजा चण्डप्रद्योतन को भेंट किया। चण्डप्रद्योतन अपूर्व सुन्दरी मृगावती के चित्र को देख उसपर आसक्त हो गया।

चण्डप्रद्योतन ने शतानिक के पास दूत भेजकर मृगावती की माँग की। महाराजा शतानिक ने इस घृणित माँग को ठुकरा दिया और दूत का अपमान कर उसे निकाल दिया। चण्डप्रद्योतन ने जब यह समाचार सुना तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और अपनी सेना सजाकर शतानिक पर चढ़ाई करने के लिए रवाना हो गया। इधर शतानिक ने भी युद्ध की तैयारी कर ली। अंतत दोनों पक्षों में भयंकर युद्ध हुआ। महाराजा शतानिक की मृत्यु अतिसार हो जाने से हो गई। मृगावती विधवा हो गई। सारी कोशाम्बी में शोक छा गया।

शतानिक की मृत्यु से चण्डप्रद्योतन अत्यन्त प्रसन्न हुआ। शतानिक के एक पुत्र था। उसका नाम था उदायन किन्तु राजकुमार की उम्र छोटी थी। शोक के बारह दिन व्यतीत होनेपर महारानी मृगावती ने मंत्रियों को बुलाकर पुनः युद्ध की तैयारी के लिए राय माँगी। मंत्रियों ने कहा—"महारानी जी। चण्डप्रद्योतन बहुत उग्र है। उसकी विशाल सेना के सामने हम ज्यादा दिन ठहर नहीं सकते। चण्डप्रद्योतन को हमें अन्य उपाय से ही जीतना चाहिए।" तब विदुषी महारानी ने एक उपाय सोचा। अपने खास दूत को बुलाकर मंत्रियों की सलाह से चण्डप्रद्योतन को महारानी ने कहला भेजा—"महारानी मृगावती आपके प्रस्ताव को स्वीकार करती है किन्तु उनकी एक शर्त है। पति की मृत्यु से वे शोक-विह्वल हैं। उनका पुत्र भी अभी बालक है। शोक से निवृत्त होने के बाद महारानी आपसे अपने पुत्र का राज्याभिषेक कराना चाहती हैं। अतः बाहरी शत्रुओं से बचने के लिए तथा राजकुमार की सुरक्षा के लिए एक दृढ़ किला बनवा दें और नगरी को धन धान्य से पूरित कर राजपुत्र को राजगद्दी पर बैठा दें। इसके बाद महारानी आपकी आज्ञा का पालन करने को तैयार रहेंगी।"

दूत से महारानी का सन्देश सुनकर चण्डप्रद्योतन बहुत प्रसन्न हुआ। महारानी की इच्छानुसार उसने एक दृढ़ दुर्ग बना दिया एवं उसको धन धान्य से पूरित कर दिया। पुत्र के राज्याभिषेक के बहाने युद्ध की समस्त तैयारी कर महारानी ने किले के फाटक बन्द करवा दिए।

इधर चण्डप्रद्योतन ने दूत से पुनः कहलवा भेजा कि महारानी अपनी की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार उसके महल में चली आवे। जब दूत कोशाम्बी आया और उसने युद्ध की पूर्ण तैयारी देखी तो वह वापस चला आया और राजा को खबर दी कि वहाँ तो युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं। किले के फाटक बन्द करवा दिये गये हैं। महारानी प्रस्ताव स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।

जब चण्डप्रद्योतन ने यह सुना तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और अपनी विशाल सेना सजाकर कोशाम्बी को पूर्ण रूप से विध्वस्त करने की प्रतिज्ञा कर वहाँ पहुँचा और नगरी को सेनाओं से घेर लिया।

इधर श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए कोशाम्बी नगरी के बाहर उद्यान में ठहरे। मृगावती को जब यह ज्ञात हुआ तब उसकी प्रसन्नता का पारावार न रहा। उसने अपनी सेना को युद्ध बन्द कर देने का आदेश दिया। कोशाम्बी के दरवाजे खुलवा दिये और सबको निर्भीक होकर भगवान् के दर्शन करने का आदेश दिया। महारानी मृगावती अपने समस्त नगरवासियों के साथ भगवान् महावीर के समवशरण में पहुँची। राजा चण्डप्रद्योतन ने भी जब भगवान् के पदार्पण की खबर सुनी तो उन्होंने भी युद्ध बन्द करने का आदेश दिया और वे भी भगवान् के समवशरण में पहुँचे।

भगवान् महावीर की वाणी सुनकर चण्डप्रद्योतन का विषय मद उतरा और वह अपने किये हुए कार्यों का पश्चात्ताप करने लगा। इधर महारानी मृगावती ने भगवान् से निवेदन किया—"भगवन्! मैं आप से प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती हूँ। चण्डप्रद्योतन महाराज मुझे आज्ञा प्रदान करें।" मृगावती के इस वचन से चण्डप्रद्योतन बड़ा प्रभावित हुआ। वह बोला—"देवी! तुम धन्य हो। तुम्हारा जीवन धन्य है। मैं आज से प्रतिज्ञा करता हूँ कि उदायन मेरा छोटा भाई रहेगा। मैं उसके राज्य-संरक्षण की जिम्मेवारी लेता हूँ।"

महारानी मृगावती ने उदायन का राज्याभिषेक करवाकर आर्या चन्दनबाला के पास दीक्षा धारण की। महाराजा चण्डप्रद्योतन की आठ रानियों ने भी पति की आज्ञा ले भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की। चण्डप्रद्योतन ने महासती मृगावती को नमस्कार किया और अपराध की क्षमा-याचना कर अपनी राजधानी को लौट गया।

*

कथा—१८ :

द्रौपदी

[इसका संबन्ध खण्ड ३ गा० १० (पृ० २०) के साथ है]

एक दिन पाण्डुराज पाँच पाण्डव, कुन्ती देवी, द्रौपदी देवी, तथा अन्तःपुर के अन्य परिवार से संपरिवृत हो सिंहासन पर बैठे हुए थे। उस समय कच्छुल्ल नारद, जो देखने में तो अति भद्र और विनीत लगते थे, पर अन्दर कलुषहृदयी थे विद्या के सहारे आकाश में उड़ते हुए, आकाश का उल्लंघन करते हुए, सहस्रों ग्राम, आकर, नगर, खेट, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन और सम्बाधन द्वारा शोभित और व्याप्त मेदिनी तल—वसुधा को देखते हुए हस्तिनापुर पहुँचे और अत्यधिक वेग से पाण्डुराज के भवन में उतरे।

नारद को आते देखकर पाण्डुराज ने पाँच पाण्डव और कुन्ती देवी सहित आसन से उठ सात-आठ कदम सम्मुख जा, तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार किया और महापुरुष के योग्य आसन से उन्हें उपमंत्रित किया।

नारद जल के छींटे दे दर्भ बिछा, आसन डाल, उस पर बैठे और पाण्डु राजा से उसके राज्य यावत् अन्तःपुर सम्बन्धी कुशल-समाचार पूछने लगे।

पाण्डुराज कुन्ती देवी और पाँच पाण्डवों के साथ नारद का आदर-सत्कार कर उनकी पर्युपासना करने लगे। केवल द्रौपदी ने नारद को असंयत अविरत, अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा जान न तो उनका आदर किया, न उनका सम्मान किया, न खड़ी हुई और न उनकी पर्युपासना की।

नारद सोचने लगे—"द्रौपदी अपने रूप-लावण्य के कारण और पाँच पाण्डवों को अपने पति-रूप में पाकर गर्विष्ठा हो गई है और इसी कारण मेरा आदर नहीं करती। अतः इसका अप्रिय करना ही मेरी समझ से श्रेयस्कर होगा। ऐसा विचार, पाण्डुराज से पूछकर, आकाशगामिनी विद्या का स्मरण कर उत्कृष्ट विद्याधर की गति से आकाश-मार्ग में चलने लगे और लवण-समुद्र के बीचोंबीच से पूर्व दिशा की ओर मुड़कर आगे बढ़ने लगे।

उस समय धातकी खण्डद्वीप की पूर्व दिशा के मध्य दक्षिणार्द्ध भरतक्षेत्र में अमरकंका नाम की राजधानी थी। वहाँ पद्मनाभ नाम का एक राजा था। एक दिन वह अपनी सात सौ देवियों से संपरिवृत हो अन्तःपुर में सिंहासन पर बैठा था। उसी समय नारद उड़ते उड़ते सीधे उसके राजभवन में आकर उतरे। पद्मनाभ राजा ने उनका आदर-सत्कार किया, अर्घ्य से उनकी पूजा की और उन्हें आसन से उपमंत्रित किया। नारद ने कुशल समाचार पूछे।

राजा पद्मनाभ अपनी रानियों के परिवार के प्रति विस्मयोत्सुक हो नारद से पूछने लगा :"हे देवानुप्रिय। आप अनेक ग्राम यावत् घरों में प्रवेश करते हैं। क्या आपने जैसा मेरी रानियों का परिवार है वैसा अन्यत्र भी पहिले कहीं देखा है ?" नारद पद्मनाभ की बात सुन किंचित् हँसकर बोले—"पद्मनाभ ! तू कूप मण्डूक के सदृश है। देवानुप्रिय ! जम्बुद्वीप के भारतवर्ष में हस्तिनापुर नामक नगर है। वहाँ द्रुपद राजा की पुत्री चुलना देवी की आत्मजा पाण्डुराज की पुत्रवधू और पाँच पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी देवी है। वह रूप, लावण्य में उत्कृष्ट है। तेरा रानी समूह उसके छेदे हुए पग के अँगूठे के सौवें हिस्से की बराबरी करने योग्य भी नहीं है।

इसके बाद पद्मनाभ राजा से पूछ नारद वहाँ से चल पड़े।

नारद से प्रशंसा सुन पद्मनाभ राजा द्रौपदी के रूप यौवन लावण्य में मूर्च्छित गृद्ध, लुब्ध हो, उसकी प्राप्ति

१—ज्ञातासूत्र के १६ वें अध्याय के आधार पर।

के लिए आतुर हो गया। उसने इष्ट देवता का स्मरण किया। देव सुप्त द्रौपदी को पद्मनाभ राजा की अशोक वाटिका में उठा लाया।

पद्मनाभ द्रौपदी को सोच करते देख बोला—"देवानुप्रिये। तुम मन के संकल्पों से आहत न बनो। किसी प्रकार की चिन्ता न करो। मेरे साथ विपुल काम भोग भोगती हुई रहो।" इस पर द्रौपदी ने कहा—"मैं छ मास कृष्ण वासुदेव की राह देखूँगी। अगर वे नहीं आयेंगे तो मैं आपकी इच्छा के अनुसार वर्तूंगी।"

अब द्रौपदी छठ-छठ का तप करती हुई कन्याओं के अन्तःपुर में रहने लगी।

पाण्डु राजा जब किसी भी तरह द्रौपदी का पता नहीं लगा सके तब कुन्ती देवी को कृष्ण वासुदेव के पास द्रौपदी का पता लगाने के लिए भेजा। कुन्ती देवी पाण्डु राजा की आज्ञा प्राप्त कर हाथी पर आरूढ़ हो द्वारवती पहुँची और उद्यान में ठहरीं। जब कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा कृष्ण वासुदेव को कुन्ती के आगमन का समाचार मिला तो वे स्वयं कुन्ती से मिलने उद्यान में गये। कुन्ती देवी को नमस्कार कर उसे साथ ले अपने आवास आये। भोजन हो चुकने के पश्चात् कृष्ण ने कुन्ती देवी से उनके आने का प्रयोजन पूछा। कुन्ती बोली "पुत्र। युधिष्ठिर के साथ द्रौपदी सुख पूर्वक सो रही थी। जागने पर वह दिखाई नहीं दी। न जाने किस देव, दानव, किंपुरुष, गन्धर्व ने उसका अपहरण किया है। पुत्र। मैं चाहती हूं तुम स्वयं द्रौपदी देवी की मार्गणा—गवेषणा करो, अन्यथा उसका पता लगाना संभव नहीं। कृष्ण बोले "पितृभगिनी। मैं द्रौपदी देवी का पता लगाऊँगा। उसके श्रुति, क्षुति प्रवृत्ति का पता लगते ही वह जहाँ कहीं भी हो उसको मैं स्वयं अपने हाथों ले आऊँगा। इस प्रकार कुन्ती देवी को आश्वासन दे उसको आदर सत्कार पूर्वक विदा किया। कृष्ण ने अपने सेवकों को द्रौपदी का पता लगाने के लिए चारों ओर भेज दिया।

एक दिन कृष्ण वासुदेव अपनी रानियों के साथ बैठे हुए थे इतने में कच्छुल्ल नारद वहाँ आये। कृष्ण ने उनसे पूछा "आप अनेक स्थानों में जाते हैं। क्या आपने कहीं द्रौपदी की भी बात सुनी?" नारद बोले—"देवानुप्रिय। एक बार मैं धातकी खण्ड के पूर्व दिशा के मध्य दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में अमरकंका राजधानी में गया था। वहाँ पद्मनाभ राजा के राज भवन में मैंने द्रौपदी को देखा।" कृष्ण बोले—"लगता है यह आप देवानुप्रिय का ही कर्म है।" कृष्ण के ऐसा कहने पर कच्छुल्ल नारद आकाश मार्ग से चल दिये।

कृष्ण ने दूत बुलाकर उसे कहा "तुम हस्तिनापुर जाकर राजा पाण्डु से निवेदन करो "द्रौपदी देवी का पता लग गया है। पाँचों पाण्डव चतुरंगिणी सेना से संपरिवृत हो पूर्व की दिशा के वैतालिक समुद्र के तीर पर पहुँचे और वहाँ मेरी बाट जोहते हुए रहें।

कृष्ण वासुदेव ५६ हजार योद्धाओं को साथ वैतालिक समुद्र के किनारे पर पांडवों से मिले और वहीं स्कन्धावार—छावनी स्थापित की।

कृष्ण ने अपनी समस्त सेना को विसर्जित किया और आप स्वयं पाँच पाण्डवों सहित छ रथों में बैठ लवण समुद्र के बीचोबीच जाते हुए आगे बढ़े और जहाँ अमरकंका राजधानी थी जहाँ नगरी का अग्र उद्यान था वहाँ रथ को ठहराया। फिर अपने दारुक नामक सारथी को बुलाकर बोले "जाओ अमरकंका के महाराज पद्मनाभ से कहो कि तुमने कृष्ण वासुदेव की बहन द्रौपदी का अपहरण किया है। यह बहुत बुरा किया फिर भी अगर जीवित रहना चाहते हो तो द्रौपदी को कृष्ण वासुदेव के हाथों में सौंप दो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।"

सारथी कृष्ण वासुदेव की आज्ञानुसार पद्मनाभ के पास पहुँचा और हाथ जोड़ उसे जय विजय शब्द से बधा कृष्ण वासुदेव का सन्देश कह सुनाया।

पद्मनाभ सारथी द्वारा सुनाये गये सन्देश से अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और भृकुटी चढ़ा बोला—"म कृष्ण वासुदेव को

द्रौपदी नहीं दूँगा। मैं स्वयं युद्ध के लिए सज्जित होकर आ रहा हूँ।" ऐसा कह उसने सारथी का अपमान कर उसे पिछले द्वार से निकाल बाहर किया।

दारुक ने वापस आ सारी बात कृष्ण से कही। कृष्ण वासुदेव ने शस्त्र सज्ज हो युद्ध के लिए प्रस्थान कर दिया। इधर पद्मनाभ भी अपनी चतुरंगी सेना के साथ युद्ध भूमि में आया। दोनों में भयंकर संग्राम हुआ। संग्राम में पद्मनाभ की सेना कृष्ण के सामने नहीं टिक सकी। वह हारकर चारों ओर भागने लगी। पद्मनाभ सामर्थ्य हीन हो गया। अपने को असमर्थ जान वह शीघ्रता से अमरकंका राजधानी की ओर भागा और उसने नगर में प्रवेश कर नगर के फाटक बन्द करवा दिये।

कृष्ण वासुदेव ने उसका पीछा किया और नगर के दरवाजों को तोड़ अन्दर घुसे। महा शब्द के साथ उनके पाद प्रहार से नगर के प्राकार, गोपुर अट्टालिकाएँ, चरिय तोरण आदि सब गिर पड़े। पद्मनाभ के श्रेष्ठ महल भी चारों ओर से विशीर्ण हो, पृथ्वी पर धँस पड़े।

पद्मनाभ राजा भयभीत होगया और द्रौपदी देवी के पास आ उसके चरणों में गिर पड़ा।

द्रौपदी बोली "क्या तुम अब जान गये कि कृष्ण वासुदेव जैसे उत्तम पुरुष के साथ अप्रिय करके मुझे यहाँ लाने का क्या नतीजा है? और अब भी तुम शीघ्र जाओ, स्नान कर गीले वस्त्र पहन, वस्त्र का एक पल्ला खुला छोड़, अंतपुर की रानियों आदि के साथ प्रधान श्रेष्ठ रत्नों की भेंट साथ ले मुझे आगे रख कृष्ण वासुदेव को हाथ जोड़ उनके चरण में पड़, उनकी शरण ग्रहण करो।

पद्मनाभ द्रौपदी के कथानुसार कृष्ण वासुदेव के शरणागत हुआ। वह हाथ जोड़ पैरों में गिर कर बोला: "हे देवानुप्रिय। मैं आपकी ऋद्धि से लेकर अपार पराक्रम को देख चुका। मैं आपसे क्षमा याचना करता हूँ। मुझे क्षमा करें। मैं पुनः ऐसा काम नहीं करूँगा।" ऐसा कह हाथ जोड़ उसने कृष्ण वासुदेव को द्रौपदी देवी को सौंप दिया। कृष्ण बोले—"हे अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले पद्मनाभ। क्या तू नहीं जानता कि तू मेरी बहन द्रौपदी को यहाँ ले आया है? फिर भी अब तुझे भय करने की जरूरत नहीं।"

कृष्ण द्रौपदी के साथ रथ पर आरूढ़ हो जहाँ पाँचों पाण्डव थे वहाँ आये और अपने हाथों से द्रौपदी को पाँच पाण्डवों को सौंप दिया।

*

सम्भूत चक्रवर्ती [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ४ गाथा ८ (पृ० २४) के साथ है]

वाराणसी नगरी में भूदत्त नामका चाण्डाल रहता था। उसके दो पुत्र थे। एक का नाम था चित्त और दूसरे का सम्भूति। वहाँ शंख नाम के राजा राज्य करते थे। उनके नमूची नाम का प्रधान था। किसी अपराध के कारण शंखराजा ने नमूची के प्राण-वध का हुक्म दिया और उसे वध के लिए भूदत्त चाण्डाल को सौंप दिया। नमूची के अधिक अनुनय-विनय करने पर भूदत्त चाण्डाल के दिल में करुणा आई और उसने कहा—"मैं तुझे तभी मुक्त कर सकता हूँ जब तू मेरे दोनों पुत्रों को, जो भूमिगत हैं, पढ़ाना स्वीकार करेगा। नमूची ने भूदत्त की बात स्वीकार कर ली और दोनों को पढ़ाने लगा। कालान्तर में नमूची ने दोनों पुत्रों को विविध कलाओं में प्रवीण कर दिया।

एक दिन नमूची ने चाण्डाल की पत्नी से व्यभिचार किया। जब दोनों पुत्रों को यह ज्ञात हुआ तब उन्होंने कहा—"आप यहाँ से भाग जाइए अन्यथा यह बात हमारे पिता को मालूम हुई तो वे आपको मार डालेंगे।" नमूची वहाँ से भाग कर हस्तिनापुर आया और वहाँ के चक्रवर्ती महाराजा सनतकुमार का प्रधान मन्त्री बन गया।

इधर दोनों ही चाण्डाल-पुत्र नगर में गायन करने लगे। उनके मधुर गान से स्त्री-पुरुष मुग्ध होने लगे। अनेक युवतियाँ उनके पास आने लगीं। यहाँ तक की स्पर्शास्पर्श का भी विचार नहीं रहा। इससे नगर के प्रतिष्ठित लोगों ने राजा से शिकायत की। तब राजा ने उन्हें नगर से बाहर निकलवा दिया। इस तरह अपमानित हो उन्होंने अपघात करने का निश्चय किया। वे अपघात करने के लिए पहाड़ी पर चढ़े। वहाँ पहले ही कोई मुनि तप कर रहे थे। उन्होंने दोनों चाण्डाल-पुत्रों को अपघात करते देख उपदेश दिया। मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर उन्होंने वहीं दीक्षा स्वीकार की और उग्र तप करने लगे।

एक समय वे विचरते-विचरते हस्तिनापुर आये। किसी समय 'मास खमन' के पारण के दिन वे भिक्षार्थ नगर में भ्रमण कर रहे थे। भ्रमण करते हुए मुनिवरों को नमूची ने देखा और पहचान लिया।

अपनी पोल खुल जायगी इस भय से नमूची ने दोनों मुनियों को अपने सेवकों से मार-पीट कर उन्हें बाहर निकाल दिया। वहाँ से अपमानित होकर दोनों मुनियों ने अनशन कर लिया। तप के प्रभाव से सम्भूति मुनि को तेजोलेश्या उत्पन्न हुई। क्रोध के आवेश में मुनि ने लब्धि के प्रभाव से सारे नगर को धूम्र-बादलों से भर दिया। धूम्र से सारे नगर को आच्छादित देखकर नगर की सारी जनता एवं सनतकुमार चक्रवर्ती भयभीत हुए। सनतकुमार चक्रवर्ती अपनी रानी श्रीदेवी का साथ ले मुनि से क्षमा-याचना के लिए नगर के बाहर आये और मुनिवरों से बार-बार क्षमा-याचना करने लगे। श्रीदेवी ने भी मस्तक नवाकर मुनिवरों के चरण-स्पर्श किये। श्रीदेवी के सुन्दर केशों के शीतल स्पर्श से सम्भूति का मन विचलित हो गया। श्रीदेवी के अपूर्व रूप-लावण्य पर मुग्ध हो उन्होंने 'नियाना' किया—"अगर मेरी तपश्चर्या का फल मिले तो दूसरे भव में मैं चक्रवर्ती बनूँ। मत में वे बिना आलोचना के आयु पूर्ण कर देवलोक गये।

वहाँ से च्यवकर सम्भूति का जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना। नियाने के कारण वह तप—संयम की आराधना नहीं कर सका और काम-भोगों में आसक्त बना। वह मर कर सातवीं नरक में गया।

---

[1]—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १३ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर

राजीमती और रथनेमि

[इसका सम्बन्ध अध्य ५ गाथा ९ (पृ० ३०) के साथ है]

दीक्षा लेने के बाद राजीमती एक बार रैवतक पर्वत की ओर जा रही थी। राह में मूसलधार वर्षा होने से राजीमती के वस्त्र भींग गए और उसने पास ही की एक अन्धेरी गुफा में आश्रय लिया। वहाँ एकान्त समझ कर राजीमती ने अपने समस्त वस्त्र उतार डाले और सूखने के लिए फैला दिए।

समुद्रविजय के पुत्र और अरिष्टनेमि के छोटे भाई रथनेमि प्रव्रजित होकर उसी गुफा में ध्यान कर रहे थे। राजीमती को सम्पूर्ण नग्न अवस्था में देखकर उनका मन चलित हो गया। इतने में एकाएक राजीमती की भी दृष्टि उनपर पड़ी। उन्हें देखते ही राजीमती सहमी। वह भयभीत होकर काँपने लगी और बाहुओं से अपने अंगों को गोपन करती हुई जमीन पर बैठ गई।

राजीमती को भयभीत देखकर काम विह्वल रथनेमि बोले—"हे सुरूप। हे चारुभाषिणी। मैं रथनेमि हूँ। हे सुतनु! तू मुझे अंगीकार कर। तुझे जरा भी संकोच करने की जरूरत नहीं। आओ! हम लोग भोग भोगें। यह मनुष्य-भव बार-बार दुर्लभ है। भोग भोगने के पश्चात् हम लोग फिर जिन-मार्ग ग्रहण करेंगे।"

राजीमती ने देखा कि रथनेमि का मनोबल टूट गया है और वे वासना से हार चुके हैं तो भी उसने हिम्मत नहीं हारी और अपने बचाव का रास्ता करने लगी। संयम और व्रतों में दृढ़ होती हुई तथा अपनी जाति, शील और कुल की लज्जा रखती हुई वह रथनेमि से बोली

"भले ही तू रूप में वैश्रमण सदृश हो, भोगलीला में नल कुबेर हो या साक्षात् इन्द्र हो तो भी मैं तुम्हारी इच्छा नहीं करती।"

"अगंधन कुल में उत्पन्न हुए सर्प जाज्वल्यमान अग्नि में जलकर मरना पसन्द करते हैं परन्तु वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते।"

"हे कामी। वमन की हुई वस्तु को खाकर तू जीवित रहना चाहता है। इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है। धिक्कार है तुम्हारे नाम को।

"मैं भोगराज (उग्रसेन) की पुत्री हूँ और तू अंधकवृष्णि (समुद्रविजय) का पुत्र है। हमलोगों को गन्धन कुल के सर्प की तरह नहीं होना चाहिए। अपने उत्तम कुल की ओर ध्यान देकर संयम में दृढ़ रहना चाहिए।"

"अगर स्त्रियों को देख-देखकर तू इस तरह प्रेम—राग किया करेगा तो हवा से हिलते हुए हड वृक्ष की तरह चित्त-समाधि को खो बैठेगा।

"जैसे ग्वाला गायों को चराने पर भी उनका मालिक नहीं हो जाता और न भण्डारी धन की रक्षा करने से उनका मालिक होता है वैसे ही तू केवल वेष की रक्षा करने से साधुत्व का अधिकारी नहीं हो सकेगा। इसलिए तू संभल और संयम में स्थिर हो।"

"जो मनुष्य संकल्प विषयों के वश हो, पग-पग पर विषादयुक्त शिथिल हो जाता है, और काम-राग का निवारण नहीं करता वह श्रमणत्व का पालन किस तरह कर सकता है?"

"जो वस्त्र, गंध, अलंकार स्त्री और पलंग आदि भोग-पदार्थों का परवशता से उनके अभाव में सेवन नहीं करता,

वह त्यागी नहीं कहलाता। सच्चा त्यागी तो वह है जो मनोहर और कान्त भोगों के सुलभ होने पर भी उन्हें पीठ दिखाता है—उनका सेवन नहीं करता।"

"यदि समभाव पूर्वक विचरते हुए भी कदाचित् मन बाहर निकल जाय तो यह विचार कर कि यह मेरी नहीं है और न मैं उसका हूँ, मुमुक्षु विषय-राग को दूर करे।"

"आत्मा को कसो, सुकुमारता का त्याग करो, वासनाओं को जीतो, संयम के प्रति द्वेष-भाव को छिन्न करो, विषयों के प्रति राग भाव का उच्छेद करो। ऐसा करने से शीघ्र ही सुखी बनोगे।"

"साध्वी राजीमती के ये मर्मस्पर्शी शब्द सुनकर, जैसे अंकुश से हाथी रास्ते पर आ जाता है वैसे ही रथनेमि का मन स्थिर होगया।

रथनेमि मन, वचन और काया से सुसंयमी और जितेन्द्रिय बने और व्रतों की रक्षा करते हुए जीवन पर्यन्त शुद्ध श्रमणत्व का पालन करते रहे।

इस प्रकार जीवन बिताते हुए दोनों ने उग्र तप किया और दोनों केवली बने और सर्व कर्मों का अन्त कर उत्तम सिद्ध गति को पहुँचे।

जिस प्रकार पुरुष-श्रेष्ठ रथनेमि विषयों से वापस हटे, उसी प्रकार बुद्धिमान, पण्डित और विचक्षण पुरुष विषयों से सदा दूर रहें और कभी विषय-वासना से पीड़ित भी हों तो मन को वापस खींचे।

★

कथा २१ :

रूपीराय

[इसका सम्बन्ध अ० ५ गाथा १० [पृ० ३१) के साथ है]

वसन्तपुर नगर में रूपी नाम की एक राजकुमारी राज्य करती थी। वह पुरुष वेश में रहती थी इसलिए लोग भी उसे पुरुष ही समझते थे।

एक समय कोई श्रेष्ठीपुत्र विवाह करने के लिए वसन्तपुर आया। विवाह होने के बाद वहाँ की रीति के अनुसार, वह भेंट देने के लिए रूपीराय के पास पहुँचा। राजकुमारी उस अत्यन्त रूपवान् श्रेष्ठीपुत्र को देखकर मुग्ध हो गई। उसे एकान्त में बुलाकर परस्पर प्रेम करने का प्रस्ताव रखा। श्रेष्ठीपुत्र को पर-स्त्री का त्याग था। राजकुमारी की यह बात सुनकर वह स्तब्ध रह गया। मन में सोचने लगा—"अगर मैं राजकुमारी के प्रस्ताव को मान लेता हूँ तो मेरा त्याग भंग हो जाता है। अगर नहीं मानता हूँ तो इसका परिणाम मेरे लिए भयंकर भी हो सकता है।" कुछ समय तक वह इसी प्रकार सोचता रहा और कोई बहाना बनाकर घर चला आया। घर जाकर उसने इस विषय पर खूब सोचा। अन्त में अपने व्रत की रक्षा के लिए उसे एक ही मार्ग दीखा, वह था दीक्षा।

श्रेष्ठीपुत्र ने गुरुदेव के पास जाकर दीक्षा ले ली। इधर जब राजकुमारी को यह मालूम हुआ कि श्रेष्ठीपुत्र ने दीक्षा ले ली है तो उसे अत्यन्त दुःख हुआ। उसे श्रेष्ठीपुत्र के बिना एक क्षण भी अच्छा नहीं लगता था। वह सोचने लगी—"श्रेष्ठीपुत्र अब मुझे मिल नहीं सकता और मैं उसके बिना रह नहीं सकती। श्रेष्ठीपुत्र का पाने का एक ही उपाय है। अगर मैं भी दीक्षा ले लूँ तो सम्भव है बार-बार सम्पर्क से वह मेरा बन जाय।" ऐसा सोचकर उसने भी दीक्षा

से ली। रूपी राजकुमारी साध्वी हो गई। रूपी साध्वी का मन सदैव श्रेष्ठीपुत्र में लगा रहता था। अतः वह किसी न किसी बहाने श्रेष्ठीपुत्र के पास आती और उन्हें खूब आसक्त-भाव से देखती। रूपी साध्वी के बार-बार देखते रहने से श्रेष्ठीपुत्र का भी मन उसके प्रति आसक्त हो गया और वह भी अनन्त आसक्ति से रूपी साध्वी को देखने लगा। इस प्रकार परस्पर एक दूसरों को आसक्ति-पूर्ण नेत्रों से देखने के कारण दोनों चक्षु-कुशील हो गये।

एक दिन दोनों को इस प्रकार आसक्तिपूर्ण नेत्रों से देखते हुए अन्य मुनियों ने देख लिया और उनसे पूछा—क्या तुम दोनों का एक दूसरे के प्रति अनुराग है? रूपी साध्वी ने अरिहन्त भगवान् की सौगन्ध खाकर कहा—"इसके प्रति मेरी कोई आसक्ति नहीं ?" श्रेष्ठीपुत्र ने भी इनकार कर दिया। दोनों ने अपने पाप भाव को छिपाने के लिए बहुत बड़ा झूठ बोलकर बहुत कर्म उपार्जन किये। मृत्यु के समय दोनों ने अपने पाप की आलोचना नहीं की। बिना आलोचना किये मरकर अनन्त संसारी बने। इस प्रकार रूपीराय चक्षु-कुशील बनकर करोड़ों भवों में भटका और अनन्त दुःख पाया। रूपीराय करोड़ों भव भ्रमण करती हुई पुनः नट कन्या बनी। श्रेष्ठीपुत्र मर कर वसन्तपुर नगर के सागरदत्त श्रेष्ठी के घर जन्मा जिसका नाम एलाची कुमार रखा गया। आगे की कथा के लिए एलाचीपुत्र की कथा देखिये।

★

कथा—२२ :

एलाचीपुत्र

[इसका सम्बन्ध ढाल ५ गाथा ११ (पृ० ३१) के साथ है]

इलावर्धन एक रमणीय नगर था। वहाँ धनदत्त नामक एक धनाढ्य सेठ रहता था। धारणी उसकी पतिपरायणा पत्नी थी। अनेक मनौतियों के पश्चात् धनदत्त के यहाँ पुत्ररत्न का जन्म हुआ। उसका नाम रखा गया एलाचीपुत्र। उसकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। इसलिए उसने अल्पकाल में ही समस्त कलाओं में दक्षता प्राप्त कर ली।

एक समय उस नगर में नटों का दल आया। वह दल अभिनय-कला में बहुत कुशल था। नगर के मध्य भाग में एक बहुत बड़ा मैदान था। उसी मैदान में बाँस गाड़ कर वे नगरवासियों को अपनी नाट्य-कला दिखाने लगे। दर्शकों की भीड़ लग गई। नगरनिवासियों के साथ एलाचीकुमार भी नाटक देखने के लिए वहाँ पहुँच गया। उस नट के साथ उसकी एक पुत्री थी। वह अतीव सुन्दर थी। उस नाटक में वह भी पार्ट अदा कर रही थी। उस अनन्य सुन्दरी नटकन्या के रूप यौवन व कला को देखकर एलाची कुमार मुग्ध हो गया। उसने मन में प्रतिज्ञा करली—"यदि मैं विवाह करूँगा तो उसीके साथ करूँगा अन्यथा नहीं। नाटक समाप्त हो गया। लोग अपने स्थानों पर जाने लगे किन्तु एलाची कुमार वहीं रह गया। मित्रों के बहुत समझाने पर वह घर आया और उसने अपने मित्रों के द्वारा अपने पिता को कहला भेजा—"मैं तभी अन्न-जल स्वीकार करूँगा, जब मेरा विवाह नट-कन्या के साथ होना निश्चित हो जाय। पिता ने पुत्र को बहुत समझाया लेकिन उसने एक भी बात नहीं मानी। अन्ततः उसके पिता ने नट को बुलाया और उससे कहा—"मेरा पुत्र तुम्हारी कन्या से विवाह करना चाहता है। तुम उसकी शादी मेरे लड़के के साथ में कर दो। इसके बदले में मैं तुम्हें इतना अधिक धन दूँगा कि तुम्हारी सारी दरिद्रता दूर हो जायगी।

नट ने कहा—"सेठ! मैं अपनी पुत्री को बेचना नहीं चाहता। अगर वह मेरी पुत्री से विवाह करना चाहता है तो वह स्वयं नट बने तथा नाट्य-कला में प्रवीण होकर, राजा को प्रसन्न कर धन प्राप्त करे, तो मैं अपनी पुत्री उसे दे

सकता हूँ। एलाची कुमार ने यह बात स्वीकार कर ली। वह नटी के लिये माता पिता, धन-दौलत आदि का त्याग कर नटों के साथ हो गया। उसने सुन्दर वस्त्रों को त्याग कर एक कच्छ पहन लिया। गले में ढोल डाला, पीठ पर वस्त्रादिक की गठरी लटका ली, एक कन्धे पर बांस रखा और दूसरे कन्धे पर सामान की कांवर। इस तरह वह नट के वेश में उस दल के साथ गांव-गांव में भटकने लगा। नटों के साथ उसने अल्पकाल में ही नाट्य-कला में कुशलता प्राप्त कर ली। इधर उस नट की पुत्री भी उसका सौन्दर्य व त्याग देख कर मन ही मन उसपर मुग्ध हो रही थी। परन्तु माता पिता की आज्ञा प्राप्त किये बिना अपनी ओर से कुछ भी नहीं कर सकती थी।

कुछ दिनों के बाद नट ने जब देखा कि एलाची कुमार नाट्य-कला में प्रवीण हो ही गया है उसने कहा—"अब आप समस्त नाटक मण्डली व साज-सामान लेकर बेनातट नगर जाइये और वहाँ के राजा को प्रसन्न कर अधिक से अधिक धन ले आइये। उस धन से मैं अपने ज्ञाति-बन्धुओं को सन्तुष्ट कर अपनी पुत्री के साथ आपका विवाह कर दूँगा।"

नटराज के ये वचन सुनकर एलाची कुमार बड़ा प्रसन्न हुआ और वह उसी दिन नट-पुत्री के साथ नाटक-मण्डली को लेकर बेनातट नगर की ओर रवाना हुआ।

बेनातट पहुँचते ही सर्वप्रथम उसने राजा से मुलाकात की तथा उनसे नाटक देखने की प्रार्थना की। राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। राजा के महल के सामने एक बहुत बड़ा मैदान था। वहीं पर खेल दिखाना निश्चित हुआ। राजा द्वारा आश्वासन पाकर एलाची ने नाटक दिखाने की तैयारी कर ली। उसने मैदान में बांस गाड़कर चारों ओर रस्सियाँ बाँध दीं। राजा भी अपने मंत्री व स्वजनों के साथ खेल देखने के लिये सिंहासन पर बैठ गया।

यथा समय एलाची ने खेल दिखाना शुरू किया। उसने सर्वप्रथम उस बांस पर एक तख्ता रखवाया। उस तख्ते के मध्य भाग में एक कील गड़ी हुई थी। उसने उस कील पर सुपारी रखी। इसके बाद दोनों पैरों में घूँघर बाँध, खड़ाऊँ पहन, एक हाथ में तलवार व दूसरे हाथ में ढाल लेकर, वह उस बांस पर चढ़ा। वहाँ उस सुपारी पर अपनी नाभि रखकर कुम्हार की चाक की तरह चारों ओर घूमने लगा। घूमते समय वह तलवार व ढाल के भिन्न-भिन्न प्रकार के खेल भी दिखाता जाता था। इधर नट-कन्या भी सुन्दर वस्त्रों से सज्जित हो मधुर गीत गाती हुई नृत्य कर रही थी। उसके अन्य साथी तरह-तरह के बाजे व ढोल बजाकर नाटक में रंग ला रहे थे। जनता नाटक देखकर मुग्ध हो रही थी। वाह! वाह! के उत्साहवर्द्धक शब्द समवेत जनता के मुख से निकल रहे थे। इधर राजा नटी के हाव-भाव, व रूप यौवन तथा कला को देखकर मुग्ध हो गया और सोचने लगा—"यदि यह नटी मेरे अन्तःपुर में आ जाय, तो मेरा जीवन धन्य हो जाय। किन्तु इस नट के जीवित रहते मेरी अभिलाषा पूरी कैसे हो सकती है? इस नट-कन्या के बिना तो मेरा जीना ही व्यर्थ है। इसे तो किसी न किसी उपाय से प्राप्त करना ही होगा। हाँ! यदि यह नट खेल दिखाते दिखाते बांस से गिर कर मर जाय तो यह नटी मुझे आसानी से मिल सकती है।" अब राजा मन में यही सोचने लगा कि नट किसी तरह गिरकर मर जाय और मैं नटी को प्राप्त कर लूँ।

राजा इस प्रकार सोच ही रहा था कि नट अपना खेल पूर्ण करके बांस से नीचे उतरा और इनाम पाने के लिये राजा की तरफ बढ़ा। राजा को छोड़कर सभी दर्शक मुक्त-कंठ से उसकी प्रशंसा कर रहे थे और इनाम देने को उत्सुक हो रहे थे। किन्तु राजा के पहले पुरस्कार देना राजा का अपमान करना था। इसलिये सबकी दृष्टि उसी ओर लगी हुई थी। राजा उस समय बुरी वासना के वश में पड़कर कुछ और ही सोच रहा था। राजा ने कहा—"हे नटराज! मैं राजकाज की चिन्ता से कुछ अस्त-व्यस्त सा हो रहा था इसलिये तुम्हारा खेल अच्छी तरह से नहीं देख सका। तुम एक बार फिर खेल दिखाओ तब तुम्हें इनाम दूंगा।" एलाची कुमार लाभ व कामना के कारण दीन-हीन हो रहा था। वह यह अच्छी तरह जानता था कि बांस पर फिर से चढ़ना खतरे से खाली नहीं है लेकिन फिर

भी वह नटी के सौंदर्य के कारण बांस पर चढ़ा तथा उसने नाना प्रकार के खेल दिखाए। इस बार भी दर्शकों को पूर्ण सन्तोष हुआ। खेल समाप्त हुआ। एलाची कुमार ने नीचे उतर कर राजा को प्रणाम किया और इनाम की आशा से सामने खड़ा होगया। राजा मन में सोचने लगा—"यह तो इस बार भी कुशल पूर्वक नीचे उतर आया है। मेरी तो इच्छा पूर्ण नहीं हुई। इसके जीवित रहते मैं नटी को कैसे पा सकता हूं ? इसलिए इसको पुनः खेल दिखलाने के लिए कहना चाहिए।" इस प्रकार विचार कर राजा ने पूर्ववत् जवाब दिया और फिर से खेल दिखाने का आग्रह किया। राजा के इस प्रकार के वचनों को सुनकर राजा के प्रति लोगों के मन में शंका उत्पन्न हो गई। वे सोचने लगे कि राजा तो नटी के रूप पर मुग्ध हो गया है और नटराज की मृत्यु चाहता है। इसलिए बार-बार राज्य की चिन्ता का बहाना बना कर खेल दिखाने का आग्रह करता है।

एलाची ने नटी पाने की इच्छा से पुनः खेल दिखाया और कुशल क्षेम पूर्वक नीचे उतर आया।

राजा इससे बहुत लज्जित हुआ। उसकी मन की इच्छा मन में ही रह गई। वह चिंता में पड़ गया—इस नट से क्या कहूं और किस बहाने उसे बांस पर चढ़ाऊं। अन्त में उसकी दुर्वासना ने जोर मारा। उसने फिर धृष्टतापूर्वक कहा—"नटराज अभी मुझे पूरा सन्तोष नहीं हुआ है। पुनः एक बार तुम्हारा खेल देखना चाहता हूं। इस बार तुम्हें अवश्य ही इनाम दूंगा।" राजा की बात को सुनकर नटराज निरुत्साहित हो उठा। नटी उसके भाव को ताड़ गई। उसने पुनः एलाची कुमार को उत्साहित किया। अपनी प्रियतमा का प्रोत्साहन पाकर वह पुनः बांस पर चढ़ा और तरह-तरह के खेल दिखाने लगा।

ठीक इसी समय कोई तपस्वी मुनिराज आहार के लिए पास के किसी धनिक सेठ के घर पहुंचे। सेठ की पत्नी अत्यन्त रूपवती थी। वह उस समय घर में अकेली थी। वह भाविका थी इसलिए मुनिराज को आते देखकर कुछ कदम आगे बढ़कर उसने उनका स्वागत किया और बड़े आदर पूर्वक अन्दर ले आई। मोदक का थाल अन्दर से लाकर साधु को बड़ी श्रद्धा पूर्वक दान करने लगी। मुनिराज बड़े सावधान थे। मुनि की दृष्टि नीचे की ओर थी। उन्होंने भूलकर भी अपनी नजर ऊपर नहीं की। इस दृश्य को देखकर एलाची कुमार के हृदय पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वह अपने मन में कहने लगा,—"अहो ! अप्सरा के समान रूपवती रमणी हाथ में लड्डुओं का थाल लेकर अकेली सामने खड़ी है फिर भी धन्य हैं ये मुनिराज जो आंख उठाकर भी उसके सामने नहीं देखते। ये भी एक मानव हैं जिनका हृदय सुन्दर रमणी को देखकर व एकान्त में पाकर भी विचलित नहीं होता और मैं भी एक मनुष्य हूं जो स्त्री के लिए वैभव त्यागकर दर-दर की ठोकरें खा रहा हूं। यदि इस वक्त मैं गिर पड़ूं और नटी का ध्यान करते हुए मर जाऊं तो मुझे मर कर अवश्य दुर्गति का द्वार देखना पड़ेगा।"

इधर राजा के मन में भी सद् विचार आये और उसको भी केवलज्ञान प्राप्त हुआ। राजा की रानी व नटी के भी परिणाम शुद्ध होने लगे और संसार-स्वरूप को विचार करते-करते उन्हें भी केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इन केवलियों का उपदेश पाकर अनेक लोगों ने श्रावक-व्रत साधु-व्रत स्वीकार किये और अन्त में सिद्ध गति को प्राप्त कर अनन्त सुखी बने।

★

कथा—२३ :

मणिरथ मदनरेखा [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ५ गाथा १३ (पृ० ३१) के साथ है]

अवंति जनपद में सुदर्शन नामक एक नगर था। वहाँ मणिरथ नामक राजा था। युगबाहु नामक उसका एक छोटा भाई युवराज था। युगबाहु की पत्नी मदनरेखा थी। वह अतीव सुन्दर और परम-श्राविका थी। एक दिन मणिरथ की दृष्टि मदनरेखा पर पड़ी। उसके अनिंद्य रूप-लावण्य को देखकर वह मुग्ध हो गया। उसका रूप उसके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगा। उसने उसके प्रेम को किसी भी मूल्य पर प्राप्त करने का निश्चय किया। इस विचार से उसने मदनरेखा के घर बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषण भेजना शुरू किया। वह भी विशुद्ध भाव से जेठ की भेजी हुई नाना प्रकार की बहुमूल्य सामग्रियों को स्वीकार कर लेती। उसे यह भान तक नहीं था कि मणिरथ जो वस्तुएँ भेजता है, उसके पीछे उसकी कुत्सित वासना काम कर रही है।

मदनरेखा विशुद्ध भावना से ही इन वस्तुओं को अंगीकार करती थी, किन्तु मणिरथ समझने लगा कि वह भी उससे प्यार करने लगी है।

एक दिन मौका पाकर उसने दासी के द्वारा मदनरेखा को कहलाया—"मालव सम्राट् मणिरथ तुमसे प्रेम करता है। वह तुम्हारे रूप-यौवन पर अपना समस्त साम्राज्य तुम्हारे चरणों में रखने को तैयार है। तुम्हें जो सुख चाहिए वह युगबाहु से नहीं मिलता। वह सुख तुम मणिरथ की हृदय साम्राज्ञी बनने पर प्राप्त कर सकोगी।"

यह सन्देश सुनकर मदनरेखा स्तब्ध हो गई। मणिरथ की स्वार्थपूर्ण घृणित भावना का अब उसे पता लगा। उसने दासी से कहा—"दुष्टे! आज तूने ऐसी बात कही है। यदि भविष्य में ऐसा कहा तो तेरी जीभ निकलवा दूँगी। जा! मणिरथ से कह दे कि मदनरेखा तुम्हारे इस छोटे से साम्राज्य से तो क्या, बल्कि तीन लोकों के वैभव से भी अपने शील-व्रत से विचलित नहीं हो सकती। आप सम्राट् हैं। आपके लिए ऐसी अनीति शोभा नहीं देती। आपसे प्रेम तो दूर रहा बल्कि वह आप को देखना भी पाप समझती है।"

दासी ने वहाँ से मणिरथ के पास आकर सब वृत्तान्त कह सुनाया। मणिरथ अपनी असफलता पर मन ही मन झुँझलाने लगा। उसने सोचा—युगबाहु के रहते मदनरेखा का प्रेम पाना असंभव है। अतः इस काँटे को हटाकर ही मैं मदनरेखा के प्रेम को प्राप्त कर सकता हूँ। इस तरह कामुक-भावना के वशीभूत होकर वह अपने भाई की हत्या का अवसर ढूँढ़ने लगा।

सायंकाल का समय था। मन्द-मन्द सुहावनी हवा चल रही थी। युगबाहु अपनी प्रियतमा के साथ उपवन में घूमने के लिए निकल पड़ा। मदनरेखा अपने प्रियतम के लिए पुष्प चुन चुनकर माला गूँथने में तल्लीन थी। युगबाहु लता मण्डप में विश्राम कर रहा था और अस्ताचलगामी दिवाकर का देखने में तल्लीन था। इधर मणिरथ भी घूमता हुआ उपवन की ओर आ निकला। उसने युगबाहु को लता-मण्डप में विश्राम करते हुए देख लिया। वह अकेला एकान्त स्थान में विश्राम कर रहा था। राजा ने उचित अवसर पाकर पीछे से छिपकर युगबाहु पर वार किया। वह घायल होकर भूमि पर गिर पड़ा। मणिरथ वहाँ से भागा। रास्ते में वह साँप का शिकार बना और मृत्यु को प्राप्त होकर नरक में गया।

इधर मदनरेखा ने लता-मण्डप से कराहने की आवाज सुनी। वह दौड़कर वहाँ आई। खून से लथपथ पति को

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ९ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर

देखकर वह घबड़ा गई। उसने अपने आप को समाला, और सोचा—"यह समय शोक करने का नहीं है। जो भावी था वह हो गया। अब मेरा कर्तव्य है कि मैं पतिदेव को धैर्य दूं। उनका शरीर समाधि पूर्वक छूटे, ऐसा प्रयत्न करूं।" युगबाहु के सिर को अपनी गोद में लेकर वह उन्हें समझाने लगी। उसने पति को उस भाई के प्रति द्वेष व पत्नी के प्रति मोह न रखने का उपदेश दिया। युगबाहु पर पत्नी के उपदेशों का असर हुआ। शान्तभाव से समाधिपूर्वक देह का विसर्जन कर वह देवलोक में उत्पन्न हुआ।

मदनरेखा ने सोचा—"अब इस राज्य में रहना खतरे से खाली नहीं है। मणिरथ मुझ पर बलात्कार करने का प्रयत्न कर सकता है। वह मुझे भ्रष्ट करने का प्रयत्न करेगा। इससे अच्छा होगा कि कहीं दूर चली जाऊँ।" ऐसा सोचकर वह वहाँ से निकल पड़ी। वह गर्भवती थी। रास्ते में उसे घोर वन का सामना करना पड़ा, जहाँ आदमी की छाया तक का भी निशान नहीं था। वह एक वृक्ष के नीचे आराम करने लगी। कुछ समय पश्चात् उसे प्रसव पीड़ा होने लगी और पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। उस नवजात शिशु को कोमल पत्तों पर सुला, उसकी उँगली में अपने नाम की मुद्रा डाल कर, वह अशुचि निवारणार्थ नदी किनारे पहुँची। उधर एक मदोन्मत्त हाथी ने मदनरेखा को सूँड में पकड़ कर आकाश में उछाल दिया। आकाश मार्ग से एक मणिप्रभ नामक विद्याधर अपने विमान में बैठा चला आ रहा था। अनिंद्य सुन्दरी मदनरेखा को देख उसने उसको अपने विमान में बैठा लिया। उसके रूप को देखकर वह मुग्ध हो गया। वह विमान को वापस लौटाने लगा। मदनरेखा ने पूछा—"आप तो इधर जा रहे थे। आपने विमान को वापस क्यों लौटाया?" देव ने कहा—"मैं अपने पिता जो साधु हैं उनके दर्शन करने जा रहा था, किन्तु तुम जैसी रूप यौवनसम्पन्ना, रूपवती स्त्री को पाकर मैं वापस लौट रहा हूँ। तुम्हें घर पहुँचा कर मैं वापस चला जाऊँगा।" मदनरेखा ने कहा—"मैं भी साधु दर्शन की इच्छा रखती हूँ। अतः मुझे भी दर्शन करवा दीजिये।" मणिप्रभा ने स्वीकार कर लिया और अपना विमान घुमा दिया। थोड़े समय में ही वह विमान मणिचूड़ मुनि के पास पहुँचा। मुनि मणिचूड़ ने उपदेश दिया। मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर मणिप्रभ ने मदनरेखा के प्रति अपनी भावना बदल दी और उसे अपनी बहिन की तरह देखने लगा। मुनि से मदनरेखा ने पूछा—"मैं जंगल में अपने पुत्र को छोड़ कर आई उसका क्या हुआ? मुनि ने कहा—"उसको मिथिला के पद्मरथ राजा, जो घूमने के लिये आये थे, ले गये हैं।" यह सुन कर मदनरेखा निश्चिन्त हो गई और दीक्षा लेकर उसने आत्म-कल्याण किया।

★

कथा—२४ :

राजकुमार अरणक

[इसका संबन्ध ढाल ५ गाथा १४ (पृ० ११) के साथ है]

एक समय भगवान् ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए किसी बड़े नगर में पहुँचे। भगवान् का आगमन सुनकर नगर की जनता उनकी वाणी सुनने के लिये उद्यान में पहुँची। वहाँ का राजा अपनी रानी व राजकुमार अरणक को लेकर भगवान् के समवशरण में पहुँचा। भगवान् ने महती सभा में उपदेश दिया। उनका उपदेश सुनकर राजा व राजकुमार अरणक के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने समस्त राज्य का परित्याग कर भगवान् के पास दीक्षा ले ली। पिता-पुत्र ने स्थविरों की सेवा में रहकर सूत्रों का अध्ययन किया। अब भगवान् की आज्ञा से पिता-पुत्र स्वतंत्र रूप से विहार करते हुए संयम की आराधना करने लगे। पिता अपने छोटे लाडले पुत्र अरणक को कभी भी भिक्षा के लिए बाहर नहीं भेजता था। वह स्वतः गोचरी लाकर बालमुनि की सेवा किया करता था। उसे किसी भी बात का कष्ट न हो, इसका वह पूरा-पूरा ध्यान रखता था। कुछ समय पश्चात् अरणक मुनि के पिता का स्वर्गवास हो गया और वे अब अकेले हो गये। *अब तक तो पिता की छत्र-छाया में उन्हें किसी भी प्रकार के कष्ट का भान नहीं हुआ था, लेकिन अब उन्हें कड़कड़ाती धूप में* आहार के लिये नंगे पैर जाना पड़ता था।

एक दिन वे तेज धूप में आहार के लिए निकले। पैर जल रहे थे। लू जोरों से चल रही थी। सूर्य की किरणें आग उगल रही थीं। साधु अरणक धूप से घबरा गया और विश्राम के लिए एक भव्य प्रसाद की छाया में खड़ा हो गया। प्यास के कारण गला सूख रहा था। उस प्रासाद की खिड़की में एक युवा स्त्री बैठी थी। उसके अंग-अंग से यौवन व मादकता फूट रही थी। उसका पति परदेश गया हुआ था। इसलिए वह काम-बाण से पीड़ित थी। अरणक मुनि की अलौकिक सुन्दरता को देख कर वह मुग्ध हो गई। उसने दासी के द्वारा मुनि को अपने महल में बुला लिया और हाव भाव व नयन-कटाक्षों से मुनि को अपने वश में कर लिया। मुनि उसी सुन्दरी के यहाँ रहने लगे।

अरणक मुनि गृहस्थ बन गया और उसके साथ सुखोपभोग करते हुए जीवन-यापन करने लगा। इधर साधुओं में अरणक की खोज होने लगी। लेकिन उसका कहीं भी पता न लगा। अरणक के गायब होने की खबर उसकी माता तक पहुँची। माता घबड़ा गई और अपने पुत्र की खोज के लिए निकल पड़ी। वह गाँव-गाँव की धूल छानने लगी। जगह जगह पूछती फिरती कि कहीं किसी ने उसके प्यारे पुत्र को देखा है क्या? बुढ़ापे के कारण शरीर शिथिल हो रहा था। आँखों से कम दिखाई देता था, फिर भी दिल में उत्साह था कि कहीं मिल जायगा। अगाध मातृ-स्नेह के कारण वह पागल सी हो चली थी। अरणक' 'अरणक' पुकारती वह एक विशाल-भवन के नीचे धूप से घबड़ा कर खड़ी हो गई। ऊपर खिड़की में अरणक अपनी प्रेयसी से बातें कर रहा था। अरणक' 'अरणक' की आवाज अचानक उसके कानों में पड़ी। आवाज चिरपरिचित सी मालूम दे रही थी। उसने नीचे की ओर झाँक कर देखा तो आश्चर्य चकित हो गया। वह आवाज और किसी की न होकर उसकी माता की ही थी। उसे अचानक महल के नीचे देखकर वह बाहर आया और स्नेह से उसके चरणों में गिर पड़ा। पुत्र को देखकर माता के हर्ष का कोई ठिकाना न रहा। स्नेह से उसने पुत्र के मस्तिष्क पर हाथ फेरते हुए कहा—"बेटा! तू यहाँ कैसे आ पहुँचा?" यों कहते-कहते उस वृद्धा की आँखों से आँसू बहने लगे। अरणक घबड़ा उठा। वह सोचने लगा "माता के प्रश्नों का क्या उत्तर दिया जाय?" चेहरे का रंग उड़ गया। किसी गुनहगार की तरह छटपटाने लगा। अन्त में उसने लड़खड़ाती हुई आवाज में कहा—"माँ! अपराध हुआ।" अरणक

की आँखों से आँसू बहने लगे। माता ने आँसू पोंछते हुए, पुत्र से कहा—"बेटा! मैंने तो तुमसे पहले ही कहा था कि चारित्र पालन करना तलवार की धार पर चलने के समान है। चारित्र बड़ा भारी रत्न है। तूने उसे मिट्टी में मिला दिया। हाथ में आया हुआ चिन्तामणि रत्न गवाँ बैठा।

माता के वचन अरणक के हृदय में तीर की तरह चुभ गये। उसे बड़ी ग्लानि हुई। वह मन ही मन अपने आपको धिक्कारने लगा। माता ने पुत्र को अपराध अनुभव करते देखा तथा पश्चाताप की भट्ठी में झुलसते देखकर कहा—"बेटा जो होना था सो हो गया। अब पाप के बदले प्रायश्चित्त करो ताकि तुम्हारी आत्मा पुनः उज्ज्वल बन सके।" माता ने पुत्र को पुनः गुरुदेव की सेवा में उपस्थित किया। गुरुदेव ने उसे फिर से दीक्षित किया। अरणक ने पुनः दीक्षा लेकर अपने जीवन को धन्य बना दिया।

एक दिन अरणक ने गुरुदेव से कहा—"हे गुरुदेव! जिस धूप ने मेरा पतन किया, उसीसे मैं अपनी आत्मा का उत्थान करना चाहता हूं।" ऐसा कहकर उसने ग्रीष्म ऋतु की कड़कड़ाती धूप में जलती हुई शिलापट्ट पर अपनी देह रख अनशन कर लिया और समभाव से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ समाधि-मरण कर देवलोक को प्राप्त हुआ।

★

कथा—२५ :

जिनरिख जिनपाल [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा १० (पृ० ४१) के साथ है]

चम्पानगरी में माकन्दी नामका सार्थवाह रहता था। उसके जिनरिख और जिनपाल नामक दो पुत्र थे। उन दोनों भाइयों ने ग्यारह बार लवण समुद्र में यात्रा कर बहुत-सा धन कमाया। माता पिता के मना करने पर भी वे दोनों समुद्र में बारहवीं बार यात्रा करने के लिए रवाना हुए। समुद्र के बीच में जहाज तूफान से नष्ट हो गया। जहाज की टूटी हुई पतवार उन दोनों भाइयों के हाथ लगी। उस पर बैठ कर दोनों तैरते हुए रत्न द्वीप में आ पहुँचे। उस द्वीप की स्वामिनी रयणा देवी ने उन्हें देखा। वह कहने लगी "तुम दोनों मेरे साथ काम भोगों को भोगते हुए यहीं रहो, अन्यथा मैं तुम्हें मार दूंगी। इस प्रकार देवी के भयप्रद वचनों को सुनकर दोनों भाइयों ने उसकी बात स्वीकार कर ली और उसके साथ काम भोग भोगते हुए रहने लगे।

एक समय लवण समुद्र के अधिष्ठायक सुस्थित देव ने रयणा देवी को लवण समुद्र की इक्कीस बार परिक्रमा करके तृण, पर्ण, काष्ठ, कचरा अशुचि आदि को साफ करने की आज्ञा दी। उस देवी ने दोनों भाइयों से कहा—"देवानुप्रियो! जब तक मैं वापस लौटकर आऊं तबतक तुम यहीं पर आनन्द पूर्वक रहो। यदि इच्छा हो तो पूर्व और उत्तर दिशा के वनखण्ड में जा सकते हो, किन्तु दक्षिण दिशा की तरफ मत जाना। वहां पर एक भयंकर विषधर सर्प रहता है, जो तुम्हारा विनाश कर डालेगा।" यह कह देवी चली गई।

दोनों भाई पूर्व पश्चिम उत्तर दिशा के वन खण्डों में घूमते रहे। एक दिन उनकी दक्षिण दिशा की तरफ भी जाने की इच्छा हुई और वे दोनों उस दिशा की ओर निकल पड़े। कुछ दूर जानेपर उस दिशा से भयङ्कर दुर्गन्ध आने

[1]—ज्ञाता सूत्र के ९ वें अध्याय के आधार पर

लगी। उन्होंने आगे जाकर देखा तो सेकड़ों मनुष्यों की हड्डियाँ एवं खोपड़ियों का ढेर लगा हुआ था। पास में शूली पर लटकता हुआ एक पुरुष कराह रहा था। यह हाल देख दोनों भाई घबरा गये और शूली पर लटकते हुए पुरुष से सारा वृत्तान्त पूछा। उसने कहा—"मैं भी तुम्हारी ही तरह जहाज के टूट जाने पर यहाँ आ पहुँचा था। मैं काकन्दी नगरी का रहनेवाला घोड़ों का व्यापारी हूँ। पहले देवी मेरे साथ भोग भोगती रही। एक समय एक छोटे से अपराध के हो जाने पर कुपित होकर इसने मुझे यह दण्ड दिया है। न मालूम यह देवी तुम्हें किस समय और किस ढंग से मार देगी। इसने पहले भी कई मनुष्यों को मार कर यह हड्डियों का ढेर कर रखा है।" दोनों भाइयों ने जब शूली पर लटकते हुए पुरुष की ये बातें सुनी तो वे त्राण का उपाय पूछने लगे। उस पुरुष ने कहा "पूर्व दिशा के वन खण्ड में शैलक नामका एक यक्ष रहता है। उसकी पूजा करने से वह प्रसन्न होकर तुम्हें देवी के फन्दे से छुड़ा देगा।" यह सुनकर दोनों भाई यक्ष के पास आकर उसकी स्तुति करने लगे और देवी के फन्दे से छुटकारा पाने की प्रार्थना करने लगे।

यक्ष उनकी स्तुति से प्रसन्न हुआ और बोला—"तुम निर्भय रहो। मैं तुम्हें इच्छित स्थान पर पहुँचा दूंगा। किन्तु मार्ग में देवी आकर अनेक प्रकार के हाव भाव करके अनुकूल प्रतिकूल वचन कहती हुई परिषह-उपसर्ग देगी। यदि तुम उसके कहने में आकर उस पर आसक्त हो जाओगे तो मैं तुम्हें मार्ग में ही समुद्र में फेंक दूंगा।" यक्ष की इस शर्त को दोनों भाइयों ने मान लिया। यक्ष अश्व का रूप बना, दोनों भाइयों को अपनी पीठ पर बिठला, आकाश मार्ग से चला।

इतने में वह देवी आ पहुँची। देवी ने उनको वहाँ न देखा तो अवधि-ज्ञान से जान लिया कि वे दोनों भाई शैलक यक्ष के पीठ पर जा रहे हैं। वह शीघ्र वहाँ आई और अनेक प्रकार के हाव भाव से अनुकूल प्रतिकूल वचन कहती हुई, करुण विलाप करने लगी। जिनपाल ने उसके वचन पर कोई ध्यान नहीं दिया। किन्तु जिनरक्ष उसके वचनों में फँस गया, वह उस पर मोहित होकर, प्रेम के साथ रयणा देवी को देखने लगा। जिससे यक्ष ने जिनरक्ष को अपनी पीठ से नीचे फेंक दिया। नीचे गिरते ही जिनरक्ष को रयणादेवी ने शूली में पिरो दिया और बहुत कष्ट देकर उसे प्राणरहित करके समुद्र में फेंक दिया।

जिनपाल देवी के वचनों में नहीं फँसा। इसलिए यक्ष ने आनन्द पूर्वक उसको चम्पा नगरी पहुँचा दिया। वहाँ पहुँच कर जिनपाल अपने माता-पिता से मिला। कई वर्षों तक सांसारिक सुखों को भोग कर दीक्षा धारण की। वर्षों तक संयम पालनकर वह सौधर्म देवलोक में गया, वहाँ से महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध-पद को प्राप्त करेगा।

★

विष मिश्रित छाछ

[इसका सम्बन्ध उल्ल० ७ गाथा ११ (पृ० ४२) के साथ है]

चार व्यापारी थे। वे बाहर घूम घूम कर व्यापार करते थे। किसी समय एक गाँव में पहुँचे। वहाँ एक वृद्धा रहती थी। वह बाहर के लोगों को खाना और निवास देती थी और उसीसे वह अपनी आजीविका चलाती थी। वे चारों व्यापारी उसी वृद्धा के यहाँ पहुँचे और रात्रि का निवास भी उसीके यहाँ रक्खा। व्यापारियों को जाने की जल्दी थी, अतः सूर्योदय के पूर्व ही भोजन बनाने के लिए कहा। वृद्धा रात्रि में जल्दी उठी और अन्धेरे में दही को एक हाँडी में डाल उसको मथने लगी। जिस बरतन में वह दही मथ रही थी उसमें पहले ही से एक काला सर्प बैठा हुआ था। बुढ़िया ने ध्यान नहीं दिया और दही के साथ उसे भी मथ डाला। सारी छाछ विषमयी हो गयी। वृद्धा ने व्यापारियों को भोजन करा उन्हें विषमयी छाछ पीने के लिए दे दी। व्यापारियों ने वह छाछ पी ली और वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

प्रातः हुआ। जब बुढ़िया ने खाने के लिए बर्तन में से छाछ निकाली और देखा तो उसमें साँप के टुकड़े नजर आये। वह स्तब्ध हो गई। सोचा वे बिचारे व्यापारी इस विषमयी छाछ को पीकर अवश्य मर गये होंगे। उसे बहुत पश्चाताप हुआ।

कालान्तर में वे व्यापारी घूमते घूमते पुनः उसी गाँव में उसी वृद्धा के यहाँ आये। वृद्धा ने उनको देखा और बहुत आश्चर्य चकित हो गई। वृद्धा ने कहा—"आप लोग जीवित हैं, यह जानकर मुझे अपार हर्ष हो रहा है। मैं तो यह दिन रात सोचती थी कि मेरी गलती से आप लोग अवश्य ही मर गये होंगे। किन्तु अचानक आप लोगों को जीवित देखकर मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है।" वृद्धा की बात सुनकर व्यापारी कहने लगे—"माँ जी! आप यह क्या कह रही हैं? हम लोग आपकी बात का कुछ भी मतलब नहीं समझ सके। तब वृद्धा ने कहा—"देखो। आप लोग कुछ दिन पूर्व जब मेरे यहाँ ठहरे थे तब मैंने आप को मट्ठा पिलाया था। उसमें एक काला साँप मरा हुआ था। वह छाछ साँप के जहर वाली थी उसे पीकर भी आप जीवित हैं बस इसी का मुझे आश्चर्य है।" वृद्धा की बातें सुनते ही चारों व्यापारी चौंक पड़े। सर्प के जहर पीने की बात बार-बार उन्हें याद आने लगी। उनको अपने प्राण संकट में दिखाई देने लगे। मन की जो स्थिति हुई उससे उनके शरीर में विष व्याप्त हो गया और वे चारों मृत्यु को प्राप्त हुए।

★

कथा— २७ :

सर्पदंश

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा १२ (पृ० ४२) के साथ है]

किसी ग्राम में दो भाई रहते थे। वे किसान थे। एक दिन वे घास काटने के लिये खेत में गये। बड़ा भाई एक वृक्ष की छाया में आराम करने लगा और छोटा घास काटने में लग गया। घास में से एक सर्प निकला और उसने उस छोटे भाई को डँस लिया। वह घास काटने में इतना तल्लीन था कि उसे इसका कुछ भी पता न चला। बड़ा भाई वृक्ष के तले से यह दृश्य देख रहा था।

कुछ समय के बाद, घास काट चुकने पर, छोटा भाई भी वृक्ष की छाया में आराम करने के लिये आया और घास का गट्ठर रखकर बैठ गया। उसके पैर से खून बह रहा था। बड़े भाई ने उससे खून बहने का कारण पूछा। उसने कहा, "भाई! मुझे कुछ भी मालूम नहीं। सम्भव है कि किसी जन्तु ने काट लिया हो या खरोंच आ गयी हो।" बड़े भाई ने सर्पदंश की बात उससे छिपा ली। वे दोनों घर लौट आये और सुखपूर्वक निवास करने लगे।

कालान्तर में एक दिन दोनों घर पर बैठे, बड़े आनन्द से गप्पें लड़ा रहे थे। बातों ही बातों में बड़े भाई ने छोटे भाई से सर्पदंश की घटना कही। छोटा भाई घबरा गया और वह बारबार सर्प-दंश का स्मरण करने लगा। वह इस घटना से इतना चिन्तित हो गया कि वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा और तत्क्षण उसकी मृत्यु हो गयी।

जब तक किसान को सर्प-दंश की जानकारी न थी, वह स्वस्थ था, परन्तु ज्योंही उससे सर्प-दंश की बात कही गयी त्योंही उसका शरीर विष से व्याप्त हो गया और वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार भुक्त काम भोगों के स्मरण करने से वासना रूपी विष शरीर में व्याप्त हो जाता है और ब्रह्मचर्य का भङ्ग हो जाता है।

★

कथा—२८ :

भूदेव ब्राह्मण [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा ९ (पृ० ४०) के साथ है]

एक समय पूर्व परिचित भूदेव नामक ब्राह्मण ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से आग्रह किया कि आप जो भोजन करते हैं, वह भोजन एक दिन हमें भी करवाया जाय।

ब्राह्मण का अत्यधिक आग्रह देख चक्रवर्ती ने समस्त ब्राह्मण परिवार को खीर का भोजन करवाया। उस भोजन से ब्राह्मण को उन्माद चढ़ गया और उसने रात्रि में स्त्री, पुत्री, बहन व माता के साथ अकार्य किया। जब उन्माद उतरा तो उसे बहुत पश्चाताप हुआ। अतः ब्रह्मचारी को कामोत्तेजक षड्रस भोजन का सेवन नहीं करना चाहिए।

१—निशीथ सूत्र अ० २ के आधार पर

आचार्य मंगू [1]

[इसका सम्बन्ध अध्ययन ७ गाथा १० (पृ० ८७) के साथ है]

एक समय मंगू नामक आचार्य मथुरा नगर में पधारे। वहाँ के श्रावक धर्मनिष्ठ एवं मुनियों के प्रति अगाध श्रद्धालु थे। आचार्य मंगू पूर्ण विद्वान थे। उनकी वाणी में सरस्वती निवास करती थी। वे आचार विचार में सब तरह से उच्च थे। उन्होंने वहीं रहकर अध्ययन, पठन-पाठन शुरू कर दिया। आचार्य के आचार और व्यवहार से श्रावकगण अत्यन्त प्रभावित थे। वे भक्तिवश उनकी भरपूर सेवा करते और उन्हें नित्य सरस आहार तथा विविध प्रकार के पकवान दिया करते थे। आचार्य मंगू की रस-गृद्धि बढ़ गई। वे सोचने लगे "अगर मैं अन्य छोटे बड़े गाँवों में विचरण करूँगा, तो ऐसा सरस आहार प्रतिदिन नहीं मिल सकेगा। यहाँ के श्रावक भी अत्यन्त श्रद्धालु हैं मेरी अत्यधिक भक्ति करते हैं, अतः मुझे यहीं रहना चाहिए।" ऐसा सोच वे स्थिर भाव से वहीं रहने लगे। गृहस्थों के साथ उनका परिचय और भी गाढ़ा होता गया। नित्य सरस आहार सेवन से उनकी रस-गृद्धि बढ़ने लगी। वे आचार को, यानी पवित्र साधु-जीवन को, भूल गए। साधु की नित्य क्रियाएँ छोड़ दीं। उन्हें यह भी अभिमान होने लगा कि मुझे सरस तथा अलभ्य मिष्टान्न रोज मिलते हैं। इस प्रकार वे रस गौरव से युक्त हो गए। अब वे सरस तथा विषय वर्द्धक आहार प्राप्ति के कारण मूलगुणों में दोष लगाने लगे। चिरकाल तक सरस आहार का सेवन कर वे बिना आलोचना ही मरकर उसी नगर के यक्षालय में यक्ष बने।

यक्ष ने विभंग ज्ञान से पूर्व-भव देखा और बहुत पश्चात्ताप करने लगा। उसने सोचा, "मेरी स्वादलोलुपता ने ही आज मेरी ऐसी दुर्गति की है।"

वह यक्ष जब अपने पूर्वभव के शिष्य मंडल को जाते हुए देखता तब उसे जिह्वा दिखाता। एक दिन साहस कर शिष्य ने यक्ष से पूछा "तुम अपनी जिह्वा क्यों बाहर निकाल रहे हो ? यक्ष ने कहा "मैं तुम्हारा आचार्य मंगू हूँ। जिह्वा-स्वाद में पड़कर मेरी ऐसी दुर्गति हुई है। मैंने परमोत्तम जिन धर्म को पाकर भी रस-गृद्धि के कारण उसकी सम्यक् आराधना नहीं की। यही मेरी दुर्गति का एकमात्र कारण है। अत: तुम सब भी परमोत्तम जिनधर्म को प्राप्त कर स्वाद लंपट मत बनना। अगर तुम लोग भी जिह्वा के स्वादवश पथ-विचलित हुए तो मेरी तरह ही तुम्हारी भी दुर्गति होगी।" इस प्रकार शिष्यों को रस-गृद्धि का दुष्परिणाम बता वह यक्ष अदृश्य हो गया।

★

१—उपदेशमाला के आधार पर

कथा—३०

राजर्षि शैलक [1]

[इसका सम्बन्ध अ० ७ गाथा ११ (पृ० ४७) के साथ है]

उस समय शैलकपुर नाम का एक नगर था। वहाँ शैलक नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पद्मावती और पुत्र का नाम मण्डूक था। उसके पंथक आदि पाँच सौ मंत्री थे। वे चारों बुद्धि के निधान एवं राज्यधुरा के चिन्तक थे।

एक समय थावच्चा अनगार एक सहस्र शिष्य परिवार के साथ नगर के बाहर सुभूमिभाग उद्यान में पधारे। जनता दर्शन करने को गई। महाराजा शैलक भी अपने पाँच सौ मन्त्रियों के साथ दर्शन करने गया। अनगार का उपदेश सुन उसने पाँच सौ मंत्रियों के साथ श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। थावच्चा अनगार ने वहाँ से बाहर जनपद में विहार कर दिया।

किसी समय थावच्चा अनगार के शिष्य शुक अनगार अपने सहस्र शिष्य परिवार के साथ शैलकपुर नगर पधारे। महाराजा शैलक भी मन्त्रियों के साथ उनका उपदेश सुनने गया। उपदेश सुनने के बाद शैलक महाराजा शुक अनगार से बोला—"भगवन्! मैं अपने पुत्र मण्डूक को राज्यगद्दी पर स्थापित कर आप के पास प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।" अनगार बोले—"राजन्! तुम्हें जैसे सुख हो वैसा करो।" महाराजा घर आया और पाँच सौ मंत्रियों को बुला प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की। मन्त्रियों ने भी महाराजा शैलक के साथ दीक्षा लेने का निश्चय प्रकट किया। पश्चात् महाराजा शैलक ने अपने पुत्र को राजगद्दी पर स्थापित कर पाँच सौ मन्त्रियों के साथ शुक अनगार के पास दीक्षा ग्रहण की। शैलक राजर्षि ने सामायिकादि अंग उपांगों का अध्ययन किया। शुक अनगार ने पाँच सौ अनगारों को उन्हें शिष्य के रूप में दे उन्हें स्वतंत्र विहार करने की आज्ञा दी। शैलक राजर्षि पंथक आदि पाँच सौ अनगारों के साथ ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

शैलक राजर्षि अंत, प्रांत, तुच्छ, रूक्ष, अरस, विरस, शीत, उष्ण, कालातिक्रान्त, प्रमाणातिक्रान्त आहार का नित्य सेवन करते। प्रकृति से सुकोमल एवं सुखोपचित होने के कारण ऐसे आहार से उनके शरीर में उज्ज्वल, असह्य वेदना उत्पन्न करने वाले पित्तदाह, कण्डु-खुजली, ज्वर जैसे रोगातंक उत्पन्न हो गये। इससे उनका शरीर सूख गया।

वे ग्रामानुग्राम विचरण करते शैलकपुर नगर के बाहर सुभूमिभाग उद्यान में पधारे। महाराजा मण्डूक भी अनगार के दर्शन करने के लिए उद्यान में गया। वहाँ उन्हें वन्दना कर उनकी पर्युपासना करने लगा।

मण्डूक महाराज ने शैलक अनगार के शरीर को अत्यन्त सूखा हुआ एवं रोग से पीड़ित देखा। यह देखकर वह बोला—"भगवन्! मैं आप के शरीर को सरोग देख रहा हूँ। आपका सारा शरीर सूख गया है अतः मैं आपकी, योग्य चिकित्सकों से साधु के योग्य औषध भेषज तथा उचित खान-पान द्वारा, चिकित्सा करवाना चाहता हूँ। आप मेरी यान शाला में पधारें। वहाँ प्रासुक-एषणीय पीठ, फलक, शैय्या, संस्तारक ग्रहण कर ठहरें।" राजर्षि ने राजा की प्रार्थना स्वीकार की और दूसरे दिन प्रातः पाँच सौ अनगारों के समूह के साथ राजा की यान-शाला में पधारे। वहाँ यथायोग्य एषणीय पीठ, फलक आदि को ग्रहण कर रहने लगे।

राजा मण्डूक ने चिकित्सकों को बुलाकर शैलक राजर्षि की चिकित्सा करने की आज्ञा दी। चिकित्सकों ने विविध प्रकार की चिकित्सा की। चिकित्सा और अच्छे खान-पान से उनका रोग शान्त हुआ और शरीर पुनः हृष्ट-पुष्ट हो गया।

१—ज्ञातासूत्र अ० ५ के आधार पर

रोग के शान्त होने पर भी शैलक राजर्षि विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य तथा मद्यपान में मूर्च्छित गृद्ध एवं तद्रूप अध्यवसाय वाले हो गये। अवसन्न, अवसन्न विहारी, पार्श्वस्थ, पार्श्वस्थ-विहारी, कुशील, कुशील-विहारी, प्रमत्त, प्रमत्त-विहारी, संसक्त, संसक्त-विहारी एवं ऋतु-बद्ध (शेष काल में भी पीठ, फलक, शैय्या संस्तारक को भोगने वाले) प्रमादी हो रहने लगे। इस तरह वे जनपद विहार से विहरने में असमर्थ हो गये।

एक दिन पंथक अनगार के सिवा अन्य ४९९ अनगार एकत्र हो परस्पर इस प्रकार विचार करने लगे निश्चयतः शैलक राजर्षि ने राज्य का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की है। किन्तु वे इस समय विपुल अशन, पान, खाद्य एवं मद्यपान में आसक्त हो गये हैं। वे जनपद विहार भी नहीं करना चाहते। साधु को इस प्रकार प्रमत्त होकर रहना नहीं कल्पता। अतः हमलोगों के लिए, प्रातः होने पर शैलक राजर्षि की आज्ञा ले प्रातिहारिक पीठ, फलक आदि को वापिस कर पन्थक अनगार को उनके वैयावृत्य में रख, विहार करना श्रेयस्कर है। इस प्रकार विचार कर प्रातः शैलक की आज्ञा से ४९९ अनगारों ने बाहर जनपद में विहार कर दिया।

एक बार शैलक कार्तिक चातुर्मास के दिन विपुल अशन, पान खाद्य और स्वाद्य का आहार और भरपूर मद्यपान कर पूर्वाह्न के समय सुखपूर्वक सो गये।

पन्थक अनगार ने चातुर्मासिक कायोत्सर्ग कर दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण और चातुर्मासिक प्रतिक्रमण की इच्छा से शैलक राजर्षि को खमाने के लिए अपने मस्तक से उनके चरणों का स्पर्श किया। शैलक पन्थक अनगार के पाद-स्पर्श से अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और बोले—"किस निर्लज्ज ने मेरा पाद-स्पर्श किया है?"

पन्थक विनय पूर्वक बोला—"भगवन। मैं पन्थक हूं। मैंने चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में आप देवानुप्रिय को खमाने के लिए मस्तक से आपके चरण-स्पर्श किये हैं। आप मुझे क्षमा करें। मैं पुनः ऐसा अपराध नहीं करूंगा।"

पन्थक अनगार की बातें सुन शैलक राजर्षि के मन में इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न हुआ—"मैं राज्य का परित्याग कर अनगार बना हूं। मुझे अवसन्न-विहारी पार्श्वस्थ विहारी बनकर रहना नहीं कल्पता। अतः मैं प्रातः मण्डुक राजा से पूछकर विहार कर दूंगा।"

शैलक राजर्षि ने प्रातः पन्थक अनगार को साथ ले विहार कर दिया।

अन्य अनगारों ने जब यह सुना कि शैलक राजर्षि ने जनपद विहार किया है तो वे भी आकर उनसे मिल गये और उनकी पर्युपासना करने लगे।

★

कथा—२१ :

पुण्डरीक-कुण्डरीक कथा [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ९ गाथा ३६ (पृ० ५६) के साथ है]

पूर्व महाविदेह के पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिनी नामक नगरी थी। उसमें महापद्म नामक राजा राज्य करता था। उसके पुण्डरीक और कुण्डरीक नाम के दो पुत्र थे। महापद्म ने अपने ज्येष्ठ पुत्र पुण्डरीक को राजगद्दी पर बैठाकर पुण्डरीक को युवराज बनाया और स्वयं धर्मघोष आचार्य से प्रव्रज्या ग्रहण कर तप संयम में विचरने लगे।

एक समय महापद्म मुनि विचरण करते हुए पुण्डरीक नगर में पधारे। उनकी वाणी सुनकर पुण्डरीक ने श्रावक के बारह व्रत धारण किये और कुण्डरीक ने दीक्षा ग्रहण कर ली। कुण्डरीक मुनि ग्रामानुग्राम विहार करने लगे। अन्त-प्रान्त और रूक्ष आहार करने से उनके शरीर में दाह ज्वर उत्पन्न हुआ। विहार करते हुए वे पुण्डरीक नगरी पधारे। पुण्डरीक राजा ने मुनि की चिकित्सा करवाई जिससे पुन स्वस्थ हो गये। उनके स्वस्थ हो जाने पर साथवाले मुनि तो विहार कर गये किन्तु कुण्डरीक वहीं रह गए। उनके आचार विचार में शिथिलता आगई। यह देखकर पुण्डरीक राजा ने मुनि को समझाया। बहुत समझाने से मुनि वहाँ से विहार कर गये। कुछ समय तक स्थविरों के साथ विहार करते रहे किन्तु बाद में शिथिल होकर पुन अकेले हो गये और विहार करते हुए पुण्डरीक नगर आ गये। राजा ने मुनि को पुनः समझाया किन्तु उन्होंने एक भी न सुनी और राजगद्दी लेकर भोग भोगने की इच्छा प्रकट की। पुण्डरीक ने कुण्डरीक के लिए राजगद्दी छोड़ दी और स्वयं पंच मुष्टि लोचकर प्रव्रज्या ग्रहण की। 'भगवान् को वन्दन-नमस्कार के पश्चात ही मैं आहार पानी ग्रहण करूँगा'—ऐसा कठोर अभिग्रह लेकर पुण्डरीक ने वहाँ से विहार किया। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए भगवान् की सेवा में पहुँचे। उनके पास पहुँच उन्होंने पंच महाव्रत ग्रहण किये। स्वाध्याय-ध्यान से निवृत्त होकर पुण्डरीक मुनि आहार के लिए निकले। ऊँच-नीच-मध्यम कुलों में पर्यटन करते हुए निर्दोष आहार प्राप्त किया। आहार रूक्ष अन्त-प्रान्त होने पर भी उन्होंने उसे शान्त भाव से खाया जिससे उनके शरीर में दाह-ज्वर की बीमारी हो गई। अर्ध-रात्रि के समय उनके शरीर में तीव्र वेदना हुई। आत्म-आलोचना तथा प्रतिक्रमण कर उन्होंने संथारा ग्रहण किया। इस तरह बड़े शान्त भाव से उन्होंने देह को छोड़ा। मरकर वे सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए। कालान्तर में महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध गति को प्राप्त करेंगे।

उधर राजगद्दी पर बैठकर कुण्डरीक कामभोगों में आसक्त होकर अति पुष्ट और कामोत्तेजक पदार्थों का अतिमात्रा में सेवन करने लगा। वह आहार उसे पचा नहीं। अर्ध रात्रि के समय उसके भी शरीर में तीव्र वेदना होने लगी। आर्त रौद्र ध्यान युक्त मरकर वह सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ। परिणाम से अधिक आहार करनेवाले की ऐसी ही अधोगति होती है। अतः परिमाण से अधिक आहार नहीं करना चाहिए।

★

---

[1]—ज्ञातासूत्र अ० १९ के आधार पर

परिशिष्ट—ख

आगमिक आधार

आधार—११

बम्भचेरसमाहिठाणा

[उत्तराध्ययन अ० १६]

[इस ग्रंथ के प्रणेता आचार्य भिक्षुजी ने दो स्थलों पर स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि उनकी इस कृति का आधार उत्तराध्ययन का १६ वाँ अध्ययन 'ब्रह्मचर्यसमाधि स्थानक' है। टिप्पणियों में इस अध्ययन के कतिपय अंश यथास्थान सानुवाद दिये गये हैं। पाठकों की जानकारी के लिए समूचा अध्ययन यहाँ उद्धृत किया जाता है।]

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिन्दिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।

कयरे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिन्दिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।

इमे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरठाणा पन्नत्ता जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिन्दिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा। त जहा—विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे। नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थिपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थिपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे ॥ १ ॥

नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा ॥ २ ॥

नो इत्थीणं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा ॥ ३ ॥

नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोएमाणस्स निज्झायमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोएज्जा निज्झाएज्जा ॥ ४ ॥

नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेत्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा

छमेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा ॥ ५ ॥

नो निग्गन्थे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरेज्जा ॥ ६ ॥

नो पणीयं आहारं आहारित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु पणीयं आहारं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पणीयं आहारं आहारेज्जा ॥ ७ ॥

नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु अइमायाए पाणभोयणं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए पाणभोयणं आहारेज्जा ॥ ८ ॥

नो विभूसाणुवाई हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवाई हविज्जा ॥ ९ ॥

नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु सद्दरूवगन्धफासाणुवाइस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई भवेज्जा से निग्गन्थे। दसमे बम्भचेरसमाहिठाणे हवइ ॥ १० ॥

भवन्ति इत्थ सिलोगा। तं जहा—

जं विवित्तमणाइण्णं रहियं इत्थिजणेण य।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा आलयं तु निसेवए ॥ १ ॥
मणपल्हायजणणी कामरागविवड्ढणी।
बम्भचेररओ भिक्खू थीकहं तु विवज्जए ॥ २ ॥
समं च संथवं थीहिं संकहं च अभिक्खणं।
बम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए ॥ ३ ॥
अंगपच्चंग संठाणं चारुल्लवियपेहियं।
बम्भचेर रओ थीणं चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥ ४ ॥
कूइयं रुइयं गीयं हसियं थणियकन्दियं।
बम्भचेररओ थीणं सोयगिज्झं विवज्जए ॥ ५ ॥

हासं किड्डं रइं दप्पं सहसावित्तासियाणि य।
बम्भचेररओ थीणं नाणुचिन्ते कयाइ वि॥ ६॥
पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं।
बम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए॥ ७॥
धम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा बम्भचेररओ सया॥ ८॥
विभूसं परिवज्जेज्जा सरीरपरिमण्डणं।
बम्भचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए॥ ९॥
सद्दे रूवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए॥ १०॥
आलओ थीजणाइण्णो थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं तासिं इन्दियदरिसणं॥ ११॥
कूइयं रुइयं गीयं हासभुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च अइमायं पाणभोयणं॥ १२॥
गत्तभूसणमिट्ठं च कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा॥ १३॥
दुज्जए कामभोगे य निच्चसो परिवज्जए।
संकाठाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं॥ १४॥
धम्मारामे चरे भिक्खू धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरए दन्ते बम्भचेरसमाहिए॥ १५॥
देवदाणवगन्धव्वा जक्खरक्खसकिन्नरा।
बम्भयारिं नमंसन्ति दुक्करं जे करन्ति तं॥ १६॥
एस धम्मे धुवे निच्चे सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण सिज्झिस्सन्ति तहावरे॥ १७॥
त्ति बेमि॥

★

आधार—१

पमायट्ठाण

[उत्तराध्ययन अ० ३२]

[उत्तराध्ययन के १६ वें अध्ययन के अतिरिक्त उत्त० अ० ३२ तथा दशवैकालिक अ० ८ में भी शीलसमाधि के स्थानों का निरूपण है। सम्बन्धित स्थलों को उद्धृत किया जाता है।]

रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥ १० ॥
जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई ॥ ११ ॥
विवित्तसेज्जासणजन्तियाणं ओमासणाणं दमिइन्दियाणं ।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥ १२ ॥
जहा बिरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥ १३ ॥
न रूवलावण्णविलासहासं न जम्पियं इङ्गियपेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥ १४ ॥
अदंसणं चेव अपत्थणं च अचिन्तणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं हियं सया बम्भवए रयाणं ॥ १५ ॥
कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं न चाइया]खोभइउं तिगुत्ता ।
तहा वि एगन्तहियं ति नच्चा विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥ १६ ॥
मोक्खाभिकङ्खिस्स उ माणवस्स संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥ १७ ॥
एए य संगे समइक्कमित्ता सुहुत्तरा चेव भवन्ति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता नई भवे अवि गंगासमाणा ॥ १८ ॥
कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि तस्सन्तगं गच्छइ वीयरागो ॥ १९ ॥
जहा य किंपागफला मणोरमा रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा एओवमा कामगुणा विवागे ॥ २० ॥
जे इन्दियाणं विसया मणुन्ना न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।
न यामणुन्नेसु मणं पि कुज्जा] समाहिकामे समणे] तवस्सी ॥ २१ ॥

★

रमणि रूप इम वरणवी रे माल विषै मन रंग ।
मुगध लोकनाई रीझवइ रे वाघइ अंग अनग रे प्रा० ॥ ४ ॥
अपवित्र मलनी कोठली रे कलह काजल नो ठाम ।
बारह स्रोत वहै सदा रे चरम दीवड़ी नाम रे प्रां० ॥ ५ ॥
देह उदारिक कारिमी रे पिण में भंगुर थाइ ।
सत धातु रोगाकुली रे जतन करंतां जाय रे प्रां० ॥ ६ ॥
चाखे चौपड वाणीयै रे देखें दीठी जाय ।
ते पिण पिण में विणसीयो रे रूप अनित्य कहाय रे प्रां ॥ ७ ॥
नारि कथा विकथा कही रे जिनवर चौथे[१] अंग ।
अनरथ दंड अंग सातमे रे कहै जिनहरख प्रसंग रे प्रां ॥ ८ ॥

दूहा

ब्रह्मचारी जोगी जती न करे नारि प्रसंग ।
एकण आसन बइसतां थाय व्रत नो भग रे ॥ १ ॥
पावक गाले लोहनई जो रहै पावक संग ।
इम जांणी रे प्राणीया तजि आसण त्रियरंग ॥ २ ॥

ढाल ४

(वे सौदागर काक चक्कम व देखु पडूची)

तीजी वाडि हियै चित्त विचारौ नारि सहित बइसवौ निवारौ लाल ।
एकइ आसण काम दीपावै चौथा व्रत नै दोष लगावै लाल ती० ॥ १ ॥
इम वैसंतां आसंगो थावै आसंगै काया फरसावै रे लाल ।
कया फरस विषै रस जागै तेहथी अवगुण थावै आगै लाल ती ॥ २ ॥
जोवौ श्री सिभूत प्रसिद्धौ तन फरसैं नीयाणौ कीधौ लाल ।
ब्रह्मदत्त चक्र अवतरीयौ विठौ प्रतिबोध तेहनें दीधौ लाल ती ॥ ३ ॥
तेहनें उपदेश[२] न लागौ विरतन कामर थई भागौ लाल ।
सातमी नरक तणा दुख सहीया स्त्री फरसैं अवगुण इम कहीया लालती० ॥ ४ ॥
काम विराम कहै दुख पांमी, नरक तणो साखी रहिनांणी लाल ।
एकइ आसण दूषण जांणी परिहरि निज आतम हित आंणी लाल ती० ॥ ५ ॥
माय बहिन जो बेटी थायै ते बैसी उठी जायैं लाल ।
कल्प एकण मुहूरत पाछे बेसवो जिनहरख इ आख्यु लाल ती ॥ ६ ॥

दूहा

चित्र लिखित जे पूतली ते जोएवी नांहि ।
केवलज्ञानी इम कहै दसवैकालिक मांहि ॥ १ ॥
नार देख नरपति थयौ चपुकुसील कहाय ।
सब सब चोथी वाडि तजि सुकमीयउ[३] कबी राय ॥ २ ॥

---

१ चौथे २—उपदेश केस ३—सकीयउ

ढाल ५

(मोहन मुंदरी ले गयो ए देशी)

मनहरि इंद्री नारि ना दीठां वध विकार ।
वागुर[1] कामी मृग भणी हो पास रच्यौ करतार ॥ १ ॥
सुगुण रे नारी रूप न जोईयै [2]जोईय वधि राग सु० ।
नारी रूप दीवलो कामी पुरुष पतंग ।
मांपे सुप नें कारणें हो दाझै अंग सुरंग सु० ना ॥ २ ॥
मनगमता रमता हीय[3] उर कुच वदन सुरंग ।
तहर मह्हर[4] जोगी हुया हो जोवंतां व्रत भंग सु० ना ॥ ३ ॥
कामविकारी कामनी इण जीतौ सयल ससार ।
अपी अमीय न को रह्यो हो सुरनर गया सहू हार सु० ना० ॥ ४ ॥
हाथ पाव छेद्या हुय कान नाक पिण जेह ।
ते पिण सो वरसां तणी हो ब्रह्मचारी तजै तेह सु० ना० ॥ ५ ॥
रूपे रंभा सारिखी मीठा बोली नारि ।
तौ जिम जोव एहवी हो भग योवन व्रत धारि सु ना० ॥ ६ ॥
अवस्था इंद्री जोवतां मन थाय वसि प्रम ।
राजमती देपी करी हो तुरत डिग्यो रहनेमि सु० ना ॥ ७ ॥
रूप कूप देपी करी माहि पडे मतिमंद ।
दुप मांणें जोमें मरी हो कहै जिनहरप प्रबंध सु० ना० ॥ ८ ॥

दूहा

संयोगी पासै रहै ब्रह्मचारी निसदीस ।
कुशल न तेहनां व्रत भणी[7] भाजे बिसवावीस ॥ १ ॥
वसी मही कुडि अतरै सीत तणे हुवइ हांणि ।
मन चंचल वसि रापवा ह्रिय धरी जिन वांणि ॥ २ ॥

ढाल ६

(श्री चन्दा प्रभु पाहुणौ रे एदेशी)

चाडि हिर्वे सुण पंचमी रे सील तणी रपवाल रे ।
कूरी पड़सी तो सही रे व्रत थामी बिसराल रे वा० ॥ १ ॥
परीसहु भीतनें अतरै रे नारि रहै तिहां रात रे ।
केलि करै[1] निज कत सुं रे विषइ भरी ई मात रे वा ॥ २ ॥
कोयल जिम कुहू कैरवै रे[2] गावै मधुरै साद रे ।
मन्मांकी राती थकी रे सुरत सरस उनमाद रे वा० ॥ ३ ॥
रोवै विरहाकुल थई रे दाषी दुपसन मद्दन रे[4] ।
दीपे हीणे बोलई रे वम[5] अगाध बात रे वा० ॥ ४ ॥

१—वागुर —जोव वधी धर रंग ३—हीय ४—भर ५—हो ६—कन्द
७—सुरत करइ रे ८—म ९—सुरत करावन रे १ —विरह

मयम वसे हलहल हसे रे प्रिय मेटो तनु ताप रे।
बात करे तन मन हरै रे विरुप करै विलाप रे बा० ॥ ५ ॥
राग बिधे सुणि हुल्सै रे हासे भनरथ दाः रे ।
रावणि घरणि हासा थकि रे रावण बध थयो जोय रे बा० ॥ ६ ॥
ब्रह्मचारी नवि सांभलै रे एहवा विरही बेण रे ।
कहे जिनहरप *गीरम दृढ़े रे चित्त चलै सुणि वैण रे बा० ॥ ७ ॥

दूहा

छट्ठी बाडे इम कह्यो चंचल चित्त म डिगाय ।
पाधौ पीधौ बिलसीयौ रे तिण सूं चित म लगाय ॥ १ ॥
काम भोग सुख प्रारथ्या मारे नरक निगोद ।
परनिध तौ कहिवी किसुं बिलसी जेह बिनोद ॥ २ ॥

ढाल ७

(काज सिधेको रे शीलव वाहणी एहनी)

मर जोबन धन सामग्री सही पामी अनुपम भोग ।
पाचे छट्ठी नें बसि भोगव्या पाचे भोग संजोग म ॥ १ ॥
ते चीतारे ब्रह्मचारी नहीं चुरि भोगवीया सुख ।
आसीविस विससाल समोपमा चीतारया दे दुख म ॥ २ ॥
सेठ माकंदी अगज जाणीय जिणरखत इण नाम ।
जक्ष तणी सिख्या सहु वीसरी व्यामोहित वसि काम म० ॥ ३ ॥
रयणा देवी सम मुख जोईयै पूरब प्रीत संभार ।
ते भाषी तरबारें बीधीयौ नाख्यौ जलधि मझार म० ॥ ४ ॥
जोयौ जिनपालित पछित थयौ न कीयौ तास वेसास ।
मूल्यौ पिण प्रीति न मन धरी सुख संयोग विलास म ॥ ५ ॥
सलमा जन्मी तस पिण उमगो मिलीयौ निज परिवार ।
कहै जिनहरप म पूरव बिलसीया समारै नरनार म ॥ ६ ॥

दूहा

पाख्य पारा धरधरा मीठा भोजन जेह ।
मधुर मोल कसायगा रसना सहु रस सेह ॥ १ ॥
जेहुन नी रसना बसि नहीं चाहै सरस आहार ।
ते पामै दुख प्राणीयौ चौगति रुलै संसार ॥ २ ॥

ढाल ८

(चरणाली चामुंड रण चढे एहनी)

ब्रह्मचारी सुणि बातड़ी निज मानस हित जाणी रे ।
चाहि म भाजे सामग्री सुणि जिनवर नी वाणी रे ब्र० ॥ १ ॥

१—दौर —राम ३—गीरिम दृढ़ है जिन का सदु मन है

ढाल : १०

(बीरा वाहुबल मी)

सोभा न करै देहनी न करै तन सिणगार ।
उगटणा पीठी बली न करै किण ही वारो रे ।
सुणि चेतन सुणि तूं मोरी सीखड़ी हो नें सीय करूं हितकारो रे सु० ॥
उन्हा ताढा नीर सु न करै अंग अंघोल ।
केसर चंदन कुकुमै पांते न करइ घोलो रे सु० ॥ १ ॥
बगमोला में उजला न करै वस्त्र वणाव ।
बारे कांम महा वली चौथा [२]व्रत नें बाधी रे सु० ॥ २ ॥
कांकण कुंडल मुद्रडी मोला[४] मोतीआं हार पहिरै नही ।
सोभा भणी[५] ते बाधै व्रतधारो रे ॥ सु० ३ ॥
काम दीपक[६] सिणगार कह्या भूषण दूषण एह ।
अग विभूषा टाल्मी कहै जिनहरष सनेहो रे सु ॥ ४ ॥

ढाल ११

(आप सवारथ जग सहू रे बहनी)

श्री वीर वोइ दस परखदा में उपदिस्या इम सील ।
जे पालसु मन बाडि सुं ते लहिसी हो शिव संपद लील ॥ १ ॥
सील सदा तुम सेवज्यो रे फल जेह मो हो अति सरस अवीच ।
आठ करम[७] हणी रे ते पामै हो ततखिण सुधीण सी ॥ २ ॥
जम[८] जलण अरि करि केसरी भय जाय सगला भाजि ।
सुर असुर नर सेवा करै मन वंछित हो सीझै सहु काम[९] सी० ॥ ३ ॥
जिन भुवन नीपावै नवी कंचण तणों नर कोइ ।
सोवन तणी कोइ कोडि द्य[१०] सील सम वडि हो तो ही पुण्य न होय सी० ॥ ४ ॥
नारि में दूषण नर कह्यो तिम नारि थी नर दोष ।
एकवडि सिहुं में सारिखी पालेसी हो मन करीय संतोष सी० ॥ ५ ॥
निधि नयण सुरस [१२] माधवि बीज आलस छांडि ।
जिन हरष दृढ व्रत पालिज्यो व्रत धारी हो कुगती मत वाडि सी ॥ ६ ॥

इति श्री नववाडि सुद्ध सील विषये चतुष्पदी समाप्तः । सं १८५४ वर्षे मिती चेत वदि ८ दिने लिपतं विक्रमपुर मध्ये गुरुवारे रि । पं सुगुणप्रमोदमुनिः लिपि कृतं ॥ श्रीः ॥ ६ ॥ श्रीरस्तु ॥ श्री ः ॥ प । महिमा प्रमोद मुनि हुकुम किया जिद लिप दीमो ॥ श्री ॥ ६ ३ ॥ कल्याणमस्तु ॥ सुभं भवतु ।

●

१—सुणि सुणि २—चतन चेतन ३—चौथा व्रत नौ बाधो रे ४—माला ५—सो परिहरइ नही सोभा भणी ६—दीपन ७—करम अरियण ८—जपधोण ९—जल १०—काम ११—कोडि १२—र बाडि १३—हर सखि

परिशिष्ट—घ

पुस्तक-सूचि

कृति	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
अकेलो जाने रे (१९५४)	मनु बहन गांधी	नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद
अथर्ववेद	सं० श्रीराम शर्मा आचार्य	गायत्री प्रकाशन मथुरा
अनगारधर्मामृतम् (प्र० भा०)	पं० आशाधरजी	श्री माणिकचन्द-दि० ग्रन्थ० समिति बम्बई
अनीति की राह पर (१९४७)	महात्मा गांधी	सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली
अमृतवाणी (१९४५)	म० गांधी अनु० श्री रामनाथ 'सुमन'	साधना-सदन, इलाहाबाद
आचार्य सन्त भीखणजी	श्रीचन्द रामपुरिया	हमीरमल पूनमचन्द रामपुरिया सुजानगढ़
आचाराङ्ग सूत्र	अनु० मुनि श्री सौभाग्यमलजी	श्री जैन साहित्य समिति उज्जैन
आचाराङ्ग (निर्युक्ति टीकायुक्त)		श्री सिद्धचक्र साहित्य प्र०स० बम्बई
आत्मकथा (१९४०)	महात्मा गांधी	नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद
आरोग्य की कुञ्जी (१९५८)		
आरोग्य साधन (१९५०)		हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता
उत्तराध्ययन (नेमिचन्द्र टीकायुक्त)		पूनमचन्द खीमचन्द, वलाद
उत्तराध्ययन सूत्र नी चोरासी कथाओ	जीवनलाल छगनलाल सघवी	जीवन० छगन० अहमदाबाद
उत्तराध्ययनसूत्रम्	जे शार्पेन्टियर	उपसाला
उपदेश माला (१९२३)	श्री धर्मदास गणि	मास्टर उमेदचद रायचद, अहमदाबाद
उपासगदसाओ	अनु० एन ए गोर, एम ए	ओरियन्टयल बुक एजेन्सी पूना
एकला चलो रे (१९५७)	मनु बहन गांधी	नव० प्र० म० अहमदाबाद
औशनसस्मृति (स्मृति-संदर्भ तृ० भा०)		श्री मनसुखराय मोर, कलकत्ता
ऋग्वेद संहिता	सं० सातवलेकर	स्वाध्याय-मण्डल पारडी सूरत
औपपातिक सूत्रम्	सं० एन जी सुरू एम ए	पूना
कार्यकर्ता-वर्ग	विनोबा भावे	अखिल भारत सर्व सेवा-संघ काशी
गांधी और गांधीवाद (विवरण पत्रिका वर्ष ८ अंक ८)	श्रीचन्द रामपुरिया	जैन श्वे० तेरापन्थी महासभा कलकत्ता
गान्धी-वाणी (१९५२)	सं० श्री रामनाथ 'सुमन'	सा० स० इलाहाबाद
गीता		गीता प्रेस गोरखपुर
गौतम धर्मसूत्र		आनन्द धर्म प्रेस
ज्ञाताधर्मकथाङ्ग	स० आचार्य श्री चन्द्रसागरसूरि	श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक स० बम्बई
ज्ञानार्णव	मुनि शुभचन्द्र	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई
चरकसंहिता	जयदेव विद्यालंकार	मोतीलाल बनारसीदास बनारस
चर्पट पञ्जरी	श्रीमद् शंकराचार्य	मगाव बुकडिपो वाराणसी
छान्दोग्योपनिषद्		गीता प्रेस गोरखपुर
जाबालोपनिषद्		निर्णय सागर प्रेस बम्बई
जैन तत्त्व प्रकाश (द्वि० भाग)	सं० छोगमल चोपड़ा बी ए बी एल	जै० श्वे० तेरा० महासभा

कृति	लेखक, अनुवादक सम्पादक	प्रकाशक
जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्य (१९११)	प्रा० सुखलाल संघवी अ० केशरदास दोसी	गूर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय अहमदाबाद
जैन भारती (१९५१)	सं० श्रीचन्द रामपुरिया	जै० श्वे० तेरा० महासभा, कलकत्ता
तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) भा० १ २	अकलङ्कदेव सं० पं० महेन्द्र कुमार जैन एम ए	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (सभाष्य)	श्रीमदुमास्वाति अनु० पं० खूबचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	श्री परमश्रुत प्रभावक जैनमण्डल बम्बई
तत्त्वार्थवृत्ति	श्री श्रुतसागरसूरि	भा० ज्ञा० काशी
तत्त्वार्थ सूत्र (गुजराती)	पं सुखलालजी	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि	सं० पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	भा० ज्ञा० काशी
तैत्तिरीय संहिता		
त्यागमूर्ति अने बीजा लेखो (१९४५)	महात्मा गांधी	नव० प्र० म० अहमदाबाद,
दक्षस्मृति		
दसवेआलियं सुत्त	सं डॉ० ल्यूमैन अनु० डॉ ल्यूमिंग	सेठ आनन्दजी कल्याणजी, अहमदाबाद
दसवैकालिक सूत्र	अनु प्रा० अभ्यंकर, एम. ए	अहमदाबाद
दशाश्रुतस्कन्ध	अनु आ श्री आत्मारामजी	जैन शास्त्रमाला कार्यालय लाहौर
दीघ-निकाय	अनु० भिक्षु राहुल सांकृत्यायन	महाबोधि सभा सारनाथ (बनारस)
The wonder that was India	ए० एल बाशम बी ए०, पीएच डी	सिडविक एण्ड जैक्सन लन्दन
The sayings of Muhammad	सर अब्दुल सुराहर्वी	सर हसन सुराहर्वी कलकत्ता
दृष्टान्त और कथाएं	श्रीचन्द रामपुरिया	जै श्वे० तेरा० महासभा, कलकत्ता
धर्ममंथन (१९२९)	महात्मा गांधी	नव प्र मं० अहमदाबाद
नवजीवन (२८।७।१९)		नव० प्र० मं० ,,
नायाधम्मकहाओ	सं प्रो० एन वी वैद्य	पूना
निशीथसूत्रम्(सभाष्य चूर्णि) (चार भाग)	सं० मुनि अमरचन्दजी	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
पथ और पाथेय	आचार्य श्री तुलसी (सं० मुनि श्रीचन्द्र)	सेठ चाँदमल बांठिया ट्रस्ट
पातञ्जल योगसूत्र	अनु रामाप्रसाद, एम ए	पाणिनी आफिस इलाहाबाद
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	श्री अमृतचन्द्रसूरि अनु श्री नाथूराम प्रेमी	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल बम्बई
प्रश्नव्याकरण	अनु मनिश्री हस्तिमलजी	श्री हस्तिमलजी सुराणा, पाली

कृति	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
प्रश्नोपनिषद्	अनु० नारायण स्वामी	सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा देहली
ब्रह्मचर्य (१९४९)	श्रीचन्द रामपुरिया	जै० श्वे० तेरा० महासभा
ब्रह्मचर्य (१९४९) (महा० गांधी के विचारों का दोहन)	सं० श्रीचन्द रामपुरिया	"
ब्रह्मचर्य (प्र० भा० १९५७)	महात्मा गांधी	सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली
" (द्वि० भा० १९५७)	"	"
बापू की छाया में (द्वि० आ०)	श्री बलवन्तसिंह	नव० प्र० मं० अहमदाबाद
बापुना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने	महात्मा गांधी	"
बृहत्कल्प सूत्र	सं० श्री पुण्य विजयजी	श्री आत्मानन्द जैन सभा भावनगर
बृहदारण्यकोपनिषद्		गीता प्रेस गोरखपुर
बौधायन सूत्र		
भगवती सूत्र	पं० भगवानदास हरखचंद दोशी	जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद
भगवान महावीरनी धर्मकथाओ	अनु० अ० बेचरदास दोशी	गूजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
भागवत		गीता प्रेस गोरखपुर
भारतीय संस्कृति का विकास (प्र० ख० वैदिक धारा)	डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री एम ए डी फिल. (ऑक्सन)	समाज विज्ञान परिषद्, बनारस
भिक्खु दृष्टान्त	श्रीमज्जयाचार्य	जै० श्वे० तेरा० महासभा
भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १ १९६०) (ख २, १९६०)	स० आचार्य श्री तुलसी	
भिक्षु-विचार दर्शन (१९६०)	मुनि श्री नथमलजी	"
मंगल प्रभात (१९५२)	महात्मा गांधी	स० सा० मं० नई दिल्ली
Mahatma Gandhi— The Last Phase vol. I	श्री प्यारेलालजी	नव० प्र० मं० अहमदाबाद
" vol. II		
मनुस्मृति (१९५४)	अनु० पं० जनार्दन झा	हि० पु० ए० कलकत्ता
महादेव भाई की डायरी (प० भाग)	सं० नरहरि द्वा० परीख	नव० प्र० मं० अहमदाबाद
(द्वि० भा० ती० भा०)	अनु० रामनारायण चौधरी	
मांडूक्योपनिषद्	अ० भगनभाई प्रभुदास देसाई	गूजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
My days with Gandhi (1951)	श्री निर्मल कुमार बोस	इण्डियन एसोसियेटेड पब्लिशिंग कं० लि० कलकत्ता
मुण्डकोपनिषद्	अ० भगनभाई प्रभुदास देसाई	गूजरात विद्यापीठ अहमदाबाद
योग शास्त्र	आचार्य हेमचन्द्र सूरि	[illegible]
रामनाम	महात्मा गांधी	नव० प्र० मं० अहमदाबाद

कृति	लेखक अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
वसिष्ठ स्मृति (स्मृति-सन्दर्भः द्वि० भा०)		श्री मनसुखराय मोर, कलकत्ता
विनय पिटक	अनु० पं० राहुल सांकृत्यायन	महाबोधि सभा सारनाथ (बनारस)
विनोबा के विचार (प्र० भा० १९५७) (द्वि० भा० १९४६)	श्री विनोबा	स सा० मं०, नई दिल्ली
विवरण पत्रिका (वर्ष ८ अ ८)		जै० श्वे० तेरा महासभा
विसुद्धिमग्ग	अनु० भिक्षु धर्मरक्षित	महाबोधि सभा सारनाथ (वाराणसी)
बिहारनी कोमी आगमां (१९५६)	मनुबहेन गांधी	नव० प्र० मं० अहमदाबाद
वैराग्य मंजरी		ओसवाल प्रेस कलकत्ता
व्यापक धर्मभावना	महात्मा गांधी	नव प्र मं० अहमदाबाद
सत्याग्रह आश्रम का इतिहास (१९४८)	"	"
सप्तमहाव्रत अहिंसा (सं० १९८७)		गीता प्रेस गोरखपुर
समवायाङ्ग	अनु० शास्त्री जेठामल हरिभाई	श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, कलकत्ता
सर्वोदय दर्शन (१९५८)	दादा धर्माधिकारी	अखिल भारत सर्व-सेवा संघ, वर्धा
St. Matthew	(कींग जेम्स वर्झन)	दी जॉन सी विन्स्टन कं० शिकागो
सुत्तनिपात	अनु० भिक्षु धर्मरत्न एम ए	महाबोधि सभा सारनाथ
सूत्रकृताङ्ग		आगमोदय समिति
सूत्रकृताङ्ग	सं० अम्बिकादत्तजी ओझा	बाबू भत्रमलजी गंगारामजी बेंगलोर
Self Restraint V Self Indulgence	महात्मा गांधी	नव प्र० मं० अहमदाबाद
स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग) (सं० १९९४) (भा बीजो)		सेठ माणेकलाल चुनीलाल अहमदाबाद
स्त्री और पुरुष (१९३२)	संत टॉल्स्टॉय अनु० वैजनाथ महोदय	स० सा मं० नई दिल्ली
स्त्री-पुरुष-मर्यादा	कि घ मशरूवाला	नव प्र मं० अहमदाबाद
संयम शिक्षा (१९३१)	महात्मा गांधी	
संयम अने संतति नियमन (१९५१)	"	"
संयुत्त-निकाय	अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप भिक्षु धर्मरक्षित	महाबोधि सभा, सारनाथ बनारस
सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट	स बुहर	
	प्र एफ मैक्समूलर	क्लेरेन्डन प्रेस ऑक्सफोर्ड
श्रमण (वर्ष १ अङ्क १)	सं० कृष्णचन्द्राचार्य	श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस

(ह)

कृति	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
Harijan (जून ८ १९४७)		नव० प्र० मन्दिर अहमदाबाद
हरिजन सेवक (२७-९ '३५)		,,
हरिभद्रसूरि ग्रन्थ-संग्रह (१९१९)		जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा अहमदाबाद
History of Dharmasastra	महामहोपाध्याय पा० वामन काणे	भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स०, पूना